पदार्थ-विज्ञान

(संशोधित तथा परिवर्द्धित)

लेखक

आयुर्वेद-चक्रवर्ती

आ० वृ० पं० रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य

भूतपूर्व आयुर्वेद-परामर्शदाता, श्रीलंका-सरकार,

भूतपूर्व निदेशक, अन्तर्राष्ट्रीय भण्डारनायक

अनुस्मारक आयुर्वेद-शोध-संस्थान, नाविन्न

(श्रीलंका),

अवै० निदेशक, पं० रामदयाल जोशी आयुर्वेद-शोध-संस्थान,

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०, पटना–१

श्री **वैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

कलकत्ता * पटना * झाँसी * नागपुर * नैनी (इलाहाबाद)

चतुर्थ संस्करण

अक्टूबर, १९७०

मूल्य ६)

प्रकाशक

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

वैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१

मुद्रक : नरेन्द्र भार्गव

भार्गव भूषण प्रेस, त्रिलोचन, वाराण

समर्पणम्

श्रीयुत वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

आयुर्वेद-सुधा-पयोधि मथन व्यापार मन्थाचल ।
तत्तच्छास्त्र दुरूहसंशयनिशा नाशाय भासां विधे ।।
विद्वद्वृन्द मिलिन्द वन्द्यचरण ! **श्री यादव त्रीकमा-**
भिख्याख्यात गुरो ! तवांघ्रियुगलेऽसौ भातु मुक्तावली ।।

—रामरक्ष पाठक

प्राक्कथन

संसार के समस्त विज्ञान जिस तरह भाव-स्वभावों के विशिष्ट प्रकार के वर्गीकरण पर अथवा अन्वय-व्यतिरेक पर अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं, उसी तरह आयुर्वेद भी अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। दूसरी भाषा में इसे यों कह सकते हैं कि आयुर्वेद-शास्त्र भी अपने विशेष प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्त पर अवलम्बित है। किसी शास्त्र के अध्ययन करने के पहले उस शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों तथा उन सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि का ज्ञान परमावश्यक है। अतः इस **'पदार्थ-विज्ञान'** नामक पुस्तक में आयुर्वेद के उक्त मूलभूत दार्शनिक सूत्ररूपेण निर्दिष्ट सिद्धान्तों की गूढ़ ग्रन्थियों को उद्घाटित करने तथा उन सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि को दर्शाने का प्रयत्न किया गया है।

विधाता की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि मानव है और मानव इहलोक में पुरुषार्थ-प्राप्ति के लिए स्वभावतः ही प्रवृत्त होता है। पुरुषार्थ-प्राप्ति के लिए दीर्घायु की आवश्यकता है और दीर्घायु आरोग्य के संरक्षण से ही प्राप्त हो सकती है। अग्निवेशादि शिष्यों को भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने इसीलिए सर्वप्रथम 'दीर्घजीवन' जिज्ञासा का उपदेश दिया और साथ ही पुरुषार्थ-प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय आरोग्य-संरक्षण बतलाया। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का आरोग्य ही मूल कारण है—ऐसा उपदेश किया[1]। आयुर्वेद-शास्त्र का उद्देश्य तथा प्रयोजन उक्त आरोग्य-संरक्षण के साथ-साथ आर्त्तजनों को अर्त्ति से मुक्त करना भी है[2]। उक्त उभय कार्य सम्पादनार्थ विभिन्न गुण-कर्मवाले द्रव्यों की आवश्यकता होती है। इन विविध द्रव्यों के अन्दर रहनेवाले गुण-कर्म एकजातीय तथा विजातीय दोनों तरह के होते हैं और ये गुण-कर्म द्रव्य के अन्दर किसी विशेष सम्बन्ध से ही रहा करते हैं। अतः आरोग्य-संरक्षण तथा अर्त्तिनाशन के लिए दीर्घायु सिद्धान्त के जिज्ञासुओं को गुण-कर्म-सम्पन्न द्रव्यों के सामान्य गुण, सामान्य कर्म, विशेष गुण, विशेष कर्म तथा द्रव्यगत गुण-कर्मों के नित्य सम्बन्ध (समवाय) आदि का विशेष ज्ञान होना परमावश्यक है।

मानव-सृष्टि के आदि काल में राग-द्वेषादि मानसिक विषमताओं के अभाव के कारण मानव अति सुखी था। परन्तु जब मानव-सृष्टि के प्रसार के साथ-साथ उक्त मानसिक विषमताओं का भी प्रसार हुआ, तब देहधारियों के अन्दर

१—"अथातो दीर्घजीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।।"

"धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।।" —चरक सू० १

२—"स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमार्त्तस्यरोगनुत् ।" —च० चि० १

नाना प्रकार की मानसिक तथा शारीरिक आधि-व्याधियों का भी प्रादुर्भाव हुआ। इन व्याधियों के कारण जब ऋषिगण के व्रत, होम आदि आध्यात्मिक कार्यों में बाधाएँ होने लगीं, तब इन बाधाओं से बाधित होकर हिमवत्पार्श्व में इनसे मुक्ति पाने के लिए इस पर विचार-विनिमय प्रारम्भ हुआ[1]। फलस्वरूप महर्षि भरद्वाज उक्त गोष्ठी द्वारा अग्रगण्य निर्वाचित हुए और ब्रह्मा, प्रजापति और अश्विनीकुमार आदि गुरु-परम्परा से उपनीत भगवान् इन्द्र के यहाँ आयुर्वेद-ज्ञान लाभार्थ भेजे गये। महर्षि भरद्वाज ने भगवान् इन्द्र से गृहीत आयुर्वेद को अपने सभी सहकर्मी ऋषियों को यथावत् बतलाया। वही आयुर्वेद सारे मर्त्यलोक में प्राणधारियों के कल्याणार्थ गुरु-परम्परा से प्रचलित हुआ।

'आयुषोवेदः आयुर्वेदः' तथा "आयुर्विन्दति–अनेन इत्यायुर्वेदः" अर्थात् आयु का ज्ञान अथवा लाभ जिस शास्त्र के अध्ययन से हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं। आयु के ज्ञान तथा लाभ के लिए सर्वप्रथम 'आयु' क्या है, यह जानना आवश्यक है।

"शरीर जीवयोर्योगः जीवनं, तेनावच्छिन्न कालः आयुः।" —भा० मि०

अर्थात्—शरीर और जीव के योग को जीवन और इसके साथ जुटे हुए काल को 'आयु' कहते हैं। और भी—

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्य्यायैरायुरुच्यते॥ —च० सू० १

अर्थात्—शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व (मन) और आत्मा, इनके संयोग को धारि जीवित, नित्यग अनुबन्ध तथा आयु कहते हैं। ये सब आयु के पर्याय हैं। अतः आयु के ज्ञान तथा लाभ के लिए सर्वप्रथम शरीर-इन्द्रिय, मन तथा आत्मा का ज्ञान होना आवश्यक है। शरीर पंचभौतिक है। इन्द्रियाँ भी आयुर्वेद-शास्त्र में भौतिक ही मानी गई हैं[2]। अतः शरीर-ज्ञान के लिए पंचमहाभूत का ज्ञान आवश्यक है। केवल पंचमहाभूत के ज्ञानमात्र से ही आयु का ज्ञान तथा लाभ सम्भव नहीं; क्योंकि मानव केवल भौतिक नहीं है। शरीर के साथ-साथ शरीरि तथा शरीर और शरीरि को कार्मुक बनानेवाले 'मन' का भी ज्ञान होना परमावश्यक है। इसीसे भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा है—

१—'विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम्।
तपोपवासाध्ययनब्रह्मचर्यव्रतायुषाम्॥
तदाभूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः।
समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वेहिमवतः शुभे॥' —च० सू० १

२—आयुर्वेदे तु भौतिकानीन्द्रियाणि इन्द्रियार्थाश्च। —सु० शा० १

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ——च० सू० १

अर्थात्——यह लोक (कर्मपुरुष) सत्त्व (मन), आत्मा (चेतनाधातु) और शरीर (पंचमहाभौतिक) इन तीनों के त्रिदण्ड (तिपाई) के समान संयोग से खड़ा है और सब कुछ इसी में प्रतिष्ठित है। तात्पर्य यह है कि सत्त्व, आत्मा और शरीर इन तीनों के संयोग का पूर्ण ज्ञान होना ही आयु का ज्ञान है और इन तीनों के संयोग को समभाव से सर्वदा अक्षुण्ण बनाये रखना ही आयु का लाभ है। इस प्रकार आयु-ज्ञान तथा आयु-लाभ के लिए शरीर, इन्द्रिय, मन तथा आत्मा का ज्ञान एवं उनके संयोग को अक्षुण्ण रखने का उपाय ही 'आयुर्वेद' है।

आयुर्वेद-शास्त्र का सम्यक् ज्ञान तभी सम्भव है, जब आयुर्वेद के छात्रों को उनके आधारभूत सिद्धान्तों तथा उन सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि (भारतीय दर्शनों) का ज्ञान हो। यद्यपि आयुर्वेद के संहिता-ग्रन्थों में यत्र-तत्र प्रसंगवश आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों तथा उनकी पृष्ठभूमि का भी विभिन्न परिषदों में उद्धरण प्राप्त होता है तथापि ये सूत्ररूप में निर्दिष्ट होने के कारण तथा विकीर्ण होने के कारण आयुर्वेद के छात्रों को उनके ज्ञान में बड़ी कठिनाई होती है। प्राचीन काल में अध्ययनाध्यापन का ढंग आज के ढंग से बिलकुल भिन्न था। आजकल ग्रन्थ-प्रणयन का भी ढंग पहले की तरह नहीं रहा। प्राचीन काल में सब प्रकार के ज्ञानों का मूल स्रोत एक ही ज्ञान अर्थात् परमतत्त्व का ज्ञान माना जाता था और इसलिए विभिन्न ज्ञानों का दिग्दर्शन करते हुए उनके समन्वय की चेष्टा की जाती थी। यही कारण है कि आयुर्वेद के संहिता-ग्रन्थों में भी विभिन्न दर्शनों तथा सम्प्रदायों के सिद्धान्त यथास्थल आवश्यकतानुसार उद्धृत किये हुए मिलते हैं। प्राचीन काल में गुरु, शिष्यों को सर्वप्रथम जिज्ञासु बनने का उपदेश देता था। इस प्रकार जिज्ञासु शिष्य जिस विषय का ज्ञान करना चाहता था, अपना लक्ष्य उस विषय पर केन्द्रित कर अपने मन में उत्पन्न हुए विविध प्रश्नों तथा शंकाओं को गुरु के सामने रखता था और गुरु उसके उन प्रश्नों तथा शंकाओं का समुचित उत्तर देता एवं समाधान करता था। उक्त प्रश्नोत्तर एवं शंका-समाधान में प्रश्नोत्तर और शंका-समाधान का क्रम प्रधान और विषय का क्रम प्रायः गौण होता था। आजकल के शिक्षण का ढंग उक्त शिक्षणशैली के बिलकुल विपरीत है। आजकल तो गुरु को ही सभी प्रश्नोत्तरों तथा शंका-समाधानों को तैयार कर नियत समय पर विद्यार्थियों के सामने स्वयमेव कहना पड़ता है। प्राचीन काल के विद्यार्थी जिज्ञासु होते थे, अतः उनके मन में सदा तरह-तरह के प्रश्न तथा शंकाएँ अभीष्ट ज्ञान के लिए उठती रहती थीं, पर

आज के विद्यार्थी तो सदा यही चाहते हैं कि उन्हें सब कुछ उनके गुरु ही बता दें। वे स्वयं इसके ऊहापोह में पड़ना नहीं चाहते। ऐसी परिस्थिति में संहिता-ग्रन्थों के अध्ययनाध्यापन में स्वभावतः ही जो अड़चनें उपस्थित होती हैं, वे सर्वविदित हैं। आजकल के उपाध्याय तथा विद्यार्थी दोनों के सामने यह समस्या बहुत दिनों से बनी हुई है। इसी समस्या को हल करने का प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन का सारा श्रेय परम पूज्य गुरुवर **श्री वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य** को ही है, जिनकी सतत प्रेरणा से यह पुस्तक लिखी गई है। पुस्तक-प्रणयन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि संहिता ग्रन्थों में जो दार्शनिक विवेचन—सृष्टि-विज्ञान तथा अध्यात्म सम्बन्धी विवेचन यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, उनका क्रमपूर्वक समुचित संकलन हो और उनके रहस्यों का उद्-घाटन किया जाय। साथ ही यह भी दर्शाने का प्रयत्न किया है कि आयुर्वेद-शास्त्र के अध्ययन तथा व्यवहार में उनकी क्या उपयोगिता है। आयुर्वेद का क्षेत्र सृष्टि-विज्ञान तथा आध्यात्मिक-विज्ञान तक ही सीमित नहीं, वरन् जगत् के सृष्ट पदार्थों के वर्गीकरण तथा उनके गुण-धर्म का विवेचन भी आयुर्वेद का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। अतः पदार्थ-विज्ञान, जो आयुर्वेद-शास्त्र की पृष्ठ-भूमि है, उसका ज्ञान आयुर्वेद के जिज्ञासुओं को सर्वप्रथम होना परमावश्यक है। इसी दृष्टिकोण से इस पुस्तक का नाम भी **पदार्थ-विज्ञान** रखा गया है।

सम्प्रति आयुर्वेद का अध्ययन प्रधानतः चिकित्सा-व्यवसाय के लिए किया जाता है। चिकित्सा-व्यवसाय के ज्ञान के लिए चिकित्सा के साधनभूत द्रव्य (जिसके द्वारा चिकित्सा की जाती है) का ज्ञान सर्वप्रथम आवश्यक है। अस्तु।

यथार्थ ज्ञान तथा अनुभव के लिए उसके साधन (प्रमाण) का ज्ञान होना आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक में सर्वप्रथम प्रमाण का वर्णन इसी दृष्टि से किया गया है। प्रमाणों के द्वारा ही प्रमा का ज्ञान होता है। पदार्थ-ज्ञान (पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय) प्रमा है, जो प्रमाणों के द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है। अतः आयुर्वेद के संहिता-ग्रन्थों में जिस प्रकार प्रमाणों का वर्णन उपलब्ध होता है, उनका संकलन कर प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रमाण-मीमांसा के साथ समन्वय किया गया है और उनकी व्यावहारिकता (शास्त्र के अध्ययन तथा चिकित्सा-व्यवसाय में) का प्रतिपादन किया गया है। पुस्तक का प्रथम अध्याय इसी विषय का प्रतिपादन करता है। द्वितीय अध्याय में पदार्थ-विवेचन तथा पदार्थ-वर्णन है। इस अध्याय में आयुर्वेद-शास्त्र द्वारा गृहीत वैशेषिक षट्पदार्थों का निरूपण तथा उनके लक्षण आदि का आलोचनात्मक विवेचन

किया गया है और उनकी व्यावहारिकता को दर्शाया गया है। इस अध्याय के चार पाद हैं, जो निम्न प्रकार विभक्त किये गये हैं :—

प्रथमपाद—इसमें पदार्थ क्या है, उनके ज्ञान की क्या आवश्यकता है, उनका वर्गीकरण अर्वाचीन तथा प्राचीन दार्शनिकों ने किस दृष्टि से किया है इत्यादि का वर्णन है। पुनः द्रव्य-निरूपण तथा द्रव्य के सम्बन्ध में पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विचारों का दिग्दर्शन कराया गया है। पश्चात् द्रव्य के भेद तथा उनका पृथक्-पृथक् निरूपण और व्यवहार में उनकी उपयोगिता सिद्ध की गई है। साथ ही परमाणुवाद तथा प्रकृतिवाद का सामञ्जस्य दिखलाते हुए आधुनिक परमाणुवाद और प्राचीन परमाणुवाद का भेद स्पष्ट किया गया है। अन्त में जड़ तथा चेतन भेद से द्रव्यों का वर्गीकरण किया गया है और कारण तथा कार्य द्रव्य का भेद बतलाया गया है।

द्वितीयपाद—इस पाद में गुण-कर्म-निरूपण तथा विवेचन किया गया है। गुण-कर्म के सम्बन्ध में आधुनिक विचारों का दिग्दर्शन कराते हुए उनके ज्ञान की उपादेयता का प्रतिपादन किया गया है।

तृतीयपाद—सामान्य और विशेष का निरूपण तथा विवेचन इस पाद में किया गया है। द्रव्य-ज्ञान के लिए उनकी जाति (सामान्य) तथा व्यक्ति (विशेष) का ज्ञान होना परमावश्यक है। आयुर्वेद-शास्त्र का प्रधान प्रयोजन स्वास्थ्य-रक्षण और व्याधिनाशन है। यह कार्य द्रव्यों के सामान्य गुण-कर्म तथा विशेष गुण-कर्म के ज्ञान के बिना कदापि सम्पन्न नहीं हो सकता। स्वास्थ्य-रक्षण तथा रोग-नाशन दोनों कार्यों में दैहिकधातुओं को साम्यावस्था में रखना पड़ता है। स्वास्थ्य-रक्षण में साम्यावस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए प्राणधारियों के शरीर में सदा सृजन तथा विनाश का चक्र चलते रहने के कारण, आवश्यकतानुसार सामान्य तथा विशेष गुण-कर्मवाले द्रव्यों द्वारा पूर्ति करना पड़ता है। स्वास्थ्य की परिभाषा पर पाठक यदि एक बार दृष्टिपात करें, तो उन्हें इस तथ्य का सहज में ही पता लग जायगा। यथा—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥ —सु० सू०, अ० १५

अर्थात्—शरीर के मूलभूत उपादान दोष (वात, पित्त, कफ) जब साम्यावस्था में हों, अग्नि (कायाग्नि) सम हो, धातु (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र आदि) सम अवस्था में हों, मलक्रिया—अर्थात् शरीर से अनिष्ट पदार्थों का (जो आहार-पाक तथा धातुपाक की अवस्था में उत्सर्जित होते रहते हैं) निष्कासन समुचित रूप से होता हो और इन सभी क्रियाओं के समुचित होते रहने (समभाव से होते रहने) के साथ-साथ आत्मा, इन्द्रियां

और मन प्रसन्न हों, तो उसे 'स्वस्थ' कहते हैं। ऐसी परिस्थिति में सतत विनाश का चक्र चलते रहनेवाले शरीर की पूर्ति के लिए आहार-द्रव्यों के गुण-कर्मों का ज्ञान और उन गुण-कर्मों के सामान्य और विशेष का ज्ञान हुए बिना स्वास्थ्य-रक्षण में कथमपि कोई कृतकार्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार रोग-नाशन में भी उक्त सामान्य तथा विशेष का ज्ञान होना परमावश्यक है; क्योंकि "सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणं। ह्रासहेतुर्विशेषश्च" यह अकाट्य नियम है और रोग इसके अतिरिक्त कि शरीर के अन्दर किसी धातु की वृद्धि, ह्रास तथा विकृति हो, और क्या है? और चिकित्सा भी तो शरीर के बढ़े हुए दोषों को घटाना और घटे हुए को बढ़ाना तथा सम की रक्षा करना ही है। यथा—

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते॥ —च० सू०, अ० ९

इस प्रकार किसी धातु को बढ़ाने तथा घटाने के लिए द्रव्यों के सामान्य तथा विशेष गुण-कर्मों का ज्ञान होना आवश्यक होता है। द्रव्यगत सामान्य गुण-कर्म तथा विशेष गुण-कर्म का ज्ञान सामान्य तथा विशेष ज्ञान के बिना कभी भी सम्भव नहीं। अतः सर्वप्रथम आयुर्वेद-शास्त्र में सामान्य तथा विशेष का वर्णन किया गया है। भगवान् इन्द्र से आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण कर महर्षि भरद्वाज अपने सहकर्मी ऋषियों के साथ जब मानव की कल्याण-कामना से हिमवत् पार्श्व में समवेत होकर ध्यानस्थित हुए तो—

महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा।
सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च॥
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः।
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनश्वरम्॥ —च० सू० १

ज्ञान-चक्षुओं के सामने सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म तथा समवाय इन छः पदार्थों को देखा और उनके ज्ञान से तन्त्रोक्त विधि (शास्त्रोपदिष्ट विधि—हित का ग्रहण और अहित का त्याग) को अपनाया, जिससे उन्हें परम शान्ति प्राप्त हुई और अनश्वर जीवन प्राप्त हुआ।

चतुर्थपाद—इस पाद में समवाय का निरूपण तथा वर्णन किया गया है। द्रव्य के अन्दर उक्त गुण-कर्म किसी सम्बन्ध से ही रहते हैं। यह सम्बन्ध नित्य होता है अर्थात् आप किसी प्रकार पृथिव्यादि द्रव्यों के गुरुत्वादि गुण तथा पतनादि कर्म को पृथक् नहीं कर सकते। पृथक् पदार्थ होने पर भी ये गुण-कर्म, द्रव्य से पृथक् नहीं पाये जाते हैं। इस प्रकार गुण-कर्मों का द्रव्यों के साथ यह अपृथग्भाव रूप जो सम्बन्ध है, वही समवाय है। समवाय-ज्ञान के बिना द्रव्य के विवेचन में कोई भी सफल नहीं हो सकता।

तृतीयाध्याय––इस अध्याय में तत्त्वमीमांसा की गई है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में, सृष्टि-वर्णन में चतुर्विंशति तत्त्वों का वर्णन मिलता है, अतः उन तत्त्वों का विशदीकरण उनके मूलस्रोत (सांख्य) को उद्धृत करते हुए किया गया है।

चतुर्थाध्याय––इस अध्याय में आत्म-मीमांसा है। आत्मा और परमात्मा का भेद, लिङ्गशरीर का वर्णन तथा लिङ्गशरीर के साथ पूर्वजन्मकृत कर्म किस प्रकार आमुक्ति-पर्यन्त चिपटे रहते हैं, जिनकी वजह से आत्मा को बार-बार विविध योनियों में संचरण करना पड़ता है आदि विषयों का वर्णन किया गया है। आयुर्वेद-शास्त्र कर्मविपाक को भी मानता है। आयुर्वेद के संहिता-ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर ऐसा वर्णन पाया जाता है कि देहधारियों के पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप उन्हें आरोग्य तथा रोग प्राप्त होते हैं। अनेक ऐसे भी रोग होते हैं, जो औषधियों द्वारा साध्य नहीं होते। वे कर्मज होते हैं और भोग के पश्चात् स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं।

भारतीय दार्शनिकों में दो प्रकार के मुख्य विचारक दृष्टिगोचर होते हैं। एक वे जो वेदों में विश्वास रखते हैं तथा उन्हें प्रमाण मानते हैं। इन्हें आस्तिक दार्शनिक कहते हैं। दूसरे वे जो वेदों में आस्था नहीं रखते तथा उन्हें प्रमाण नहीं मानते। इनको नास्तिक दार्शनिक कहा गया है। "नास्तिको वेदनिन्दकः।"

आस्तिक दार्शनिकों में नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य योग, अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, विशुद्धाद्वैतवादी तथा मीमांसक प्रभृति हैं। इनके आचार्य गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, जैमिनी, बादरायण प्रभृति हैं। नास्तिक दर्शनों में लोकायनिक, सौगत तथा जैन दर्शन हैं। इनके आचार्य या प्रवर्तक चार्वाक्, बृहस्पति, भगवान् बुद्ध तथा उनके अनुयायी दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, वसुबन्धु, अश्वघोष, नागार्जुन आदि, और महावीर तथा जिनेन्द्र ऋषि आदि हैं। इनमें भी चार्वाक् प्रत्यक्षवादी हैं। बौद्ध दार्शनिकों में संघातवादी, शून्यवादी, क्षणिकवादी तथा विज्ञानवादी हैं। जैन दार्शनिक स्याद्वादी हैं। इन्हें अनेकान्तवादी भी कहते हैं। बौद्ध दार्शनिकों में दो वर्ग उपलब्ध होते हैं जैसे––हीनयानी या स्थविरवादी तथा महायानी। इसी प्रकार जैन दार्शनिकों में दो वर्ग श्वेताम्बरिक तथा दिगम्बरिक पाए जाते हैं। इन सभी दार्शनिक विचारों का विचार यथावश्यक आयुर्वेद में संगृहीत हुआ दृष्टिगोचर होता है।

इस पुस्तक के प्रणयन में जिन-जिन मित्रों ने सहायता दी है, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करना मेरा कर्त्तव्य है। गुरुकुल विश्वविद्यालय के दर्शन के प्रौढ़ पण्डित सुखदेवजी विद्यावाचस्पति तथा पाश्चात्य दर्शन के उपाध्याय प्रो० नन्दलालजी खन्ना अपनी अमूल्य सम्मति तथा परामर्श देने के कारण हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालय के प्रस्तोता पं० वागीश्वरजी,

विद्यालंकार भी मेरे उसी प्रकार धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने पुस्तक की भाषा सुधारने में मेरी सहायता की है। अन्त में अपने परम प्रिय शिष्य सत्यपालजी, आयुर्वेदालंकार, (गृह-चिकित्सक, श्रद्धानन्द सेवाश्रम) गुरुकुल विश्वविद्यालय को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि को स्पष्ट तथा प्रेस-योग्य बनाने में पर्याप्त परिश्रम किया है।

निवेदक

रामरक्ष पाठक

प्रथम संस्करण का प्रकाशकीय वक्तव्य

आयुर्वेद के अच्छे ग्रन्थों का अभाव सर्वसाधारण के साथ ही विशेष ज्ञान के जिज्ञासु को भी खटक रहा था। इस अभाव को दूर करने की इच्छा से **श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०** ने पुस्तक-प्रकाशन-कार्य प्रारम्भ किया था। उसी पुस्तकमाला का यह सातवाँ पुष्प आपके सामने रखते हुए हमें प्रसन्नता होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विद्वान् लेखक गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार) आयुर्वेदिक कॉलिज के सफल प्रिंसिपल रह चुके हैं और इस समय अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कॉलिज, बेगूसराय में प्रिंसिपल हैं।

आयुर्वेद-मार्त्तण्ड श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई की प्रेरणा से आपने यह ग्रन्थ लिखा है। इसीसे इसकी उपयोगिता समझी जा सकती है।

अन्य वैद्यनाथ-प्रकाशनों की तरह यह ग्रन्थ भी यदि आयुर्वेद-जगत् के लिए हितकर हो सका, तो हमें हार्दिक प्रसन्नता होगी। इति शुभ।

पटना
ता० १०-६-४८

विनम्र
रामनारायण शर्मा वैद्य

द्वितीय संस्करण

'पदार्थ-विज्ञान' का यह दूसरा संशोधित संस्करण विद्वत्समाज के सम्मुख उपस्थित करते हुए हमें परम प्रसन्नता हो रही है। इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण १९४८ ई० में प्रकाशित हुआ था और विद्वत्समाज ने इसको विशेष रूप से अपनाया था। यद्यपि प्रथम संस्करण में अनेक कारणों से मुद्रण-सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ रह गई थीं। फिर भी विद्वत्समाज ने इस ग्रन्थ को इस कारण विशेष रूप से पसन्द किया कि अपने विषय की यह एक अभूतपूर्व और एक ही प्रकाशित पुस्तक थी। इस पुस्तक की उपादेयता और विशेषता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि सम्प्रति देश में आयुर्वेद की जितनी भी शिक्षण-संस्थाएँ हैं, उन सब के पाठ्यक्रम में यह पुस्तक स्वीकृत है।

इस पुस्तक की अत्यधिक माँग रहने के कारण हमें यह दूसरा संस्करण भी अत्यधिक शीघ्रता में प्रकाशित करना पड़ा। अतः हम इस संस्करण को विशेष रूप से संशोधित और परिवर्द्धित नहीं कर सके। फिर भी, इस संस्करण में अनेक सुधार किये गये हैं और प्रथम संस्करण की त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया गया है।

इस ग्रंथ के लेखक श्री पं० रामरक्षजी पाठक, जो सम्प्रति जामनगर में केन्द्रीय आयुर्वेद अनुसन्धानशाला में प्रधान वैद्य के पद पर कार्य कर रहे हैं, अत्यधिक कार्यव्यस्त रहने के कारण इस संस्करण में विशेष संशोधन-परिवर्द्धन नहीं कर सके; फिर भी उन्होंने इसमें 'परिशिष्ट' जोड़ कर पदार्थ-विद्या का सुन्दर विवेचन किया है। इसके लिए हम पाठकजी को धन्यवाद-ज्ञापन करते हैं। हमें आशा है कि अगले संस्करण में इस ग्रन्थ को विशेष रूप से संशोधित और परिवर्द्धित करने में हम समर्थ हो सकेंगे, जिससे इसकी उपादेयता और विशेषता में और भी वृद्धि हो सकेगी। विद्वत्समाज से भी हम आशा करते हैं कि इस संस्करण को भी वे अपनाकर हमारे उत्साह की वृद्धि करेंगे और अभिनव ग्रन्थों के प्रकाशन द्वारा आयुर्वेद की सेवा करते रहने के लिए हमें अधिकाधिक प्रोत्साहन देंगे।

प्रकाशक

रामदयाल जोशी, रामनारायण वैद्य

मैनेजिंग डायरेक्टर्स

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०

कलकत्ता—६

कलकत्ता
१५-६-५५

तृतीय संस्करण के विषय में

प्रस्तुत पुस्तक बहुत दिनों से अप्राप्य हो चुकी थी तथा आयुर्वेद के विद्वानों एवं छात्रों की ओर से इसकी बराबर माँग आ रही थी। इधर अन्य अनेक नये प्रकाशनों में व्यस्त रहने के कारण इस ग्रन्थ का मुद्रण नहीं हो पाया था। अब यह तृतीय संस्करण विद्वानों के समक्ष रखते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। इति शम्।

विनम्र

रामनारायण शर्मा वैद्य

संस्थापक—श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा. लि.

नागपुर
ता० १५—८—६८
(स्वतन्त्रता दिवस)

प्रकाशकीय वक्तव्य

स्वनामधन्य आयुर्वेद-मनीषी आचार्य पं० रामरक्ष जी पाठक लिखित परम सम्मानित एवं लोकप्रिय आयुर्वेद-ग्रन्थ 'पदार्थ-विज्ञान' का चतुर्थ संस्करण आयुर्वेद-जगत् के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इस ग्रन्थ की अतिशय माँग होने के कारण हमें यह नवीन संस्करण प्रस्तुत करना पड़ रहा है।

यह ग्रन्थ का संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण है। विद्वान् लेखक ने अपने सुदीर्घकालार्जित अध्ययनाध्यापनगत अनुभवों के आधार पर इसका संशोधन एवं परिवर्द्धन किया है, जिससे आयुर्वेद-जगत् और विशेषतः प्राध्यापक-वर्ग तथा छात्रजगत् विशेष ज्ञानार्जन कर सके। अतएव इस संस्करण की विशेष उपयोगिता इससे स्पष्ट है।

हम आश्वस्त हैं कि हमारा यह प्रयास सार्थक सिद्ध होगा और परिवर्द्धन एवं संशोधन तथा बढ़े हुए प्रकाशन-व्यय के कारण जो थोड़ी-सी मूल्यवृद्धि करनी पड़ी है उसे अन्यथा न माना जाएगा।

हम भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी के स्वत्वाधिकारी श्री सुरेन्द्र भार्गव तथा व्यवस्थापक श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय और उनके सहयोगियों के प्रति चिर आभारी रहेंगे, जिनकी तत्परता से इस संस्करण का प्रकाशन यथासमय हो सका है।

दुर्गाप्रसाद शर्मा

(आयुर्वेद-शिरोमणि, वैद्यरत्न, प्राणाचार्य, आयुर्वेदाचार्य)

निदेशक, श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०,

वैद्यनाथ भवन रोड, पटना–१

धन्वन्तरि-जयन्ती, २०२७ वि०
२७ अक्टूबर, १९७० ई०

सहायक पुस्तकें

आयुर्वेद :

(१) चरक संहिता
चक्रपाणि टीका—चक्रपाणिदत्त
जल्प कल्पतरु टीका—गंगाधर सेन
उपस्कार टीका—योगेन्द्रनाथ सेन
जेज्जट टीका—हरिदत्त शास्त्री द्वारा सम्पादित
प्रदीपिका टीका—ज्योतिषचन्द्र सरस्वती कृत

(२) सुश्रुत संहिता
डल्हण टीका
चक्रपाणि टीका
हाराणचन्द्र चक्रवर्ती
गो० भा० घाणेकर टीका

(३) अष्टांग-संग्रह—इन्दु कृत टीका
(४) अष्टाङ्गहृदय—अरुणदत्त और हेमाद्रि टीका
(५) काश्यप संहिता
(६) भेल संहिता
(७) आयुर्वेद-दर्शन—पं० नारायणदत्त कृत
(८) आयुर्वेद-दर्शन—पं० महादेव चन्द्रशेखर पाठक
(९) पञ्चमहाभूत—त्रिदोष परिषद् की रिपोर्ट
(१०) त्रिदोष विमर्श—पं० धर्मदत्त, सिद्धान्तालंकार
(११) पञ्चमहाभूत—श्री उपेन्द्रनाथ दास कृत
(१२) त्रिदोष सिद्धान्त—श्री वामन शास्त्री दातार
(१३) हारीत संहिता
(१४) द्रव्य गुण-विज्ञान—श्रीयुत यादवजी त्रीकम आचार्य कृत
(१५) पदार्थ विनिश्चय

आयुर्वेदेतर :

(१६) न्याय दर्शन—वात्स्यायन भाष्य
(१७) न्याय वार्त्तिक
(१८) न्याय बिन्दु

(१९) न्याय कन्दली—श्रीधराचार्य
(२०) न्याय वैशेषिक—प्रशस्तपाद-भाष्य
(२१) तर्कसंग्रह
(२२) तर्कभाषा
(२३) सिद्धान्त मुक्तावली—श्री विश्वनाथ कृत
,, ,, —रामरुद्री दिनकर टीका
(२४) न्याय सिद्धान्त मुक्तावली—श्री नृसिंहदेव कृत
(२५) सांख्य दर्शन
(२६) सांख्यतत्त्व कौमुदी—ईश्वरकृष्ण
,, ,, —गौड़पाद, वाचस्पति मिश्र, बालराम उदासी
(२७) सर्वदर्शन संग्रह—अभयंकर
(२८) प्रमाण समुच्चय वृत्ति—दिङ्नाग
(२९) वेदान्त परिभाषा
(३०) तत्त्वचिन्तामणि
(३१) श्लोकवार्त्तिक
(३२) योगदर्शन—पतञ्जलि
(३३) योग-वाशिष्ठ
(३४) ब्रह्मसूत्र—शंकरभाष्य
(३५) गीता-रहस्य—तिलक
(३६) अद्वैतसिद्धि
(३७) पदार्थखण्डन—रघुनाथ
(३८) पदार्थ तत्त्वनिर्माण
(३९) उपनिषद् १०
(४०) प्रमाणवार्त्तिक
(४१) सांख्यार्थ भाष्य—आर्यमुनि
(४२) वैशेषिक दर्शन— ,,
(४३) सांख्य संग्रह—क्षेमेन्द्र
(४४) मनुस्मृति
(४५) याज्ञवल्क्यस्मृति
(४६) पराशरस्मृति
(४७) भारतीय दर्शन का इतिहास—वलदेव उपाध्याय
,, ,, ,, —देवराज शर्मा
(४८) महाभाष्य

(४९) दर्शन-दिग्दर्शन---राहुल सांकृत्यायन
(५०) पाश्चात्य दर्शन का इतिहास---पं० रामावतार और गुलाबराय कृत
(५१) विष्णुपुराण
(५२) मनोविज्ञान---चन्द्रमौलि शुक्ल कृत
मनोविज्ञान---लालजीराम शुक्ल कृत
(५३) History of Indian Philosophy by Das Gupta.
(५४) System of Logic.
(५५) The Theory of Knowledge.
(५६) Analysis of Mind by Burnet Rousel.
(५७) Space, Time, Deity by Alexander.
(५८) Six ways of Knowing by D. M. Dutta.
(५९) Indian Logic by B. L. Atreya.
(६०) Principles of Philosophy bry H. M. Bhattacharya.
(६१) Guide of Philosophy by C. E. M. Joad.
(६२) Mysterious Universe by Sir James Jeans.
(६३) Mind and Its Working by C. E. M. Joad.
(६४) History of Indian Logic by S. C. Vidyabhushan.
(६५) Thinking by H. Levy.
(६६) Indian Philosophy by S. Radhakrishnan.
(६७) Positive Background of Hindu Sociology
by B. K. Sarkar.
(६८) Principles of Philosophy by W. James.
(६९) Psycho-Analysis Education by Anne Freud.
(७०) Intellectual Power by Read.
(७१) Appearance and Reality by T. H. Bradley.
(७२) The Philosophy of Yogabashishtha by B. L. Atreya.
(७३) Rational Mysticism by Kingslad.
(७४) The Ether and Space by Sir John Lodge.
(७५) Awaking of Faith by Suzzuke.
(७६) Mahayan Buddhism by ,,
(७७) Divine Imaging by Fanscet.

कोष-ग्रन्थ :

(७८) अमरकोष
(७९) शब्दस्तोम महानिधि
(८०) वृहत् वाचस्पत्यविधान
(८१) Encyclopoedia Britanica.

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रथमाध्याय—			
प्रमाण-विज्ञान	१	अयथार्थानुभव	३७
प्रमा और प्रमाण	२	करण	३८
सुश्रुतानुमत चतुर्विध प्रमाण	४	समवायीकारण	३८
चरकानुमत त्रिविध प्रमाण	४	असमवायीकारण	३८
प्रत्यक्ष-प्रमाण के लक्षण	८	निमित्तकारण	३८
प्रत्यक्ष-प्रमाण के भेद	११	समवाय	३८
अनुमान के लक्षण	१४	अयुतसिद्ध	३८
अनुमान के भेद	१९	पक्ष	३९
स्वार्थानुमान	१९	सपक्ष	३९
परार्थानुमान	२०	विपक्ष	३९
पञ्चावयव	२०	हेत्वाभास	३९
लिङ्ग-परामर्श	२१	सव्यभिचार	३९
अन्वय व्यतिरेकी	२१	साधारण	३९
केवलान्वयी	२१	असाधारण	३९
केवलव्यतिरेकी	२२	अनुपसंहारी	३९
दूसरी व्याख्या	२२	विरुद्ध	३९
प्राच्य-पाश्चात्यविचार-समन्वय	२३	सत्प्रतिपक्ष	३९
आप्त आगम तथा ऐतिह्य प्रमाण के लक्षण	२७	असिद्ध हेतु के तीन भेद	४०
		आश्रयासिद्ध	४०
युक्ति के लक्षण	३१	स्वरूपासिद्ध	४०
उपमान के लक्षण	३२	व्याप्यत्वासिद्ध	४०
अर्थापत्ति के लक्षण	३५	बाधित	४०
अनुपलब्धि या अभाव-प्रमाण के लक्षण	३६	आकांक्षा	४०
		योग्यता	४०
ऐतिह्य-प्रमाण के लक्षण	३६	सन्निधि	४०
प्रमाण विचार में आए हुए कुछ पारिभाषिक शब्द	३७	अयथार्थानुभव के भेद	४१
		संशय	४१
बुद्धि	३७	विपर्यय	४१
यथार्थानुभव	३७	तर्क	४१

विषय	पृष्ठ
द्वितीयाध्याय—	
(पदार्थ-विज्ञान)	
पदार्थ के लक्षण	४२
वैशेषिक दर्शन के आचार्य	४३
वैशेषिक तत्वमीमांसा	४४
पदार्थों का साधर्म्य और वैधर्म्य	४६
कैटेगोरी	४६
अरस्तु के विचार	४७
कान्ट के विचार	४८
निर्णायक विचार के स्वरूप और तदनुरूप कैटेगोरी	४८
वैशेषिकानुमत आयुर्वेद में गृहीत ६ पदार्थ	४८
द्वितीयाध्याय—प्रथम पाद	
(द्रव्य-विज्ञान)	
द्रव्य के लक्षण	५२
द्रव्य-निर्देश	५४
द्रव्यों के साधर्म्य-वैधर्म्य	५७
द्रव्य के सम्बन्ध में अर्वाचीन विचार	५९
पृथिवी निरूपण	५९
पृथिवी का निर्दुष्ट लक्षण	६१
जल-निरूपण	६४
तेज-निरूपण	६६
वायु-निरूपण	६८
आकाश-निरूपण	७१
पंचमहाभूत और इनके नैसर्गिक गुण तथा भूतानुप्रवेश	७४
पंचमहाभूतों के भौतिक गुण	७६
पंचमहाभूतों की बनावट	७८
परमाणुवाद	७९
शंका-समाधान	८०
परमाणुवाद तथा प्रकृतिवाद	८२

विषय	पृष्ठ
काल-निरूपण	८३
दिक्-निरूपण	८७
आत्म-निरूपण	९०
परमात्मा का निरूपण	९२
चिकित्स्यपुरुष	९५
पुरुष का परिमाण	९७
आत्मा के अणुत्व और नित्यत्व के हेतु	९८
सगुण आत्मा का निरूपण	९९
राशिपुरुष का निरूपण	१०१
देहातिरिक्त आत्मा के सद्भाव का निरूपण	१०२
परमात्मा अनादि और नित्य है	१०४
आत्मा के लक्षण और गुण	१०६
आत्मा का सत्त्व, मन, बुद्धि और दशेन्द्रियों के योग से ज्ञान की प्रवृत्ति	१०९
मन का निरूपण	११०
मन का स्वरूप	११३
मन का अणुत्व तथा एकत्व	११३
मन के विषय तथा कर्म	११५
मन तथा चेतन का स्थान	११७
मनोविज्ञान	१२०
कल्पना	१३१
मनोविकास में कल्पना का महत्त्व	१३२
कल्पना और स्वास्थ्य	१३५
स्मृति का मनोविकास में स्थान	१३५
स्मृति का आधार	१३५
धारणा	१३६
पुनश्चेतना	१३६
पहचान	१३७
ध्यान	१३७

विषय	पृष्ठ
ध्यान का स्वरूप	१३८
ध्यान का प्रकार	१३९
विचार	१३९
प्रत्ययन	१३९
सम्बन्ध-ज्ञान और विशेषण-ज्ञान	१४०
मानसिक रचनात्मक क्रिया	१४१
मनोविश्लेषण	१४१
अव्यक्त मन के कार्य	१४२
प्रतिबन्धक व्यवस्था	१४२
सांकेतिक चेष्टाएँ	१४५
विस्मृति	१४६
विक्षिप्तता	१४६
रोगों की उत्पत्ति	१४६
अव्यक्त मन और मनोविकास	१४७
सचेतन और अचेतन के भेद से द्रव्यों के दो भेद	१४९
द्वितीयाध्याय—द्वितीय पाद (गुण-कर्म-विज्ञान)	
गुण के लक्षण	१५२
द्रव्याश्रयी	१५४
गुण के सम्बन्ध में अर्वाचीनमत	१५४
गुणों की संख्या	१५७
इन्द्रिय-अर्थ विषय के पर्याय	१५९
शब्दादि गुणों का साधर्म्य-वैधर्म्य	१५९
रूप-निरूपण	१६१
रस-निरूपण	१६३
गन्ध-निरूपण	१६४
स्पर्श-निरूपण	१६४
शब्द-निरूपण	१६५
गुरुत्व-निरूपण	१६८
स्नेह-निरूपण	१७०
द्रवत्व-निरूपण	१७०

विषय	पृष्ठ
बुद्धि-निरूपण	१७३
सुख-निरूपण	१७४
दुःख-निरूपण	१७४
इच्छा-निरूपण	१७४
द्वेष-निरूपण	१७५
प्रयत्न-निरूपण	१७५
धर्म-निरूपण	१७५
अधर्म-निरूपण	१७५
परत्वापरत्व-निरूपण	१७६
युक्ति-निरूपण	१७६
संख्या-निरूपण	१७७
संयोग-निरूपण	१७७
विभाग-निरूपण	१७८
पृथक्त्व-निरूपण	१७८
परिमाण-निरूपण	१७९
संस्कार-निरूपण	१७९
अभ्यास-निरूपण	१७९
गुण सदा किसी द्रव्य में रहता है	१८०
कर्म-लक्षण	१८०
कर्म के भेद	१८२
द्वितीयाध्याय—तृतीय पाद (सामान्य-विशेष-विज्ञान)	
सामान्य-निरूपण	१८३
सामान्य के भेद	१८४
विशेष के लक्षण	१८८
द्वितीयाध्याय—चतुर्थ पाद (समवाय-विज्ञान)	
समवाय-निरूपण	१९२
तृतीयाध्याय— (तत्त्व-विज्ञान)	
तत्त्व-निरूपण	१९६

विषय	पृष्ठ
आ० में गृहीत सांख्यानुमत चतुर्विंशति तत्त्व	१९८
अव्यक्त का त्रिगुणात्मकत्व	२००
अष्टरूपम्	२००
महत्तत्त्व	२०१
अहंकार	२०१
चरक के मत से सर्ग-सृष्टि और प्रलय का निरूपण	२०२
सृष्टि तथा संहार-विधि	२०६
अष्टप्रकृति	२०९
षोडश विकार	२०९
प्रकृति	२०९
चरकानुमत चौबीस तत्त्व	२०९
व्यक्त तथा अव्यक्त के लक्षण और भेद	२१२
प्रकृति-पुरुष का साधर्म्य-वैधर्म्य	२१४
तन्मात्राओं का निरूपण	२१८
सांख्यानुमत तन्मात्रा और वैशेषिका-नुमत परमाणुओं का अभेद	२१९
सत्कार्यवाद	२२०
सांख्यानुमत-गुण-निरूपण	२२३
अव्यक्त (मूलप्रकृति) से जगत् की उत्पत्ति	२२७
चतुर्थाध्याय	
(आत्म-विज्ञान)	
आत्म-निरूपण	२२९
आत्मा या पुरुष अनेक हैं	२३०
पुरुष के धर्म	२३०
पुरुष के संयोग से प्रकृति में चैतन्य	२३१
सृष्टि-सर्ग-निरूपण	२३१
सांख्यसम्मत-विकास-क्रम	२३३
महत्तत्त्व-बुद्धि का लक्षण और कार्य	२३४
अहंकार-काल, ज्ञान और कार्य	२३५
ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रियाँ तथा मन	२३५
इन्द्रियों की वृत्तियाँ	२३६
अन्तःकरणों की वृत्तियाँ	२३७
वाह्य तथा आभ्यन्तर वृत्तियों का एक साथ तथा क्रम से होना	२३७
इन्द्रियों तथा तीनों अन्तःकरणों की परिचालना	२३८
त्रयोदशविध-करण	२३८
इन्द्रियों के विषय	२३९
करणों में अन्तःकरण का प्राधान्य और बाह्येन्द्रियों का गौणत्व	२३९
विशेष और अविशेषों का निरूपण	२४१
लिङ्ग-शरीर का निरूपण	२४१
परिशिष्ट	२४५

॥ श्री धन्वन्तरये नमः ॥

पदार्थ-विज्ञान

प्रमाण-विज्ञान

अध्याय १

अथातः पदार्थविज्ञाने प्रमाणविज्ञानीयंनामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

प्रमाणम्—**"यथार्थानुभवः प्रमा, तत्साधनं च प्रमाणम्"** —उदयनाचार्यः

"प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम् । उपलब्धि, साधनं, ज्ञानं, परीक्षा प्रमाणमित्यनर्थान्तरं समाख्यानि वचनसामर्थ्यात् । परीक्ष्यते यया बुद्धया सा परीक्षा । प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानः प्रमाणशब्दः" । —गंगाधरः

'परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षा ।" —चक्रपाणिः

भावार्थ—यथार्थ अनुभव के साधन को प्रमाण कहते हैं । यथार्थ अनुभव का नाम 'प्रमा' है । जिसके द्वारा 'प्रमा' या यथार्थ अनुभव की प्राप्ति हो उसे **प्रमाण** कहते हैं । 'प्रमाण' साधन है और 'प्रमा' उसका साध्य या फल है ।

वक्तव्य—जगत् भौतिक है । जगत् का अर्थ गतिमान्—चलते-चलते नाश को प्राप्त होनेवाला अर्थात् कारणों में लीन होनेवाला है। जगत् की सृष्टि का कारण पञ्चमहाभूत है और पञ्चमहाभूत का आदि कारण **'ब्रह्म'** या **'परमात्मा'** है, जो सत्य, विज्ञानमय और आनन्दमय है । सत्य सदा विज्ञानात्मक होता है अर्थात् विज्ञान सत्य का स्वरूप है । जो सत्य और विज्ञानात्मक होगा वह आनन्दमय होगा ही, अतः **तैत्तिरीयोपनिषद्** में विज्ञान को भी 'ब्रह्म'[१] का स्वरूप कहा है । जब अनेक बार हेतु-हेतुमद्भाव, प्रयोज्य-प्रयोजक भाव और कार्य-कारण भाव के रूप में किसी ज्ञान की सत्यता सिद्ध हो जाती है तब उसे विज्ञान का नाम मिलता है । इस सिद्धि से आनन्द की प्राप्ति होती है । यह आनन्दमय-सत्य-विज्ञान, ब्रह्मस्वरूप, अनादि, अनन्त और असीम है । विज्ञान अपनी अनन्त शाखाओं से अपनी सत्यता द्वारा जगत् का कल्याण करता है, किन्तु

१—"विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद" —तैत्तिरीयोपनिषद् १-५

उसके ज्ञान के उपाय सीमाबद्ध हैं। ऐहिक तथा पारलौकिक वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान के लिए 'प्रमाण' की आवश्यकता होती है, अतः इस "**पदार्थ-विज्ञान**" नामक पुस्तक में सर्वप्रथम पदार्थ के यथार्थ ज्ञान का साधन 'प्रमाण' का वर्णन किया जाता है।

जैनदर्शन में ज्ञान की मीमांसा के दो प्रकार कहे गए हैं। (१) आगमिक और (२) तार्किक। आगमिक के पाँच भेद हैं, जैसे—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनः पर्याय ज्ञान और (५) केवल ज्ञान। तार्किक के चार भेद हैं, जैसे—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) आगम और (४) उपमान।

प्रमा और प्रमाण—संस्कृत साहित्य में 'ज्ञान'[1] शब्द सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार की जानकारी के लिए व्यवहृत होता है। यह ज्ञान यथार्थ तथा अयथार्थ दोनों प्रकार का हो सकता है। परन्तु 'प्रमा' केवल यथार्थ ज्ञान (सत्यज्ञान) को ही कहते हैं, यह अयथार्थज्ञान (मिथ्याज्ञान) से बिल्कुल विपरीत है। अतः 'प्रमा' उस ज्ञान का नाम है जिसमें सत्य या यथार्थत्व तथा अनधिगतत्व (Truth & Novelty) ये दो गुण अवश्य हों[2]। जहाँ तक प्रमा के प्रथम गुण 'सत्य' का सम्बन्ध है, इसमें सभी विचारकों का मत एक समान है। परन्तु सत्य के अर्थ-विवेचन में मतभेद दिखाई पड़ता है। प्रधानतः सत्य की चार व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। पहला विचारक 'सत्य' के व्यावहारिक अर्थ की प्रधानता देता है। वह सत्य उसी ज्ञान को मानता है जो कि अर्थ या प्रयोजन का साधक हो[3]। यह पाश्चात्य विचारकों की प्राग्मेटिक थ्यूरी (Pragmatic theory) के समान है। दूसरा विचारक प्रधानतः नैयायिकों का विचार इस प्रकार है—"जो (धर्म) जहाँ है वहीं उस (धर्म) का ज्ञान होना 'प्रमा' कहलाता है। जैसे घट में घटत्व और पट में पटत्व का। पाश्चात्य विचारकों की यह कोरेस्पौन्डेन्स थ्यूरी (Correspondence theory) है[4]। तीसरा विचारक अनुभव के आधार पर उत्पन्न ज्ञान को 'सत्य' या 'प्रमा'

१—ज्ञान-नं. ज्ञा—भावेल्युट्। सामान्य-विशेषरूपे बुद्धिमात्रे, ज्ञानं द्विधा-वस्तुमात्रद्योतकं निर्विकल्पकम्। सविकल्पन्तु संज्ञादिद्योतकत्वादनेकधा।
—शब्दस्तोम

२—वेदान्त परिभाषा—अ०—१

३—"यतः अर्थक्रिया समर्थवस्तुप्रदर्शकं सम्यक् ज्ञानम्" और "यतश्चार्थ-सिद्धिस्तत् सम्यक् ज्ञानम्" —न्यायबिन्दु अ० १

४—"यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा, तद्वत् तत्प्रकारकानुभवो वा"
—तत्त्वचिन्तामणिः

कहता है। यह पाश्चात्य विचारकों का 'थ्यूरी औफ कोहियरेन्स' (Theory of coherence) के समान है जो (Harmony of experience) सम्वाद या सम्वादित्व को इस ज्ञान के प्रति कारण मानता है। अद्वैतवादी वेदान्ती अबाधित्व (Non-contradiction) को 'सत्य' तथा 'प्रमा' का प्रधान लक्षण मानते हैं[१]।

उपर्युक्त सूत्र में यह बताया जा चुका है कि यथार्थ अनुभव या ज्ञान (Valid experience) को प्रमा कहते हैं। अतः यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि यथार्थ अनुभव के विषय (Object of valid experience) की संज्ञा 'प्रमेय'[२] होगी क्योंकि वह साधन जिसके द्वारा 'प्रमाता'[३]—विषय (प्रमेय) का यथार्थ ज्ञान (प्रमा) लाभ करता है उसे 'प्रमाण'[४] कहते हैं। प्रमाता तथा प्रमेय की उपस्थिति मात्र से प्रमा का लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाता के अन्दर प्रमा को लाभ करने के लिए किसी साधक का होना आवश्यक है। अतः वह साधक जिसके अभाव में प्रमाता तथा प्रमेय के विद्यमान रहने पर भी प्रमा का लाभ न हो उसे 'प्रमाण' कहते हैं। इसीलिए प्रमाण को प्रमा का साधकतम कारण कहा गया है। ऐसा कारण जो साधकतम (Most essential) हो उसे दार्शनिक वाङ्मय में करण कहते हैं। अतः प्रमाण को तर्कसंग्रह में प्रमा का करण कहा गया है।

सुश्रुतानुमत चतुर्विधप्रमाण

'तस्याङ्गवरमाद्यमागमप्रत्यक्षानुमानोपमानैरविरुद्धमुच्यमानमुपधारय।'

—सु० सू० १।१३

डल्हन—"×××× प्रत्यक्षमिति यत्किंचिदेवार्थस्य साक्षात्कारि ज्ञानं तदेव प्रत्यक्षम्। तथाहि—"मनोऽक्षगतमभ्रान्तं वस्तु प्रत्यक्षमुच्यते। इन्द्रियाणामसंज्ञानं वस्तुतत्त्वे भ्रमः स्मृतः"॥ प्रत्यक्षाविरुद्धं यथा—सूर्यावलोकनात्, नासान्तः सूत्रवर्तिप्रवेशनाच्च क्षुतः प्रादुर्भावः। आगमो वेदः आप्तानां शास्त्रं वा, तथाहि—"सिद्धं सिद्धैःप्रमाणैस्तु हितं चात्रपरत्र च। आगमः शास्त्रमाप्तानामाप्तास्तत्त्वार्थवेदिनः॥" आगमाविरुद्धं यथा—पुराणादिष्वपिश्रूयते, रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमश्विभ्यां संहितमिति। आगमस्य प्रत्यक्षफलत्वात् वरीयस्त्वम्; तेन अनुमानात् पूर्वं निर्दिष्टवान्। अनुपश्चादव्यभिचारि लिङ्गा-ल्लिङ्गी मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्, तेनानुमानेनाविरुद्धं यथा—प्रनष्टे शल्ये चन्दन-घृतोपदिग्धायां त्वचि विशोषणाज्यविलेयनाभ्यामनुमीयतेऽत्र शल्यमिति,

---

१—वेदान्त परिभाषा—अ०—१

२—"योऽर्थःप्रमीयते तत्प्रमेयम्" —वात्स्यायनः

३—"तत्र यस्येप्सा जिज्ञासा प्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता" —वात्स्यायनः

४—"येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्" —वात्स्यायनः

प्रसिद्धसाधर्म्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थस्य साधनमुपमानम्। तेनाविरुद्धं यथा—माषवन्माषः, तिलमात्रस्तिलकालकः, विदारीकन्दवत् विदारीरोगः, शालूकवत् पनसिकेत्यादिकम्।"

चरकानुमत चतुर्विधप्रमाण

"द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा। आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षं, अनुमानं, युक्तिश्चेति"॥

उपस्कार टीका—"परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षं साधयितुं प्रमाणानि अवतारयति। द्विविधमिति—सर्वं यत्किञ्चित् प्रमाणगम्यम्। सत्-भावरूपं, असत्-अभावरूपम् इति द्विविधं। तस्य चतुर्विधा, परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तु स्वरूपमनया इति परीक्षा प्रमाणं। आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षं, अनुमानं युक्तिश्चेति॥

गंगाधरः—"××× तस्य भावाभावरूपेण सिद्धस्य सर्वस्य द्रव्यगुणकर्म समवायाख्यस्य सामान्यविशेषभूतस्य परीक्षा परीक्षणहेतुश्चतुर्धा भवति। का केति, तां विवृणोति आप्तोपदेश इत्यादि, आप्तैरुपदिश्यते यदिदमेवमिदं नैवमित्युपदेश आप्तोपदेशः। शब्दः परीक्षा प्रमाण शब्द्यतेऽनेनेति शब्दः। प्रत्यक्षमिति—अक्षस्येन्द्रियस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा, यदा हि सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः। यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षा बुद्धयः फलमिति। अनुमानमिति—मितेन लिंगेनानुपश्चादर्थस्यमानमनुमानमिति। युक्तिश्चेति—युज्यते यया बुद्धचा तर्क्यते सा तर्कात्मिका बुद्धिर्युक्तिरिति। उपलब्धिसाधनं ज्ञानं परीक्षा प्रमाणमित्यनर्थान्तरं समाख्यानि वचनसामर्थ्यात्। परीक्ष्यते यया बुद्धचा सा परीक्षा साधनं परीक्षा। प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानः प्रमाणशब्दः। एषां चतुर्णां परीक्षात्वं प्रमाणत्वमेभिर्यदुपलभ्यते तदुपलब्धिर्व्यापारः। स चाप्तोपदेशोक्तिराप्तोपदेशत्वम्। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष जन्यत्वं प्रत्यक्षत्वम्। लिङ्गलिङ्गी सम्बन्धजन्यत्वमनुमानत्वम्। बहुकारणोपपत्तिकरणं युक्तित्वमिति।

चक्रपाणिः—"सम्प्रति परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्ष परलोकसाधनानि प्रमाणानि अवतारयति—द्विविधमित्यादि। सर्वमिति यत्किंचित्प्रमाणप्रतीयमानं तद् द्विविधम्। तद् द्वैविध्यमाह सच्चासच्च। सदिति—विधिविषयप्रमाण गम्यं भावरूपम्। असदिति—निषेधविषयप्रमाणगम्यमभावरूपम्। परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षा। प्रमाणान्याप्तोपदेशादय उत्तरग्रन्थे स्फुटा भवन्ति॥"

चरकानुमत त्रिविधप्रमाण

"त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा-आप्तोपदेशःप्रत्यक्षमनुमानञ्चेति॥"

उपस्कार टीका--"त्रिविधमिति--उपदेशस्य प्रागभिधानं प्रत्यक्षानुमानयोः प्रवृत्तिनिमित्ततया ज्यायस्त्वात्। न ह्यनुपदिष्टं किंचित् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां अवबुध्यते। अनुमानात् प्राक् प्रत्यक्षम्। प्रत्यक्षपूर्वत्वादनुमानस्य॥"

गंगाधरः--त्रिविधमिति--रोगेति विषमधातवो रोगास्तज्जाश्चज्वरादयो देहादिकार्यद्रव्यवत्। रोगाणां ज्वरादीनां विशेषावातादिजत्वादीनां जातानां रूपाणि, तेषां विज्ञानं विशेषेण ज्ञायन्ते प्रतीयन्तेऽनेन तद्विज्ञानं प्रमाणम्। तद् द्विविधमप्राप्यार्थग्रहणलक्षणं, प्राप्यार्थग्रहणलक्षणञ्चेति। तत्पुनस्त्रिविधं तदाह-तद्यथेति।

चक्रपाणिः--"रोगाणां विशेषो यथा वक्ष्यमाणो ज्ञायते येन तद् रोगविशेष-विज्ञानमुपदेशप्रत्यक्षानुमानरूपं प्रमाणत्रयम्। अत्र तु युक्तेरनुमानान्तर्गत्वादेव न पृथक्करणम्। एतच्च प्रमाणत्रयं क्वचित् रोगे मिलितं क्वचिद् द्वयम् क्वचि-देकम् परीक्षायां वर्तते। येन नान्तरे वह्निमान्धादौ प्रत्यक्षमवश्यं व्याप्रियते।"

मूलसूत्र के भावार्थ--शल्यशास्त्र का आद्यत्व और श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करते हुए भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से कहा--"उस आयुर्वेद के सर्व-श्रेष्ठ और आद्यअंग का मैं **प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम** और **उपमान** इन चार प्रमाणों से विरोध न करते हुए (या दिखाते हुए) जो उपदेश कर रहा हूँ उसको तुम लोग धारण करो।" (सु० सू० १)

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय (चरक संहिता ११ अध्याय में) प्रत्यक्षवादी नास्तिकों का खण्डन करते हुए और अपने पक्ष का मण्डन करते हुए उपदेश करते हैं कि--"इस जगत् में जो कुछ भी सत् या असत् रूप में विद्यमान है, उसके वस्तुस्वरूप का निर्णय चार परीक्षाओं (प्रमाणों) द्वारा होता है, वे चार परीक्षाएँ **आप्तोप-देश, प्रत्यक्ष, अनुमान** और **युक्ति** है।" पुनः रोगों के विशेष-ज्ञान के उपायों का उपदेश करते हुए (विमानस्थान चतुर्थ अध्याय में) आत्रेय भगवान् ने **आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष** और **अनुमान** इन तीन प्रमाणों द्वारा रोगनिर्णय के लिए उपदेश किया है।

वक्तव्य--आयुर्वेद-शास्त्र में प्रधानतः तीन प्रमाणों को ही ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। यद्यपि सुश्रुत तथा चरकसंहिता में चार प्रमाणों का यत्र-तत्र वर्णन उपलब्ध होता है तथापि उनका वर्णन प्रसङ्गवश आया हुआ प्रतीत होता है। सुश्रुत का प्रमाण चतुष्टय महर्षि गौतम के[1] अनुसार है। चरक में सांख्य, योग और रामानुज के समान तीन प्रमाणों को ही प्रधानतः अपनाया गया प्रतीत होता है। उपमान का समावेश अनुमान में ही किया गया है। यह उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। चरक सूत्रस्थान में **आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष** और

१--"प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।" --न्यायसूत्र

अनुमान के साथ **युक्ति** नामक चौथे प्रमाण का भी वर्णन मिलता है, परन्तु आगे चलकर अनुमान की व्याख्या करते समय युक्ति को अनुमान-प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र[1] मान लिया है। अतः चरक में तीन प्रमाणों को ही मुख्य माना गया है। चरक संहिता विमान-स्थान (अष्टम अध्याय) में उपमान का स्वतन्त्र वर्णन मिलता है। परन्तु यह वर्णन प्रमाणवर्णनान्तर्गत में न आकर वाद-विवाद के मार्गज्ञान वर्णन के अन्तर्गत आया है[2]।

प्रमाण के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की हैं। जैसे—चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही यथार्थ ज्ञान का साधन मानता है। बौद्ध, अर्हत (जैन) और वैशेषिक **प्रत्यक्ष** और **अनुमान** ये दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य, योग और रामानुज उक्त दो प्रमाणों के अतिरिक्त तीसरा **शब्द-प्रमाण** भी मानते हैं। एक नैयायिक (जरन्नयायिक) भी इन तीन प्रमाणों का ही समर्थन करते हैं।

अर्वाचीन तथा प्राचीन नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों को प्रमा का साधन मानते हैं। माहेश्वर सम्प्रदायवाले इनका समर्थन करते हैं। मीमांसकों का एक समुदाय प्रभाकर मतानुयायी उक्त चार प्रमाणों के अतिरिक्त पाँचवाँ प्रमाण **'अर्थापत्ति'** या **'अर्थप्राप्ति'** नामक स्वीकार करते हैं। मीमांसकों का दूसरा सम्प्रदाय कुमारिलभट्ट का अनुयायी तथा वेदान्ती उपर्युक्त पाँच प्रमाणों के साथ-साथ छठा प्रमाण **'अनुपलब्धि'** या **'अभाव'** नामक मानते हैं। पौराणिक **'संभव'** तथा **'ऐतिह्य'** नामक दो और प्रमाण अर्थात् आठ प्रमाणों द्वारा वस्तुस्थिति का निर्णय करते हैं। तान्त्रिक लोग नवाँ प्रमाण **'चेष्टा'** नामक मानते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो **'परिशेष'** नामक दसवाँ प्रमाण भी मानते हैं[3]। जो दार्शनिक कम से कम प्रमाणों द्वारा

१—"अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः।" —च० वि० ८

२—"इमानि खलु पदानि वादमार्गज्ञानार्थमधिगम्यानि भवन्ति, तद्यथा—वादो द्रव्यगुणाः × × × × प्रत्यक्षानुमानोपमानमैतिह्यम्।" × × ×—च०वि० ८

३—"प्रत्यक्षमेकं चारवाकाः कणाद सुगतौ पुनः।
अनुमानं च तच्चापि सांख्याः शब्दं च तेऽपि च॥
न्यायिकिदेशिनोप्येवमुपमानञ्च केचन।
अर्थापत्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टावेदान्तिनस्तथा।
संभवैतिह्य युक्तानि तानि पौराणिका जगुः॥" —सर्वदर्शनसंग्रहः

"माध्वास्तु प्रत्यक्षं शब्दंचेति प्रमाणद्वयम्। रामानुजीयास्तु प्रत्यक्षानुमानं शब्दञ्चेति प्रमाणत्रयमिच्छन्ति। चेष्टाऽपि प्रमाणान्तरमिति तांत्रिकाः।"
—सर्वदर्शनसंग्रहः

यथार्थज्ञान[1] की उपलब्धि करते हैं वे अन्य प्रमाणों को अपने कहे हुए प्रमाणों में ही अन्तर्भाव करते हैं। जैसे—सांख्य, योग तथा आयुर्वेद वाले अर्थापत्ति तथा संभव का अनुमान के अन्दर तथा अभाव का प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के अन्दर एवं ऐतिह्य का शब्दप्रमाण या आप्तोपदेश के अन्तर्गत बताते हैं।

पाश्चात्य दार्शनिकों में भी इसी प्रकार प्रमाण सम्बन्धी मतभेद दृष्टिगोचर होता है। पाश्चात्य दर्शन में इस सम्बन्ध में विचार करनेवाले शास्त्र को 'एपीस्टेमोलॉजी' (Epestemology) कहते हैं। यह अंग पाश्चात्य दार्शनिकों के यहाँ भी आवश्यक अंग माना गया है[2]। पाश्चात्य दर्शन जब विश्व के उभय (स्वरूप तथा वस्तुस्थिति) का अध्ययन करता है तो उसे उसके निर्णय के औचित्य का प्रतिपादन करना आवश्यक हो जाता है। वह विश्व के ज्ञानमात्र से ही सन्तुष्ट नहीं होता, अपितु उसे यह भी प्रमाणित करना पड़ता है कि उसका ज्ञान सत्य एवं यथार्थ है। वह शास्त्र जो यथार्थ ज्ञान की प्रकृति एवं दशा का विवेचन करता है उसे **'एपीस्टेमोलॉजी'** या **'प्रमाणमीमांसा-शास्त्र'** कहते हैं। 'एपीस्टेमोलॉजी' वह शास्त्र है जिसके द्वारा यथार्थज्ञान की उपलब्धि होती है। इसे संक्षेप में यों कह सकते हैं कि 'एपीस्टेमोलॉजी' ज्ञान की समालोचना करने वाला शास्त्र है[3]।

इस प्रमाणमीमांसा-शास्त्र (Epestemology) के अध्ययन से पता चलता है कि पाश्चात्य दार्शनिक प्रधानतः प्रत्यक्ष (Perception) तथा अनुमान (Inference) इन दो प्रमाणों को ही यथार्थज्ञान का साधन मानते हैं[4]। अन्य प्रमाणों में शब्दप्रमाण (Authority तथा Verbal testimony)

१—"सम्यग्ज्ञान पूर्विका सर्वपुरुषार्थ सिद्धिरिति तद्व्युत्पाद्यते। द्विविधं सम्याग्ज्ञानं—प्रत्यक्षमनुमानं च।" (न्या० वि०)

२—"Philosophy and Epestemology, as we understand them now, may be said to be interwoven with one another, so that one cannot go without the other."

—*Principles of Philosophy by H. M. Bhattacharya*

३—"In one word Epestemology is criticism of knowledge" or "Epestemology is the science of correct knowledge".

—*H. M. Bhattacharya*

४—"Western Philosophy has generally recognised two ultimate sources of knowledge, immediate knowledge or perception, and mediate knowledge or inference."

—*Six ways of knowings by* D. M. Dutta

और उपमान का प्रयोग यत्र-तत्र प्रयुक्त हुआ मिलता है परन्तु इनका वह स्थान नहीं है जो भारतीय दर्शनों में है। मेरे विचार से उपमान प्रमाण का कोई सामंजस्य पाश्चात्य दर्शनों में नहीं मिलता। यद्यपि कुछ लोग "एनालॉजी" (Analogy) को उपमान से मिलाते हैं, किन्तु उपमान की व्याख्या करते समय यह स्पष्ट हो जायगा कि उपमान एनालॉजी क्यों नहीं है।

प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण

"आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते॥"

—च० सू० ११

"प्रत्यक्षन्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्समानः सर्वैरिन्द्रियैःसर्वानिन्द्रियार्थानातुर-शरीरगतान् परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात्"॥ —च० वि० ४

"अथ प्रत्यक्षं—प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते। तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः"॥

—च० वि० ८

उपस्कार टीका—प्रत्यक्षलक्षणमाह—आत्मेन्द्रियेति। आत्माचेतनाधातुः, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि। मनः सत्त्वसंज्ञकम्। अर्थाः विषयाः शब्दादयः, तेषां सन्निकर्षात् संबन्धात्। तत्र क्रमः आत्मा मनसा संबध्यते। मनः इन्द्रियैः—इन्द्रियाणि-अर्थैः। तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्ष एव प्रत्यक्षे विशिष्टं कारणम्, (गौतम सू० १।१।१)। आत्ममनः सन्निकर्षस्तु अनुमानादिसाधारणं कारणम्। तदात्वे तत्कालं। आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षलक्षणेत्यर्थः। या व्यक्ता निश्चयात्मिका बुद्धिः। बुद्धिरिह इन्द्रियबुद्धिः, प्रवर्तते सा प्रत्यक्षं प्रमाणं निरुच्यते—उच्यते, आत्मादिचतुष्टय सन्निकर्षात् तत्कालं यत् अवितथं ज्ञानं उत्पद्यते तत् प्रत्यक्षंप्रमाणं। प्रत्यक्षपूर्वत्वात् अनुमाने स्मृतौ च परम्परया आत्मादिसन्निकर्षजत्वं अस्ति, अतस्तद्व्युदासायतदात्व इति। ग्रीष्मे सूर्यमरीचयः भीमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमानाः लक्ष्यन्ते, तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षात् तत्कालं उदकं—इति ज्ञानमुत्पद्यते। तच्च तस्मिन् तत् इति ज्ञानं भ्रमः। दूरात् चक्षुषा अर्थंपश्यन् कश्चित् तत्कालं नावधारयति स्थाणुरिति वा पुरुष इति वा। तच्च अनवधारणज्ञानं संशयः। एवं भ्रमे संशये चापि आत्मेन्द्रियादिसन्निकर्षजत्वं तात्कालिकत्वं चास्ति, अतस्तद्वारणाय पुनराह—व्यक्तेति। इन्द्रियोपक्रमणीये चोक्तं—तौ पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थ सत्वात्मसन्निकर्षजाः क्षणिका निश्चयात्मिकाश्च इति। यत् आत्मना मनसायुक्तेन। आत्मा मनः संयोगस्य ज्ञानसामान्ये कारणत्वात्। तथा च—"आत्मा ज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानंत्वस्य प्रवर्तते।"

(च० शा० १), स्वयं न तु इन्द्रियद्वारेण उपलभ्यते तत्प्रत्यक्षं। यच्च इन्द्रियैः स्वयमुपलभ्यते तच्च ज्ञानं इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् जायते। इह आत्मा मनः संयोगस्य उपेक्षितत्वेऽपि इन्द्रियमात्रग्रहणं विशिष्टकारणत्वात्। शब्दादीनां प्रत्यक्षे यत् विशिष्टंकारणं तदुच्यते। यत्तु समानमनुमानादि ज्ञानस्य न तत् निवर्त्तते। अक्षपादोऽप्येवमाह—तथाच—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नंज्ञानमव्यपदेश्य-मव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।" (गौ० सू० १।१।४) तत्प्रत्यक्षम्। आत्मप्रक्षस्योदाहरणं—तत्रेति। इन्द्रियप्रत्यक्षस्योदाहरणं शब्दादय इति।

गंगाधरः—प्रत्यक्षं लक्ष्यते-आत्मेत्यादि। आत्मा चेतना धातुरव्यक्तं नाम क्षेत्राधिष्ठितं कालानुप्रविष्टं प्रधानं सत्वरजस्तमो लक्षणं मनसा नित्यानुबन्धं सत्त्वभूतगुणेन्द्रिययोगाच्चैतन्ये कारणमिति। इन्द्रियाणि पञ्च चक्षुरादीनि × × × बुद्धिहेतुत्वात्। न तु कर्मेन्द्रियाणि पञ्च पाय्वादीनि, पाय्वादिसन्निकर्षे ज्ञानानुत्पत्तेश्च। तेषां स्वस्वार्थग्राहित्वं मनःपुरःसरत्वेन × × ×। मन इति सत्त्वसंज्ञकं × × × अर्थाश्च पञ्च शब्दादयः, न तु मनोऽर्थाश्चिन्त्यादिः प्रमाणा-धिकारान्मानसप्रत्यक्षस्याप्रामाण्यात्। मानसाः प्रत्यक्षा हि वक्ष्यन्ते—चिन्त्य विचार्यादयो मनोऽर्था इति। आत्मप्रत्यक्षास्तु ज्ञानेच्छाद्वेषसुखदुःखप्रयत्ना इति। तेषां येन कश्चित् किमपि यादृशं चिन्तयति विचारयति अपरोऽन्यथा चिन्तयति विचारयति तथा येन कश्चित् सुखमनुभवति शत्रुमरणेन तेन तच्छत्रुबान्धवा दुःखमनुभवन्ति इति साधारण विषयत्वाभावात् न तन्मानसप्रत्यक्षमात्मप्रत्यक्षञ्च प्रमाणम्। योगिनां योगसमाधौ यत् प्रत्यक्षं तदपि तेषामेव, न सर्वेषां जनानां प्रत्यक्षं सम्भवति। तैरुपदेशश्चाप्तोपदेश इति। तस्मान्मानसप्रत्यक्षमात्म-प्रत्यक्षं प्रत्यक्षज्ञानमेव न प्रमाणम्। अतोऽर्थाः पञ्चशब्दादयः। तेषां ग्रहणार्थ-मिन्द्रियाणि मनः पुरःसरति संयोगाय यदा तदा तैर्मनः संयुक्तैरात्मना-भीप्सितः शब्दादिरर्थः सन्निकृष्यते, तदा खल्वात्मना स्वाभीष्टार्थमभीप्सितो मनो नियुज्यते। तेन नियुक्तश्च मनस्तदर्थग्राहकमिन्द्रियं स्पर्शेन्द्रियवर्त्मना गच्छति। मनो युक्तञ्च तदिन्द्रियं स्वार्थसंनिकृष्टमेव गृह्णाति। सन्निकर्षश्चवरणाद्यभावे सान्निध्यं यावन्मात्रंव्यवधानेनार्थोग्रहणमर्हति तावन्मात्रं। पूर्वमुक्तमिन्द्रियार्थ सत्त्वात्मसन्निकर्षजाश्चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः क्षणिका निश्चयात्मिकाश्चेति। तेन कतिधा पुरुषीये वक्ष्यते—"या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्त्तते। याति सा तेन निदर्शं मनसा च मनोभवा।" इति षड्विधा बुद्धयस्तासु मध्ये या बुद्धि-रात्मना नियुज्यमानं मनः संयुक्तश्रोत्राद्यन्यतमेन्द्रियाणां स्वार्थेन सह सन्निकर्षात् तदात्वे तत्कालिकी व्यक्ता खल्वव्यभिचारिणी—अव्यपदेश्या व्यवसायात्मिका प्रवतते सा प्रत्यक्षं नाम परीक्षा प्रमाणं निरुच्यते। स्मृत्यनुमानादीनां तदात्वा भावान्न प्रत्यक्षत्वम्। पूर्वानुभूतार्थस्य हि स्मरणं स्मृतिः। प्रत्यक्षपूर्वं हि

ज्ञानमनुमानमिति । अनेन प्रत्यक्षज्ञानेन जन्यते या ज्ञानोपादानोपेक्षान्यतमा बुद्धिः सा प्रमा । वक्ष्यते च कतिधा पुरुषीये—"इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः । ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते ॥ इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते । कल्प्यते मनसा तूद्ध्वं गुणतो दोषतो यथा ॥ जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका । व्यवस्यते तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ।" इति । इन्द्रियेणाभिप्सितमर्थं जिघृक्षुर्मनस्तदिन्द्रियमभिमुखीभूय गृह्णाति—इतीन्द्रियाभिग्रहो मनसः कर्म । तदर्थस्य तदिन्द्रियेण ग्रहणानन्तरमस्य तदिन्द्रियस्य तदर्थान्निग्रहो, निवृत्तिस्तु मनसः कर्म । ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते । × × × ।

चक्रपाणिः—प्रत्यक्षलक्षणमाह—आत्मेन्द्रियेत्यादि । सन्निकर्षादिति संबन्धात् स च सम्बन्धः—संयोगः, समवायः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवेतसमवायः, तद्विशेषेणविशेष्यभाव लक्षणो बोद्धव्यः । व्यक्ता इत्यनेन व्यभिचारिणीमयथार्थबुद्धिं संशयञ्च निराकरोति, तदात्वे तत्क्षणम्, अनेन च प्रत्यक्षज्ञानान्तरोत्पन्नमनुमानज्ञानं स्मरणं च परम्परया आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षजं व्यवच्छिनत्ति, आत्मादिचतुष्टयसन्निकर्षाभिधानं च प्रत्यक्षकारणाभिधानपरं, तेन इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् प्रवर्तते या इत्येतावदेव लक्षणं बोद्धव्यम्, एतेन सुखादिविषयमपि प्रत्यक्षं गृहीतं भवति, तत्र हि हेतुचतुष्टयसन्निकर्षो नास्ति, आत्मसन्निकर्षस्तु प्रमाणज्ञान साधारणत्वेनैव लक्षणार्थमुपयुक्तः, इह च प्रत्यक्षफलस्वरूपापि बुद्धिः प्रत्यक्षशब्देनाभिधीयते तथैव लोकव्यवहारात् । परमार्थतस्तु यतो भवति इन्द्रियादेरीदृशी बुद्धिस्तत्प्रत्यक्षम् । × × × ×—आत्मनेति मनसा, तेन अनेन मानसप्रत्यक्षसुखाद्यवरुद्ध्यते, इन्द्रियैश्चेत्यनेन बाह्यं प्रत्यक्षं गृह्यते । स्वयमुपलभ्यते इति साक्षादुपलभ्यते इति चेन्द्रियव्यापारं सत्यपि यदनुमानविज्ञानं तदसाक्षात्कारित्वान्न प्रत्यक्षम् ॥"

"तत्र कल्पना पोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् । अभिलाप-संसर्ग-योग्य प्रतिभास प्रतीतिः कल्पना, तया रहितम् । तिमराशुभ्रमणनौयान-संक्षोभाद्यनाहित विभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।" (न्या० वि०)

"तच्च चतुर्विधामिन्द्रियज्ञानं, मनोविज्ञानं, आत्म संवेदनं, योगिप्रत्यक्षञ्च ।" (न्या० वि०)

प्रत्यक्ष-प्रमाण के लक्षण

भावार्थ—इन्द्रिय और विषय के सन्निकष से हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष है । मनः पुरःसर इन्द्रियों द्वारा गृहीत भ्रमरहित वस्तु प्रत्यक्ष कहलाता है (डल्हण) । आत्मा (चेतनाधातु), इन्द्रियाँ (चक्षु आदि), सत्त्वसंज्ञक मन और अर्थ—विषय (शब्दादि) इनके सन्निकर्ष (संयोग) से अर्थात् आत्मा का जब मन के साथ,

संयोग होता है और मन इन्द्रियों के साथ तथा इन्द्रियाँ शब्दादि विषयों के साथ, तब जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह **प्रत्यक्ष** कहलाता है। इस सम्बन्ध में गौतम सूत्र १।१।४ में भी "प्रत्यक्ष ज्ञान का विशिष्ट कारण इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष" माना है। **आत्मा, मन, इन्द्रिय** तथा **इन्द्रिय-विषय** इनका सम्बन्ध जब उक्त क्रम से होता है और उस काल में (तदात्वे) जो निश्चयात्मिका (व्यक्ता) इन्द्रिय-बुद्धि उत्पन्न होती है वह 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' कहलाता है अर्थात् आत्मादिचतुष्टय के सन्निकर्ष से तत्काल जो अवितथ (सत्य) ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। ग्रीष्मऋतु में भयङ्कर ऊष्मावाली सूर्यमरीचियों के स्पन्दन को देखकर जल का भ्रम हो जाता है, पर वह जल नहीं होता। अतः आत्रेय ने "तदात्वे या व्यक्ता बुद्धिः" यह वाक्य उक्त भ्रम का निराकरण करने के लिये कहा है। (चरक)

वक्तव्य—'प्रत्यक्ष' पद **'प्रति'** और **'अक्ष'** इन दो शब्दों का यौगिक है। प्रति का अर्थ पहले (Before) और निकट (Near) होता है। 'अक्ष' का अर्थ इन्द्रियाँ (Sense organs) तथा नेत्र (Eyes) होता है, इस प्रकार प्रत्यक्ष पद का अर्थ नेत्र तथा ज्ञानेन्द्रियों के पहले या सन्निकट हुआ। सन्निहित (Immediate) तथा साक्षात् (Direct) भी प्रत्यक्ष पद का भावार्थ है। यह परोक्ष (Mediate and indirect) के विपरीत अर्थ में व्यवहृत होता है। दार्शनिक भाषा में यह (प्रत्यक्ष) शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत होता है। इसका प्रयोग संज्ञा तथा विशेषण दोनों रूपों में पाया जाता है, जैसे—(१) **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** यहाँ प्रत्यक्ष शब्द प्रमाण का विशेषण है। (२) यह **'घट प्रत्यक्ष'** है, यहाँ प्रत्यक्ष संज्ञारूप से व्यवहृत हुआ है।

"इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नंज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकंप्रत्यक्षम् ॥"

—न्या० द० १।१।४

प्रत्यक्ष ज्ञान के करण अर्थात् साधकतम कारण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है (१) **सविकल्पक** और (२) **निर्विकल्पक**। (१) **सविकल्पक**—(Determinate) वह ज्ञान है जिसमें यह मालूम हो कि यह अमुक वस्तु है, वह सविकल्पक-प्रत्यक्ष है।

(२) **निर्विकल्पक**—जिसमें यह न मालूम पड़े कि यह क्या वस्तु है, वह ज्ञान निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष कहलाता है जैसे यह कुछ (Indeterminate) है।

वाचस्पति मिश्र ने अपनी तात्पर्य टीका में प्रत्यक्ष लक्षण में आनेवाले **'अव्यपदेश्य'** तथा **'व्यवसायात्मक'** पदों को क्रमशः इस द्विविध कल्पना का मूल बतलाया है। पर इस विषय का कोई विवरण भाष्य या वार्तिक में नहीं मिलता। कुमारिल भट्ट के श्लोक वार्तिक में प्रत्यक्ष के ये दोनों भेद बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष खंडन के अवसर पर स्वीकृत किये गये हैं। पाश्चात्य दर्शन में वस्तुग्रहण के अवसर पर

जो 'सेन्सेशन' (Sensation) और 'परसेप्शन' (Perception) में अन्तर बताया है, वही अन्तर निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष में भी जान पड़ता है[1]।

सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण के भी दो भेद होते हैं—(१) **लौकिक** और (२) **अलौकिक**। लौकिक प्रत्यक्ष (Normal or usual) भी दो प्रकार से उपलब्ध होता है। (१) बाह्येन्द्रिय द्वारा और (२) अन्तरिन्द्रिय द्वारा। इन्हें बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। बाह्य के पुनः पाँच भेद होते हैं जो पञ्चेन्द्रिय द्वारा ग्रहण होने से हुआ है। आभ्यन्तर (मानस) प्रत्यक्ष केवल एक प्रकार का होता है। इस प्रकार सब मिलकर लौकिक प्रत्यक्ष छः प्रकार के होते हैं। लौकिक-प्रत्यक्ष-ज्ञान का हेतु, इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष छः प्रकार का है, **यथा—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेत समवाय, समवाय, समवेतसमवाय** और **विशेषण-विशेष्यभाव**।

(१) **संयोग** (Conjunction)—आँख से घड़े का प्रत्यक्ष होना संयोग सन्निकर्ष है।

(२) **संयुक्त समवाय** (Inherence in that which is conjoined)—घड़े के रंग का प्रत्यक्ष होना संयुक्त समवाय सन्निकर्ष है; क्योंकि आँख से संयुक्त घड़े के साथ रंग का समवाय[2] सम्बन्ध है।

(३) **संयुक्तसमवेतसमवाय** (Inherence in the inherent in that which is conjoined)—रंग का सामान्यरूप जाननेवाले प्रत्यक्ष में 'संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष' है; क्योंकि आँख से संयुक्त घड़े में उसका रंग समवेत है, उस रंग के साथ सामान्य रंग का समवाय[2] सम्बन्ध है।

(४) **समवाय** (Inherence)—कानद्वारा शब्द (आवाज़) का प्रत्यक्ष होना समवाय सन्निकर्ष है; क्योंकि कान के भीतर जो आकाश (खोखली जगह) है वही कर्णेन्द्रिय है और शब्द आकाश का गुण होने के कारण शब्द और आकाश में समवाय सम्बन्ध है। गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है।

(५) **समवेतसमवाय** (Inherence in inherent)—शब्दत्त्व (शब्द-गुण) का साक्षात्कार करना 'समवेतसमवाय सन्निकर्ष' है, क्योंकि शब्दत्त्व का शब्द के साथ समवाय सम्बन्ध है और शब्द का कान के साथ।

(६) **विशेषण-विशेष्यभाव** (The relation of qualification and qualified)—अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होना विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष

१—Sensation से गुणमात्र का ज्ञान होता है। इसके आधार पर जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह Perception है।

२—इस शब्द की संक्षिप्त व्याख्या इस अध्याय के अन्त में तथा पदार्थ-विवेचन में विस्तृतरूप से की जायगी।

है। पृथ्वीतल पर घड़े का अभाव है, ऐसा ज्ञान तब होता है जब कि घड़े का अभाव उस पृथ्वीतल का विशेषण हो जो कि आँख से संयुक्त है। जैसे घट-रहित पृथ्वी, इस वाक्य में घट-रहित या घटाभाव पृथ्वी का विशेषण है।

उपर्युक्त लौकिकप्रत्यक्षों में (१) घ्राणजप्रत्यक्ष (Olfactory perception) वह है जो विविध प्रकार के गन्धों का उद्घाटन करता है। यह प्रत्यक्ष घ्राणेंद्रिय (नासा) द्वारा होता है। (२) रसना-प्रत्यक्ष (Gustatory perception) वह है जिसके द्वारा विविधप्रकार के स्वादों या रसों का उद्घाटन होता है। यह रसनेंद्रिय (जिह्वा) द्वारा होता है। (३) चाक्षुष-प्रत्यक्ष (Visual perception) वह है जिसके द्वारा नाना प्रकार के रूपों का उद्घाटन होता है। यह चक्षु (नेत्र) द्वारा होता है। (४) श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष (Auditory perception) वह है जिसके द्वारा नाना प्रकार के शब्दों का उद्घाटन होता है। यह श्रोत्रेन्द्रिय (कान) द्वारा होता है। (५) त्वाची प्रत्यक्ष (Tactile) वह है जिसके द्वारा नानाप्रकार के शीतोष्ण, मृदु और रूक्ष गुणों का भान होता है। यह स्पर्शनेन्द्रियद्वारा अर्थात् त्वचाद्वारा होता है। (६) मानसप्रत्यक्ष (Mental perception) वह है जो मन के द्वारा सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष का ज्ञान कराता है।

अलौकिकप्रत्यक्ष (Abnormal or unusual)—तीन प्रकार का होता है। (१) **सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति** (२) **ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति** और (३) **योगज**।

१—सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति—वह अलौकिकप्रत्यक्ष है, जिससे जाति या विषय के सम्पूर्ण वर्ग का ग्रहण हो। जैसे किसी एक गौ को देखकर उसके सम्पूर्ण वर्ग या जाति का ज्ञान हो जाता है तथा दृश्यमानधूम के चाक्षुषज्ञान से सकल धूम का धूम में विद्यमान धूमत्व सामान्य से, भान हो जाता है।

२—ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति—वह अलौकिक प्रत्यक्ष है जिसके द्वारा हमें विषय (object) के गुणों का साक्षात् ज्ञान होता है, पर उस विषय के गुण से उसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं होता। तथा एक ही समय एक प्रत्यक्ष के साथ-साथ दूसरा भी प्रत्यक्ष, उसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय से सन्निकर्ष न होने पर भी होता है। जैसे एक बर्फ के टुकड़े का चाक्षुष-ज्ञान के साथ-साथ उसकी शीतलता का ज्ञान होना, तथा सामने रखे हुए दूरस्थ पुष्प के रमणीयरूप के साथ-साथ उसकी सुगन्ध का भी ज्ञान होता है। दूरस्थ पुष्प के साथ घ्राणेन्द्रिय का सन्निकर्ष न होने पर भी उसकी भीनी-भीनी गन्ध का अनुभव होना अलौकिक सन्निकर्ष होता है। अतः इसे 'ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति' कहते हैं।

३—योगज-प्रत्यक्ष—यह वह असाधारण प्रत्यक्ष है जो योगियों को ही साक्षात् रूप से हुआ करता है। सूक्ष्म (परमाणु आदि) व्यवहित (दीवाल आदि से) तथा विप्रकृष्ट (काल और देश, उभय रूप से दूरस्थ) वस्तुओं का ग्रहण लोकप्रत्यक्ष द्वारा कथमपि सिद्ध नहीं होता[1]। परन्तु ऐसी वस्तुओं का अनुभव योगी लोग ही करते हैं। इनके ज्ञान के लिए प्रणिधान की सहायता अपेक्षित है। यह युक्त और **यूञ्जान** के भेद से दो प्रकार का होता है। युक्त का सर्वदा भान होता रहता है, दूसरा चिन्तापरक है।[2] इस प्रकार जो भी असाधारण प्रत्यक्ष होता है, उन्हें प्रत्यासत्ति कहते हैं।

अनुमान के लक्षण

प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालंचानुमीयते।
वह्निर्निगूढ़ो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात्॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम्।
दृष्ट्वा बीजात् फलंजातमिहैव सदृशं बुधाः॥

—च० सू० ११

"अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः॥" —च० वि० ४

उपस्कार टीका—अनुमानमाह-प्रत्यक्षपूर्वमिति। प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं च अनुमानमिति शेषः। प्रत्यक्षं पूर्वं यस्य तत्प्रत्यक्षपूर्वम्। लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनमित्यनुमानस्य प्रत्यक्षपूर्वत्वम् तथा च केनचित् क्वचित् सम्बद्धौ वह्निधूमौ दृष्टौ। ततः स पर्वते धूमं दृष्ट्वा वह्निमनुमिनोति। त्रिविधमिति—पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं चेति त्रिविधम्। तदुक्तमक्षपादेन—"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च।" (न्या० द० १।१।५)। तत्पूर्वकं प्रत्यक्षपूर्वकम्। यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते तत्पूर्ववत्। यथा मेघोन्नत्या वृष्टिरनुमीयते बीजाच्च फलम्। यत्र कार्येणकारणमनुमीयते तत्शेषवत्। यथा गर्भदर्शनात् मैथुनस्यानुमानम्। फलाद्वा बीजस्य। सामान्यतो दृष्टं कार्यकारणभिन्नलिङ्गकम्। यथा—धूमात् वह्नेरनुमानम्। त्रिकालमिति अतीतानागतवर्तमानविषयं। अनुमानेन त्रिकालयुक्ता अर्थाः गृह्यन्ते। प्रत्यक्षं तु वर्तमानविषयं। उदाहरणान्याह—निगूढ़ः—अदृश्यमानः—वह्निः

१—"न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणम्।" —व्यासभाष्य

२—योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः।
युक्तस्य सर्वथा भानं चिन्तासह कृतोऽपरः॥

वर्तमानधूमेन धूमदर्शनात् अनुमीयते । निगूढं मैथुनं अतीतं गर्भदर्शनात् अनुमीयते । बुधः बुद्धिमन्तः इहैव बीजात् सदृशं कारणानुरूपं फलं जातं दृष्ट्वा इह बीजफलयोः कार्यकारणलक्षणां व्याप्तिं गृहीत्वा बीजात्-अनागतं भविष्यत् सदृशं फलं-एव अनुमानेन व्यवस्यन्ति-अवधारयन्ति । अनेन-अनुमानस्य प्रत्यक्ष-पूर्वत्वं त्रैविध्यं त्रैकाल्यं च दर्शितम् । ×××× विज्ञाते—अर्थे कारणोपपत्ति-दर्शनात् अविज्ञातेऽपि तदवधारणं युक्तिः । उक्तं च—"बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान् । युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ॥ इति । (च० सू० ११) सा च व्याप्तिरूपा । तदुक्तमक्षपादेन—"अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ।" (न्या० द० १।१।४०) युक्त्यपेक्ष-स्तर्कः, युक्त्या कार्यकारणभावोपपत्या अविज्ञातस्याप्यर्थस्य विज्ञानं । यथा-महानसादौ वह्निधूमौ एकत्र दृष्ट्वा केनचित् तयोः कार्यकारणभावः गृहीतः पश्चात् सः पर्वते धूमं दृष्ट्वा वह्निधूमयोः कार्यकारणभावोपपत्या अदृष्टमपि वह्निं अवबुध्यते । तत् ज्ञानं—अनुमानम् । ××××

गंगाधरः—अथ प्रत्यक्षानन्तर्यादुद्दिष्टं अनुमानं लक्ष्यते—प्रत्यक्षपूर्वमित्यादि । मानसे प्रत्यक्षे ज्ञाने यत्तु मानसंज्ञानंप्रमाणं तदुपदेष्टमनुमानमाह—प्रत्यक्ष-पूर्वमिति-प्रत्यक्षं पूर्वं यस्य तत्प्रत्यक्षपूर्वम् । त्रिविधं कारणं कार्यसामान्यतो-दृष्टम् । त्रिकालं भूतं भवद्भविष्यच्च । वस्तु यत् परोक्षं तदनुप्रत्यक्षात् यन्मीयते ज्ञायते तदनुमानम् । प्रत्यक्षपूर्वमित्यनेन ख्यापितं यत् यस्य कारणं यस्य च कार्यस्य यत् कारणं यस्य च सामान्यं यत्र तयोस्तयोः सम्बन्धयोनियत-सम्बन्धस्य प्रत्यक्षेण ज्ञानं लिङ्गज्ञानं तयोः, परोक्षस्य लिङ्गस्मृतिश्च परोक्षस्य ज्ञाने हेतुरिति ज्ञापयिष्यते, त्रिविधं रोगविशेषविज्ञानीये रोगभिषग्जितीये च विमाने । अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्ष इति । युक्तिश्च अत्रातः परं वक्ष्यते —"बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान् । युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ।" इति । तेनात्र प्रत्यक्षपदं प्रत्यक्षादिव्यवसायात्मक ज्ञानरूपप्रमाणोपलक्षितम् । अप्रत्यक्षाणां उपलब्धिकारणं लिङ्गं पञ्चविध हेतुपूर्वरूपरूपोपशयसम्प्राप्तिभेदेन भवति । तत् पंचविधं लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धज्ञानं प्रत्यक्षादिप्रमाणं पूर्वं यस्य तस्य तत् पंचविधलिङ्गदर्शनादिना तल्लिङ्ग-कत्वे न तस्य च स्मृतितोऽप्रत्यक्षस्य मनसा यज्ज्ञानमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं तदनुमानम् । तत् खलु बहुकारणयोगेनोपपत्तितो यद्यथा तत्तथा प्रकाश-नान्तरनिश्चयरूपम् । तेन हि गुणतो दोषतो वा निश्चित्य हातुमुपादातुमु-पेक्षितुं वा वाङ्मनः शरीरकर्मभिर्व्यवस्यति । सम्बन्धश्च लिङ्गलिङ्गिनोः कार्यकारणभावः संयोगः समवायश्च । तत् सम्बन्धज्ञानं च प्रमाणावयवैः प्रत्यक्षाद्यन्यतमैकानेकैर्भवति । लिङ्गलिङ्गिनोश्चैषः सम्बन्धः उभयोरेकतरस्य

वा नियतधर्म साहित्यं व्याप्तिरुच्यते । स चासकृत्प्रत्यक्षादिना निश्चियते न सकृत्प्रत्यक्षादिना । तथा च कियदुदाहरति वह्निनिगूढ़ो धूमेनेत्यादि । अतीतं कार्येण कारणमेव व्यवस्यन्ति यथा निगूढ़ो वह्निर्धूमेनानुमीयते कुत्रचिदग्निः संवृतो वर्तत इति । यस्तु खलु पूर्वदृष्टवान् धूमो जायते आर्द्रेन्धनजवह्नित एव नान्यस्मात् । ततो वह्निधूमयोर्नियतं धूमस्य धर्मस्य वह्नौ धर्मिणि साहित्यं ज्ञायते । जन्यजनकभावः सम्बन्धः । अत्र युक्तिः—न धूम आर्द्रेन्धनज वह्निमन्तरेण सम्भवति । यत्र कुत्रचित् धूमो यदि वर्तते तथा तेनैव धूमेन तज्जनको वह्निरनुमीयते । गृहान्तरे य आर्द्रेन्धनजोवह्निस्तस्मादुत्तिष्ठन् धूम आकाशे गृहान्तरे वा यद्वर्तते तयोर्वह्निधूमयोर्विभागवतो न संयोगः सम्बन्धः । किन्तु तेन धूमेनानुमीयते वर्तते कुत्रचिदस्य धूमस्य जनको निगूढ़ो वह्निरिति, इति कार्येण कारणस्य वर्तमानस्यानुमानम्, एवमेवान्यत् सर्वं बोध्यम् । यथा देहेन्द्रियमनः सन्तापेन ज्वरो वर्तमानोऽनुमीयते, ज्वरस्य रूपं देहेन्द्रियमनःसंताप इत्याप्तोपदेशेन ज्वरस्य धर्मिणो धर्मस्य तत् संतापस्य नियतसाहित्यं येन ज्ञातमसकृत्, स यदा देहादिसन्तापं स्पर्शनेन जानाति तदा ज्वरमनुमिनोति । स एव ज्वरो यदि गूढ़-लिङ्गो वर्तते रोगान्तरतया वा संक्षीयते तदा ज्वरप्रशमनैरौषधान्नविहारैः प्रयुक्तै-स्तस्य व्याधेरुपशयतो ह्रासेन ज्ञातेन ज्वरोऽनुमीयते । अनुपशयतो बुद्ध्या ऽनुमीयते रोगान्तरमिति नायं ज्वर इति । ×××× इति कार्येण वर्तमानस्य कारणस्यानुमानमुदाहृत्यातीतस्यकारणस्य कार्येणानुमानमुदाहरति । मैथुनं गर्भदर्शनात् इत्यादि । अतीतं मैथुनं गर्भदर्शनाद् अनुमीयते । एवमेतत्प्रकारेणा तीतंकारणं कार्येणानुमीय बुधा व्यवस्यन्ति । अत्रेयं युक्तिरपेक्षते । यः खलु आप्तोपदेशेन ज्ञातवानेवमदुष्टशुक्रपुरुषेणादुष्टशोणितगर्भाशयया ऋतुःस्नातया सह संवसेत् तस्य पुत्रादिकारणदिष्टाधिष्ठितशुक्रं तस्या गर्भाशयगतादुष्टार्तवेन संसृष्टं पाञ्चभौतिकं परलोकादवक्रामति बीजधर्माजीवात्मा । तदा तत् पञ्च-महाभूतानामात्मनश्च संयोगात् गर्भसंभवःस्यादिति । स खलु नार्या गर्भदर्शना-देवमूहतिपञ्चमहाभूतान्यात्माचेतिषड्धातुसंयोगात् गर्भसंभवः । षड्धातु-संयोगाश्च स्त्रियाः पुंसश्चार्त्तवशुक्रसंयोगमन्तरेण न भवति । तयोः संयोगश्च नतें मैथुनाद् भवति इति युक्तितः पुंसाऽस्या मैथुनमनुमिनोत्यतीतमिति युक्त्य-पेक्षस्तर्कः । इहापि गर्भमैथुनयोः कार्यकारणभावः संबन्धो नियतधर्म साहित्य-मुभयोः क्वचित् एकतरस्य क्वचित् । ×××× । अथ कारणेन भविष्यतः कार्यस्यानुमानमुदाहरति—एवमित्यादि । बीजात्फलमनागतमिति । अनागतं भविष्यत्फलं बीजादनुमानाय व्यवस्यन्तीति योजना । तत्र युक्तिः—क्षेत्रकर्षणं जलमृत्तुवर्षादिबीजञ्चेति चतुष्कसंयोगात् फलमस्य शस्यं भविष्यति । यदिदं कृष्टायांभूमौ बीजं वपति तद्वर्षणादिजलं चेल्लभेत, तदांकुरं जनयिष्यत्यथ-

वर्द्धिष्यति, न चेज्जलं लभेत् शोषमापद्यते---इति युक्त्या तर्कयति। यदि शोषं नापत्स्यते जलं लब्ध्वा वर्धते तदा शरदादौ काले फलिष्यतीति युक्त्यपेक्षस्तर्कोऽत्रानुमानम्। एवमेव व्याधितस्य तस्य निदानदर्शनात् स स रोगो भविष्यतीति अनुमीयते। ×××× एवं सर्वत्रकारणेन भविष्यत्कार्यस्यानुमानं स्यात्। तत्र सामान्यतो दृष्टं च भूतं भवद् भविष्यच्च कार्यमनुमीयते तदुदाहरति। दृष्ट्वा बीजात् फलंजातमिहैव सदृशं बुधा व्यवस्यन्तीति योजना। आम्रबीजादुप्ताद् यत् फलं जातं तत्तदाम्रबीजसदृशं दृष्ट्वा बुधा व्यवस्यन्ति---यादृशं बीजं तादृशं फलं भवति, भूत, भविष्यति च इत्येवमनुमाय यत् फलमिप्सति तद्बीजं वपति इत्येवं व्यवस्यन्ति। बीजसदृशं फलं नान्यस्माद्बीजादन्यफलमिति युक्तिः॥

चक्रपाणिः---अनुमानरूपमाह---प्रत्यक्षेत्यादि। प्रत्यक्षग्रहणं व्याप्तिग्राहकप्रमाणोपलक्षणार्थं, तेन प्रत्यक्षपूर्वमिति व्याप्तिग्राहकप्रमाणपूर्वम्। त्रिविधमित्यनुमानत्रैविध्यं दर्शयति, तेन, कार्यात् कारणानुमानं यथा---गर्भदर्शनान्मैथुनानुमानं, तथा कारणात् कार्यानुमानं, यथा---बीजात् सहकारिकारणान्तरयुक्तात् फलानुमानं, तथा अकार्यकारणभूतानाञ्च सामान्यतो दर्शनादनुमानं यथा---धूमाद्वर्तमानलक्षणसम्बन्धादग्न्यनुमानम्, एतत् त्रिविधमनुमानं गृहीतं भवति; त्रिकालमित्यनेन त्रिकालविषयत्वमनुमानस्य दर्शयति; अनुमीयते इत्यत्र 'येन तदनुमानम्' इति वाक्यशेषः; तेन, व्याप्तिग्रहणादनु-अनन्तरं मीयते सम्यक् निश्चीयते परीक्षार्थे येन तदनुमानम्। व्याप्तिस्मरणसहायलिङ्गदर्शनमित्यर्थः। त्रिविधमिति यदुक्तं तस्योदाहरणं दर्शयति---वह्निरित्यादि। एतच्च व्याकृतमेव। निगूढो अदृश्यमानः; एवं व्यवस्यन्त्यतीतमिति व्यवच्छेदः। बीजादिति सहकारिकारणान्तरजलकर्षणादियुक्तात् इति बोद्धव्यम्। अनागतं फलं सदृशं व्यवस्यन्तीति सम्बन्धः। 'दृष्ट्वा बीजात् फलं जातं' इत्यनेन बीजफलयोः कार्यकारणलक्षणां व्याप्तिं दर्शयति। यद्यपि च कारणं कार्यं व्यभिचरति, यतः नावश्यं बीजसद्भावे फलं भवति, तथापि सहकारिकारणान्तरयुक्तं बीजं फलं न व्यभिचरति इत्यभिप्रायो बोद्धव्यः, कारणसामग्री च कार्ये न व्यभिचरत्येव॥

"अनुमानं द्विधा, स्वार्थं परार्थञ्च।" तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्। प्रमाण फल व्यवस्थाऽत्रापि प्रत्यक्षवत्।" (न्या० वि०)

अनुमान के लक्षण

भावार्थ---'अनु' का अर्थ है पश्चात् और 'मान' का अर्थ है ज्ञान करना अर्थात् लिङ्ग को देखकर उसके सम्बन्धी लिङ्गी का दोषरहित (अव्यभिचारी) ज्ञान जिसके द्वारा किया जाय उसे **अनुमान-प्रमाण** कहते हैं। जैसे---"किसी स्थान

में प्रनष्ट शल्य का ज्ञान उसके लक्षण (लिङ्ग) पाक तथा ऊष्मा से, अर्थात् संदिग्ध स्थान पर "चन्दन, घृत प्रलेप के क्रमशः शुष्क तथा पिघलने से करना" अनुमान ज्ञान है, (डल्हण)। "युक्ति सापेक्ष तर्क को अनुमान कहते हैं" (चरक)। विज्ञात अर्थ में कारण और उपपत्ति को देखकर अविज्ञात अर्थ में भी उसका अवधारण 'युक्ति' कहलाता है (उपस्कार टीका)। अविज्ञात तत्त्व के अर्थ में कारण और उपपत्ति से तत्त्वज्ञान के लिए जो 'ऊहा' होती है, उसे 'तर्क' कहते हैं (उपस्कार टीका)। युक्ति सापेक्ष तर्क अर्थात् युक्ति के द्वारा कार्यकारण-भावोपपत्ति से अविज्ञात अर्थ का ज्ञान करना, जैसे चौका (महानस) घर में वह्नि और धूम को एक साथ देखकर उनमें कार्यकारण भाव का ग्रहण कर, किसी पर्वत पर धूम को देखकर वह्नि और धूम के कार्यकारणभावोपपत्ति से अदृष्ट वह्नि का ज्ञान प्राप्त करना ऐसा ज्ञान अनुमान कहलाता है (चरक उपस्कार टीका)। यह अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक तीन प्रकार का तीनों काल में होनेवाला होता है। लिङ्ग के दर्शन से लिङ्गी का ज्ञान होना अनुमान के प्रत्यक्षपूर्वकत्व को प्रमाणित कर देता है। अनुमान तीन प्रकार का होता है (१) **पूर्ववत्,** (२) **शेषवत्** और (३) **सामान्यतो दृष्ट**। जहाँ कारण से कार्य का अनुमान किया जाय वहाँ 'पूर्ववत्' अनुमान होता है। जैसे—बीज से फल का अनुमान। जहाँ कार्य से कारण का अनुमान किया जाय वहाँ 'शेषवत्' अनुमान होता है, जैसे—गर्भ को देखकर मैथुन का अनुमान तथा फल को देखकर बीज का अनुमान। कार्य और कारण दोनों से भिन्न अनुमान को 'सामान्यतो दृष्ट' कहते हैं, जैसे—धूम से वह्नि का अनुमान। त्रिकाल का अर्थ है तीनों—**अतीत, अनागत** और **वर्तमान काल** का अनुमान, जैसे—निगूढ़—अदृश्यमान 'वर्तमानवह्नि' का अनुमान धूम को देखकर करना, तथा निगूढ़ 'अतीत मैथुन' का अनुमान गर्भ को देखकर करना। इसी प्रकार बुद्धिमान् लोग बीज के सदृश ही फल को देखकर और यह समझकर कि कारण-बीज के अनुरूप ही कार्य-फल होता है; बीज और फल में कार्य-कारण-लक्षण वाली व्याप्ति का ग्रहण कर बीज से 'अनागतफल' का अनुमान कर लेते हैं।

वक्तव्य—'अनुमितिकरणमनुमानम्'। (तर्कसंग्रहः)। "मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्" (वात्स्यायनः)। "तिल्लिङ्गिलिङ्गपूर्वकम्" (न्यायवार्तिकः)।

अनुमिति का करण (साधकतम कारण) अनुमान है। परामर्श से उत्पन्न हुआ ज्ञान 'अनुमिति' है। व्याप्ति सहित पक्षधर्मता का ज्ञान 'परामर्श' है। —यह ज्ञान कि इस पर्वत पर इस प्रकार का धुआँ दिखाई देता है जो अग्नि व्याप्य (साथ मौजूद रहने वाला) है। इससे उत्पन्न हुआ यह ज्ञान कि पर्वत

पर आग है—अनुमिति है। किसी लिङ्ग के ज्ञान से उस लिङ्ग के धारण करने वाली वस्तु (लिङ्गी) का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है। जैसे—पर्वत के शिखर से निकलने वाली धूम-रेखा को देखकर उस पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञानकर यह कहना कि पर्वत वह्निमान है; अनुमान-प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है। "पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्।" व्याप्ति का स्मरण अनुमान के लिये परमावश्यक साधन है।

व्याप्ति—जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, इस प्रकार के साहचर्य (साथ-साथ रहने के) नियम का नाम 'व्याप्ति' है। रसोई घर में धूम और अग्नि के साहचर्य का अनुभव (ज्ञान) हुआ है, अतः इसके बलपर पर्वत पर धूम देखकर वह्नि का अनुमान किया जाता है। "पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्" इस वाक्य के कहने से पर्वत—पक्ष, वह्निमान्—साध्य और धूमात्—हेतु की उपलब्धि होती है। अन्नभट्ट ने पक्ष उसे बतलाया है, जिसमें साध्य की स्थिति संदिग्ध है। "संदिग्धसाध्यवान् पक्षः"। यदि साध्य की सत्ता का निश्चय हमें पूर्व से ही प्राप्त हो तो उसके विषय में अनुमान की आवश्यकता ही नहीं। परन्तु नव्य नैयायिक लोग 'संदिग्ध-साध्यवत्ता' को पक्षता का लक्षण नहीं स्वीकार करते। उनकी राय में वस्तु का पूर्वज्ञान अनुमान का बाधक नहीं हो सकता, यदि उस वस्तु को सिद्ध करने की अभिलाषा (सिसाधयिषा)[1] अनुमन्ता में विद्यमान हो। अतः सिसाधयिषा की सत्ता पक्षता का प्रधान लक्षण हुआ। जिस वस्तु को सिद्ध करना हो उसे 'साध्य' और जिसके द्वारा सिद्ध किया जाय उसे 'हेतु' कहते हैं। साध्य का दूसरा नाम **व्यापक** और हेतु का **व्याप्य, साधन** तथा **लिङ्ग** है।

पक्षधर्मता—व्याप्य (जिस वस्तु के साथ कोई दूसरी वस्तु सदा ही रहती हो उस) का पर्वत आदि किसी स्थान पर वर्तमान होना 'पक्षधर्मता' कहलाता है।

अनुमान के भेद—अनुमान दो प्रकार का होता है (१) **स्वार्थानुमान** और (२) **परार्थानुमान**।

स्वार्थानुमान—अपनी अनुमिति[2] का हेतु स्वार्थानुमान है। जैसे—कोई मनुष्य चौके (महानस घर) आदि में बार-बार धुएँ और अग्नि को साथ-साथ देखकर इस निश्चय पर पहुँचकर कि जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी है—

१—"सिसाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न तिष्ठति स पक्षः"
—मुक्तावली अ० ७०

२—"परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः"। व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानं। यत्र यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। "व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।"
—तर्कसंग्रहः

'एक पवत के समीप पहुँचकर वहाँ पर धुआँ उठता देखकर उस व्याप्ति को याद करे, उस स्मरण के कारण उसे यह ज्ञान हो जाय कि वहाँ पर आग है, इसका नाम "लिङ्ग-परामर्श" है। इस लिङ्ग-परामर्श से ही यह ज्ञान उत्पन्न हुआ कि पर्वत पर आग है। इसका नाम 'स्वार्थानुमान' है और यह अपने समझने के लिए होता है।

परार्थानुमान—जब कि अपने आप धुएँ से अग्नि का अनुमान करके कोई आदमी दूसरे को समझाने के लिए निम्न पाँच अवयवों का प्रयोग करता है, उसको परार्थानुमान कहते हैं। जैसे—पर्वत पर आग है, क्योंकि वहाँ पर धूम है। जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ आग है। जैसे कि चौके में। यहाँ पर भी ऐसा ही होना चाहिए इसलिए यहाँ पर भी आग है। लिङ्ग के इस प्रकार के प्रतिपादन से दूसरा व्यक्ति भी पर्वत पर आग होने का अनुमान करता है।

पञ्चावयव—(१) **प्रतिज्ञा,** (२) **हेतु,** (३) **उदाहरण,** (४) **उपनय** और (५) **निगमन** ये पाँच अवयव हैं। पर्वत पर आग है यह 'प्रतिज्ञा' है, वहाँ पर धुआँ होने की वजह से—यह हेतु है। जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ आग है जैसे—चौका में—यह 'उदाहरण' है। यहाँ भी वैसी ही हालत है—यह 'उपनय' है। इसलिये यहाँ पर आग है—यह 'निगमन' है।

वात्स्यायन ने निम्न पाँच अवयवों का उल्लेख किया है—(१) **जिज्ञासा,** (२) **संशय,** (३) **शक्यप्राप्ति,** (४) **प्रयोजन** और (५) **संशयव्युदास**। भाष्यकार के मत से इनकी विशेष आवश्यकता नहीं होती। पूर्वोक्त पञ्चावयवों द्वारा परार्थानुमान (Demonstrative inference or Syllogism) का पूर्ण ज्ञान (नैयायिकों के मत से) हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनसे स्पष्टीकरण बहुत अच्छा हो जाता है और किसी प्रकार का सन्देह उस व्यक्ति के मन में जिसको समझाया जाता, नहीं रह जाता है। परन्तु तार्किकों का विचार है कि उपरोक्त अवयवों की संख्या घटाई जा सकती है। क्योंकि प्रतिज्ञा (Enunciation) और निगमन (Conclusion) में कोई वास्तविक भेद नहीं है। यहाँ एक ही बात को दुहराया जाता है। उपनय (application of the general rule to the particular case) और हेतु (Reason) का पार्थक्य भी कोई अर्थ नहीं रखता, जब कि व्याप्ति (Generalisation) का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार हमारे सामने तीन अवयव (Parts of Syllogism) प्रतिज्ञा, हेतु और व्याप्ति वाक्य रह जाते हैं। निगमन का प्रतिज्ञा में तथा उपनय और उदाहरण का व्याप्ति में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः परवर्ती नैयायिकों के अन्दर उक्त तीन अवयवों से ही अनुमान को सिद्ध करने की प्रवृत्ति हो गई प्रतीत होती है। इन

तीन—प्रतिज्ञा, हेतु और व्याप्ति या उदाहरण को ही वे परार्थानुमान की सिद्धि के लिये पर्याप्त समझते हैं। ये तीन अवयव पाश्चात्य तार्किकों के 'कन्क्लुजन' (Conclusion), माइनर प्रेमिस (Minor Premise) और 'मेजर-प्रेमिस' (Major Premise) से मिलते हैं। इनमें केवल पंक्तीकरण में भेद प्रतीत होता है। भारतीय तर्कशास्त्र में पहले प्रतिज्ञा, बाद में हेतु और उसके बाद उदाहरण ऐसा क्रम आता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में पहले 'मेजर प्रेमिस' जो व्याप्ति के समान है, बाद में 'माइनर प्रेमिस' जो हेतु से साम्य रखता है और अन्त में 'कन्क्लुजन' जो प्रतिज्ञा के समान है ऐसा क्रम होता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में उक्त तीनों अवयवों की व्यावहारिक विचार में आवश्यकता सर्वदा नहीं होती। साधारणतः उनमें कोई एक उपेक्षित होता है। जब कभी किसी वस्तु-स्थिति के निर्णय में विशेष छानबीन करने को होता है, तभी तीनों की आवश्यकता पड़ती है, अन्यथा नहीं। भारतीय विचारकों में भी वेदान्ती, मीमांसक, बौद्ध तथा जैन विचारक व्यवहार में दो ही अवयवों को पर्याप्त समझते हैं। जैसे—**प्रतिज्ञा** और **हेतु**। उनका कहना है कि हेतु के अन्दर सभी अनुमान के अवयव आ जाते हैं। किसी विशेष स्पष्टीकरण के लिए वे व्याप्ति से काम लेने का आदेश करते हैं।

लिङ्गपरामर्श—स्वार्थ-अनुमिति और परार्थ-अनुमिति दोनों में ही लिङ्ग परामर्श कारण हैं। इसलिये लिङ्ग-परामर्श ही का नाम अनुमान है। लिङ्ग तीन प्रकार के होते हैं—(१) **अन्वयव्यतिरेकी**, (२) **केवलान्वयी** और (३) **केवलव्यतिरेकी**।

(१) **अन्वयव्यतिरेकी**[1]—यह लिङ्ग उसे कहते हैं; जिसके साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति हो। जैसे—जहाँ पर आग होगी वहाँ पर धुआँ भी होगा और जहाँ पर धुआँ होगा वहाँ पर आग भी होगी। जैसे—चौका घर में—यह अन्वयव्याप्ति है। जहाँ आग नहीं है वहाँ धुआँ भी नहीं होगा, जैसे जलाशय में—यह व्यतिरेकव्याप्ति है।

(२) **केवलान्वयी**[2]—जिस लिङ्ग के साथ केवल अन्वय व्याप्ति हो वह केवलान्वयी लिङ्ग कहलाता है। जैसे—'घट' अभिधेय है, क्योंकि वह प्रमेय है। जैसे—पट। यहाँ पर (केवल वह अन्वय व्याप्ति ही है कि जो प्रमेय है वह अभिधेय है) व्यतिरेक व्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जितने पदार्थ हैं, वे सब प्रमेय और अभिधेय दोनों ही हैं। एक भी ऐसा उदाहरण नहीं; जो प्रमेय अथवा अभिधेय न हो।

१—"अन्वयेन व्यतिरेकेण व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकी"। —तर्कसंग्रह

२—"अन्वयमात्र व्याप्तिकं केवलान्वयी"। —तर्कसंग्रह

(३) **केवलव्यतिरेकी**[1]—जिस लिङ्ग के साथ केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही हो (अन्वय व्याप्ति न हो) उसका नाम केवलव्यतिरेकी लिङ्ग है। जैसे पृथ्वी अन्यतत्त्वों (जलादि) से भिन्न है क्योंकि इसका गुण गन्ध है। जो अन्यों से भिन्न नहीं वह गन्धवाला भी नहीं होगा, जैसे—जल। यहाँ इस प्रकार की अन्वय व्याप्ति कि जो गन्धवाला है वह अन्य तत्त्वों से भिन्न है, नहीं मिल सकती, क्योंकि पृथ्वी के अतिरिक्त और कोई इस व्याप्ति का उदाहरण नहीं है। केवल पृथ्वी-तत्त्व ही ऐसा है जिसका गुण गन्ध है।

अनुमान के भेद[2]—न्यायसूत्र में अनुमान तीन प्रकार का कहा गया है—(१) **पूर्ववत्**, (२) **शेषवत्** और (३) **सामान्यतोदृष्ट**। इनमें कारण से कार्य का अनुमान करना पूर्ववत् और कार्य से कारण का अनुमान करना शेषवत् कहलाता है। कार्य और कारण दोनों से भिन्न सामान्य दर्शन से अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट है। अनुमान के इन लक्षणों के विषय में न्यायसूत्र के टीकाकारों में गहरा मतभेद है। 'पूर्व' तथा 'शेष' मीमांसा के पारिभाषिक शब्द हैं, अतः यह अनुमान-भेद मीमांसकों की कल्पना प्रतीत होती है। नैयायिकों ने इसे ग्रहण कर इनके मुख्य अर्थ में परिवर्तन किया है। मीमांसा में 'पूर्व' का प्रयोग प्रधान तथा 'शेष' का प्रयोग अंग के लिए किया जाता है। पर नैयायिकों ने प्रधान तथा अंग के सम्बन्ध को कारण तथा कार्य पर अवलम्बित किया है।

दूसरी व्याख्या—अन्वय मुख से प्रवृत्त होनेवाला अनुमान 'पूर्ववत्' और व्यतिरेक मुख से प्रवृत्त होनेवाला 'शेषवत्' कहलाता है। यथा—धूमज्ञान से अग्नि का अनुमान पहले का उदाहरण है। शेष का अर्थ होता है अवशिष्ट होनेवाला अतः "परिशेष्यात्" अनुमान करने पर शेषवत् माना जाता है। उदाहरणार्थ—'शब्द' के स्वरूप का निर्धारण करते समय सत् तथा अनित्य होने के कारण यह जाना जाता है कि शब्द सामान्य, विशेष और समवाय से पृथक् द्रव्य-गुण-कर्म के ही अन्तर्गत आ सकता है। इन तीनों की अन्तर्भुक्तता पर विचार करने से यही ज्ञान होता है कि शब्द एक द्रव्याश्रित होने के कारण द्रव्य से पृथक् तथा शब्दान्तर का हेतु होने से कर्म से भी पृथक् है। अतः शब्द परिशेष से गुणरूप ही हो सकता है। सामान्यतो दृष्ट वहाँ होता है जहाँ वस्तुविशेष की सत्ता का अनुभव न होकर उसके सामान्यरूप का ही परिचय प्राप्त हो। यथा—इन्द्रियों की सत्ता का अनुमान। कार्य को देखकर कारण का अनुमान तर्कानुकूल होता है। लेखन कार्य को देखकर तत्साधनभूत लेखनी का अनुमान करना उचित ही है।

१—"व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकी"। —तर्कसंग्रह

२—A priory (पूर्ववत्), A posteriori (शेषवत्), Commonly (सामान्यतोदृष्ट)।

इसी दृष्टान्त के आधार पर वस्तुग्रहणरूप फल के लिए तत्साधनभूत इन्द्रियों की सत्ता का अनुमान किया जाता है। चक्षुरिन्द्रिय के अभाव में रूप का ग्रहण कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। यह सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ इन्द्रियविशेष की सत्ता न देखकर तत्सामान्यकारणत्वमात्र का ही अवलम्बन हमारे लिये साध्य है। (न्यायवार्तिक)।

प्राच्य-पाश्चात्य विचार-समन्वय

पाश्चात्य तर्क-शास्त्र में 'डिडक्टिव' (Deductive) अर्थात् व्यापक से व्याप्य का तर्क और 'इन्डक्टिव' (Inductive) अर्थात् उदाहरण द्वारा तर्कभेद करके तर्क दो प्रकार का माना गया है। भारतीय न्याय-शास्त्र में इन दोनों का प्रशंसनीय समन्वय मिलता है। व्याप्य और व्यापक के नियत सम्बन्ध पर ही अनुमान की पूरी इमारत खड़ी है। इसी व्याप्ति की सूचना उदाहरणवाक्य (अवयव) की विशेषता है। चतुर्थवाक्य (अवयव) 'उपनय' या 'परामर्श' की उपपत्ति इसकी खास विशेषता है। बिना परामर्श के अनुमान नहीं हो सकता। अनुमान के लिये 'व्याप्ति ज्ञान' की ही आवश्यकता नहीं, प्रत्युत् उस व्याप्ति विशेष हेतु का पक्ष में रहना भी आवश्यक है। अतः व्याप्य हेतु का पक्ष धर्म होना परामर्श माना जाता है। केवल धूमवान् होने से पर्वत की अग्निमत्ता की अनुमिति नहीं हो सकती, जबतक धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान न हो। निगमन हेतु द्वारा सिद्ध प्रतिज्ञा का उल्लेख करता है। जिसकी प्रतिज्ञा आरम्भ में की गई थी वही हेतु द्वारा सिद्ध कर दिया गया है; यही निगमन वाक्य (अवयव) प्रदर्शित करता है। इस परार्थानुमान की यदि अरस्तु के तर्कशास्त्र से (Aristotelion-syllogism) तुलना करें तो दोनों की विचारसरणि में स्पष्ट पार्थक्य दृष्टिगोचर होगा और भारतीय तर्कशास्त्र की विचारसरणि अधिक उपादेय प्रतीत होगी। इसकी व्यावहारिकता पर भी दृष्टिपात करने से पता चलता है कि अरस्तु की तर्कविधि से वैसा सन्तोष नहीं होता, जैसा भारतीय तर्कविधि से होता है।

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का वास्तविक भेद भी यही है। परार्थानुमान दूसरे को समझाने और संतोष देने के लिए ही होता है। स्वार्थानुमान केवल अपने लिए अर्थात् अपने समझने और सन्तोष के लिए होता है। तात्पर्य यह है कि जब किसी दूसरे को समझाना न हो, केवल अपने को ही सन्तुष्ट करना हो तो यह कार्य स्वार्थानुमान द्वारा होता है। जब हमें अपने को दूसरे के सामने प्रमाणित कर उसे सन्तुष्ट करना पड़ता है, तो हमारे लिए सब से सुलभ उपाय परार्थानुमान होता है। परार्थानुमान की शैली तथा क्रम अरस्तु के साइलोजिज्म से अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है।

किसी वाद में पहले स्थापना की प्रतिज्ञा करना और पश्चात् उसे हेतु, उदाहरण और उपनय से निगमन करना अधिक बुद्धिग्राह्य और सुबोध होता है। जबतक हमारी स्थापना न हो तबतक उनके हेतु आदि का निश्चय अजीब-सा प्रतीत होता है और वहाँ सर्वदा हेत्वाभास (Fallacy) होने की सम्भावना बनी रहती है। इसलिये किसी भी वाद-विवाद और कानूनी निर्णय में (Legal judgement) पहले स्थापना (Preposition) की प्रतिज्ञा का उल्लेख होता है। उसके बाद दूसरा पद (अवयव) स्वाभाविक रूप से हेतु (Reason) का आता है। जब कभी आप कोई विचार प्रकट करते हैं और वह विचार तथ्यरूप से स्थापित नहीं हो जाता और जब तक उसके विषय में श्रोता के मन में शंका बनी रहती है, तब तक हेतुओं द्वारा उसका समर्थन युक्तियुक्त और आवश्यक होता है। यदि इतने पर ही श्रोता को सन्तोष हो जाय तो आपका कथन यहीं समाप्त हो जाता है और यदि इस पर भी श्रोता के मन में शङ्का बनी ही रही, तो आपको उसे उदाहरणों द्वारा सन्तुष्ट करना पड़ता है। उदाहरणों के उल्लेख करने के साथ-साथ वक्ता, साधक और साध्य का भी सम्बन्ध समझाया जाता है, जिससे श्रोता के मन में किसी प्रकार के सन्देह का स्थान नहीं रह जाता और हेतु द्वारा प्रतिस्थापित प्रतिज्ञा को ठीक-ठीक समझ लेता है। यदि श्रोता इतनी बातों (अवयवों) से वस्तुस्थिति को समझ लेता है, तो यह कार्य यहीं समाप्त हो जाता है। परन्तु जब उसे इतने पर भी सन्तोष नहीं होता, तो 'परामर्श' या 'उपनय' द्वारा उसे समझाना पड़ता है। जिसे हम पहले विचारों द्वारा समझाने का प्रयत्न कर रहे थे, उसे व्यवहार द्वारा (by application) समझाते हैं।

'उपनय' के द्वारा यह स्पष्ट किया जाता है कि साधक और साध्य के समवाय संयोग का सम्बन्ध, जो परिचित तथा मान्य उदाहरणों द्वारा निर्देश किया गया है वह इस वर्त्तमान प्रतिज्ञा में भी लागू है। कभी-कभी इसे व्यक्त या स्पष्ट करना परमावश्यक हो जाता है। क्योंकि इसके द्वारा बिना किसी संकोच के निगमन अर्थात् प्रतिज्ञा की सिद्धि हो जाती है। इसीलिये इसे इन सारी प्रक्रियाओं की आत्मा कहते हैं। अन्त में निगमन का कहना अर्थात् यह कहना कि पूर्व प्रतिज्ञा की सत्यता में अब कोई सन्देह नहीं रह गया—आवश्यक है। इसे और स्पष्ट करने के लिये दोनों के क्रमों का उदाहरण देख सकते हैं।

१—अरस्तु की तर्कविधि (Aristotelion Syllogism) और २—परार्थानुमान का क्रम—

(क) सुकरात मरणशील है (प्रतिज्ञा)[१]

१—All men are mortal (सभी मनुष्य मरणशील हैं) (major premise)

(ख) क्योंकि वह मनुष्य है (हेतु)[१]

(ग) अतीत काल में सभी मनुष्य को मरणशील पाया गया है; जैसे थेल्स, जेनो इत्यादि (उदाहरण)

(घ) सुकरात भी उसी प्रकार का मनुष्य है (उपनय)

(च) अतः सुकरात मरणशील है (निगमन)[२]

ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

व्याप्ति—अनुमान-प्रक्रिया में व्याप्ति का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। इसलिए भारतीय दार्शनिकों ने विशेषतः नैयायिकों ने व्याप्ति की आलोचना करने में इतनी कुशाग्रबुद्धि का परिचय दिया है कि वह दार्शनिक-जगत् में एक आश्चर्यजनक व्यापार स्वीकार किया जाता है। व्याप्ति के लक्षण के विषय में पर्याप्त विवेचन नव्यन्याय के ग्रन्थों में किया गया है। हेतु (धूम) तथा साध्य (वह्नि) के नियत साहचर्य सम्बन्ध को 'व्याप्ति' कहते हैं। दो वस्तुओं को एकत्र विद्यमान होने से ही उनमें व्याप्ति की कल्पना तबतक नहीं कर सकते जबतक हमें उनके नियम से सदा एकत्र रहने की सूचना न मिले। जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है, इस साहचर्य की सत्ता हम नियत रूप से पाते हैं अतः धूम तथा वह्नि की व्याप्ति न्यायसंगत प्रतीत होती है, इसलिये व्याप्ति का प्राचीन ग्रन्थों में 'अविनाभावसंबंध' के नाम से उल्लेख है। अविनाभाव अर्थात् जो वस्तु जिसके बिना न रह सके उसका सम्बन्ध है। धूम की सत्ता तभी है, जब वह्नि के साथ उसकी सत्ता स्वीकार की जाती है। व्याप्ति, धूम तथा वह्नि के साथ सम्पन्न होती है परन्तु वह्नि तथा धूम के साथ व्याप्ति कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। जैसे—अयो गोलकपिण्ड (अग्नि में लाल किया हुआ लोहे का गोला)।

नैयायिक लोग व्याप्ति की प्रामाणिकता के विषय में वेदान्तियों के मत का अवलम्बन करते हैं। अनुभव की एकरूपता व्याप्ति की सत्यता सिद्ध कर सकती है। परन्तु अन्वय, व्यतिरेक, व्यभिचाराग्रह, उपाधिनिरास, तर्क और सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति इन साधनों के प्रयोग से ही व्याप्ति के तथ्य का यथार्थ परीक्षण किया जा सकता है।

(१) **अन्वय**—"तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः"।

(२) **व्यतिरेक**—"तदभावे तदभावो व्यतिरेकः"।

(३) **व्यभिचाराग्रह**—उक्त दोनों में किसी प्रकार का व्यभिचार न होना चाहिए।

१—Socrates is a man (सुकरात एक मनुष्य है) (minor premise).

२—Hence Socrates is mortal (अतः सुकरात मरणशील है) Conclusion.

(४) **उपाधिनिरास**—इतने साधनों के होने पर भी व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती, जब तक उपाधि का निरास न हो।

(५) **तर्क**[1]—अनुकूल तर्क पाँचवाँ सहायक साधन है। धूम तथा वह्नि की व्याप्ति के लिए तर्क की अनुकूलता है, कि यदि पर्वत में वह्नि न हो, तो धूम भी नहीं होगा। पर धूम की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से निष्पन्न है अतः तर्क दोनों के साहचर्य का द्योतक है। इतने पर भी सन्देह के लिये स्थान है, पर अन्तिम साधन से उसका सर्वथा निरास हो जाता है। इतना तो निश्चित है कि समस्त मानवों के परीक्षण का अवसर हमें न मिल सकता है और न यह साध्य ही है, तथापि सामान्य लक्षणा-प्रत्यासत्ति के द्वारा हम मानवता तथा मरणशीलता के पारस्परिक सम्बन्ध को सिद्ध मान कर समस्त मनुष्यों को मरणशील बनाने का अधिकारी हो सकते हैं। इस प्रकार इतने उपायों से प्रमाणित होने पर व्याप्ति की सत्यता मानने में कथमपि संकोच न होना चाहिए।

Syllogism (अवयवघटित वाक्य न्याय)—पाश्चात्य अनुमान में आकार-गत सत्यता की ही उपलब्धि होती है। तात्त्विक सत्यता की आवश्यकता नहीं मानी जाती। परन्तु अनुमान में दोनों प्रकार की सत्यताओं का होना अनिवार्य रहता है। पश्चिमीय तार्किक वाक्य तीन प्रकार के होते हैं (१) निरपेक्ष्य (Categorical), (२) काल्पनिक (Hypothetical) और (३) वैकल्पिक वाक्य (Disjunctive)। न्याय में केवल तीन वाक्यों से अनुमान की पूरी प्रक्रिया निष्पन्न हो जाती है। (१) साध्य वाक्य (Major Premise), (२) पक्ष वाक्य (Minor Premise) और (३) फल वाक्य (Conclusion)। पश्चिमीय न्याय में अनुमान कभी भावात्मक, कभी अभावात्मक, कभी पूर्णव्यापी और कभी अंशव्यापी होकर विविध रूप धारण करता है, परन्तु भारतीय न्याय से वाक्य पूर्णव्यापी भावात्मक एक ही प्रकार का होता है और सबसे महान् अन्तर भारतीय न्याय में परामर्श (उपनय) की स्थिति से है। पश्चिमी न्याय में प्रथम दोनों वाक्यों का समन्वयात्मक वाक्य नहीं होता, परन्तु भारतीय न्याय में हेतु वाक्य और उदाहरण वाक्य का एकीकरणात्मक रूप उपनय की सत्ता नितान्त आवश्यक है। वास्तव में परामर्श-ज्ञान से ही अनुमिति का उदय होता है। यहाँ हेतु के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने से समस्त दोष हेतु के आभास (हेत्वाभास) पर अवलम्बित रहते हैं। परन्तु पाश्चात्य न्याय में पक्षाभास (Elicit minor) और साध्या-

---

१—"अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।"
—न्यायसूत्र

"व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः" —अन्नभट्ट

"कार्यकारणभाविमूलस्तर्कः" —तर्कभाषा

भास (Elicit major) नामक दोषों की भी सत्ता स्वीकृत की गई है। परार्थानुमान भेद तथा स्वार्थानुमान भेद भी पश्चिमी न्याय-शास्त्र में उपलब्ध नहीं होते। मोटे तौर पर दोनों में स्फुट भेद प्रतीत होते हैं।

आप्तागम तथा ऐतिह्य प्रमाण के लक्षण

"तत्र आप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम्। आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभाग-विदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च। तेषामेव गुणयोगाद्यद्वचनम् तत्प्रमाणम्।

—च० वि० ४

आप्तास्तावत्—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रैकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मान्नीरजस्तमसो मृषा॥
" " " " दसत्यं नीरजस्तमाः॥ इति वा पाठः।

—ज० सू० ११

"ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः।" —च० वि० ८

उपस्कार टीका—आप्तानां वचनं आप्तवचनम्। आप्ता हि अवितर्कः यथा तथा स्मृतीनां शास्त्राणां विभागं विध्यर्थवादानुवादवचनरूपं विदन्ति ये ते तथोक्ताः। शास्त्रतत्त्वे निःसंशयितज्ञानसम्पन्ना इत्यर्थः। निष्प्रीत्युपतापदर्शिनः—नस्तः प्रीत्युपतापौ यत्र तत् यथा तथा द्रष्टुं भूतानि शीलमेषां ते निष्प्रीत्युपतापदर्शिनः भूतेषु रागद्वेषशून्या एवंभूताः भवन्ति। एवं गुणयोगात् तेषां-आप्तानां यद्वचनं तत्प्रमाणम्। तथाविधाः पुरुषाः—अव्याहतज्ञानदृशा तत्त्वमुपलभ्य भूतेभ्यस्तद्यथा-यथमेव उपदिशन्ति ×××। ये तपोज्ञानबलेन रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ताः निःशेषेण मुक्ताः। येषां ज्ञानं त्रिकालं अतीतानागतवर्तमानविषयं। अमलं—अवितथं यथार्थग्राहित्वात्। सदा अव्याहतः क्वचित् अप्राप्तबाधं ते आप्ताः शिष्टाः विबुद्धाश्च। साक्षात्करणमर्थस्य आप्तिः तया प्रवर्तते इत्याप्ताः। कार्याकार्य-प्रवृत्तिनिवृत्ति-उभयदेशेन सर्वान् शासति इति शिष्टाः। बोद्धव्यं—विशेषेण बुद्धमेतैरिति विबुधाः, तेषां आप्तानां वाक्यं—उपदेशः असंशयं-निश्चितं सत्यम्। तद्वाक्यसत्यत्वे हेतुमाह—वक्ष्यन्ती—निर्गते रजस्तमसी येभ्यस्ते निरजस्तमसः, ते कस्मात् मृषां-असत्यं वक्ष्यन्ति? न कस्मादपि। असत्यं हि राग-द्वेषाभ्यां मिथ्याज्ञानाद्वा अभिधीयते। तच्च त्रितयं रजस्तमोनिर्मुक्ते विदितसकलतत्त्वे पुरुषे न संभवति।

ऐतिह्यमाह—अथैतिह्यमिति । इति ह ऊचुर्वृद्धाः—इति ऐतिह्यम्, आप्तोपदेशः—आप्तवचनम् । ××× । शब्दः—लौकिक-वैदिकसाधारणवाक्यरूपः, तद्विशेषः ऐतिह्यं–प्रमाणवाक्यम् ।

गंगाधरः—तत्रेति—आप्ता हीत्यादि । हियस्मात्—अवितर्केण वितर्क ऊहापोहात्मकस्तं वितर्कं बिना सदैवाविच्छेदेन युक्तज्ञानेन त्रैकालिकानां सर्वेषामेव भावानां तत्त्वेन स्मृत्या विभागं सदसद्रूपत्वं विदन्ति ये ते अवितर्कस्मृतिविभागविद आप्ता इति चेत्तदा देवग्रहजुष्टा-अप्यवितर्कस्मृतिविभागविदः किमाप्ता इत्यत आह—निष्प्रीत्युपतापदर्शिन इति । प्रीत्युपतापाभ्यां निर्गताः निष्प्रीत्युपतापा ये द्रष्टुं शीलवन्तस्ते त्वाप्ताः । देवग्रहजुष्टा-उपतप्ता देवग्रहेण यदुच्यते त्रैकालिकं ते तद्वदन्ति । ये चावितर्कस्मृतिभ्यां प्रीत्या वदन्ति ते च नाप्ताः। ×××× आप्तास्तावदित्यादि रजस्तमोभ्यामिति । तपस्तपस्या, ज्ञानं योगसमाधिसिद्धिजातं तत्त्वज्ञानं, तदेव बलमिति । तपोज्ञानबलेन ये रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ताः—निःशेषेण मुक्ताः, एवं येषां विनापि तपोज्ञान बलं त्रैकालमलं अव्याहतं ज्ञानं सदा वर्तते, ते तपोयोगसमाधिसिद्धा महर्षयो ब्रह्मादयश्च आप्ता उच्यन्ते; शिष्टा विबुद्धाश्चेत्यनर्थान्तरम् । वात्स्यायनश्चाह—"आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टमर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा । साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तया प्रवर्तत इत्याप्तः।" ××××× शिष्टा इति। स्वशक्तिबलेन कार्याकार्ये, हिताहिते, नित्वानित्ये, प्रवृत्तिनिवृत्युपदेशस्य चिकिर्षया, प्रयुक्ता यथार्थसाधनमर्थस्य शिष्टिः, तया प्रवर्तन्ते इति शिष्टाः-एवं विबुधा इति । विशिष्टा यथार्थभूताबुद्धिस्तया प्रवर्तन्ते ये ते विबुधा इति । तत्र प्रश्नः—सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादिति ? तत्रोत्तरं-नीरजस्तमसो मृषा। तपोज्ञानबलेन सहजत्वेन च रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तित्वादरजस्तमसो जनस्य न मृषा-मिथ्यावचनमस्ति। ××××× । अमृषा—नास्ति मृषा वचनं येषां ते। ××× ये पुनस्तपोज्ञानबलेन रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्ते कथं सत्यमेव वक्ष्यन्तीतिचेन्न । तपोयोगसमाधिसिद्धौ परमेश्वरसाक्षात्करणे तदुज्ज्वलितचित्तत्वात् । सांख्ये कपिलेनाप्युक्तं—"योगिनामवाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः"। ×××× । एवं रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ताः योगिनो भवन्ति। लौहवत्—स्पर्शमणिस्पर्शनेन यथा लौहस्य मलापहरणेन सुवर्णभावादुज्ज्वलितत्वं तीक्ष्णत्वं वा तथान्तःकरणस्येति कपिलवचनेन स्पष्टं-रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तित्वमिति। ××× । आप्तवचनं वेदादिकमिह वक्ष्यते। कपिलेनाक्षपादेन चोक्तम्—"आप्तोपदेशः शब्दः" इति । तत्र शब्द्यते-उपदिश्यते योऽर्थः स शब्दः इत्यविरोधः। ×××× ।

चक्रपाणिः—×××अवितर्केत्यादि । वितर्कः कथन्ताऽनिश्चित ज्ञानमिति यावत् । स्मृतिः—स्मरणज्ञानं । विभागः—एकदेशः । एतद्विपर्यया-

निश्चयेनानुभवेन च कात्स्न्र्येन च ये भावान् जानते तेऽवितर्कस्मृतिविभागविदः, वितर्कवेदी तु नाप्तःप्रतिपाद्यवस्त्वविशेषविशेषाविज्ञानात् । स्मृतिज्ञानं च यद्यपि प्रमाणमूलमेव, तथापि वर्तमानलक्षणे स्मृतिज्ञानविषयार्थस्य नावश्यं विद्यमानतेति न तत् प्रमाणमिति भावः। किं वा स्मृतिज्ञानं-स्मृतिशास्त्रजं ज्ञानं गणितज्ञानं च । एतच्च ज्ञानद्वयं साक्षादर्थदर्शकं दुरवबोधेनमिथ्याज्ञानत्व-संभवात्–अप्रमाणमपि इति नोपदेयम्। अथ सम्यग् ज्ञानवन्तोऽपि रागादि-वशादन्यथा व्याहरन्तीत्याह-निष्प्रीत्युपतापदर्शिन इति; निष्प्रीत्या-निरुपता-पेन च द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा, एतेन यथार्थदर्शी निर्दोषश्चाप्तो भवतीति उक्तं भवति"। ××××× ।

आप्तागम तथा ऐतिह्यप्रमाण के लक्षण

भावार्थ---आप्तों के वचन को आप्तवचन, आप्तोपदेश तथा आप्तप्रमाण कहते हैं। राग (प्रीति) और द्वेष (उपताप) से शून्य दृष्टि और विचारवाले आप्तजनों के शास्त्रों (स्मृतियों) का ज्ञान और सदसद् का विभाग अवितर्क होता है। इन गुणों (रागद्वेष से शून्य तथा शास्त्र के सदसद् विभाग का अवितर्क ज्ञान) से युक्त होने के कारण उनके जो भी वचन या उपदेश होते हैं वे प्रमाण माने जाते हैं। ऐसे पुरुष अव्याहत ज्ञान चक्षु से तत्त्वों का ज्ञान कर सभी प्राणियों के कल्याण के लिये ज्यों का त्यों उपदेश करते हैं (चरक विमान)। तपस्या और ज्ञानवाले अपने मानसिक दोष रज और तम को जिन्होंने दूर कर दिया है, जिन्हें तीनों कालों (वर्तमान, भूत और भविष्य) का ज्ञान है; जिनका ज्ञान अमल अर्थात् दोषरहित है तथा जिनका ज्ञान बाधारहित (अव्याहत) है, वे पुरुष आप्त, शिष्ट तथा विबुद्ध कहलाते हैं। "अर्थों के साक्षात् करण को आप्ति कहते हैं और इस कार्य को करनेवाले आप्त कहलाते हैं। कार्य और अकार्य–प्रवृत्ति और निवृत्ति आदि उपदेश के द्वारा शासन करने से वे शिष्ट कहलाते हैं। बुद्धि-गम्य विषयों के विशेष ज्ञान करने से 'विबुद्ध' कहे जाते हैं।" (वात्स्यायन)। ऐसे आप्त पुरुषों के उपदेश तथा वचन संशयरहित, निश्चय और सत्य होते हैं। इनके अन्दर रजोगुण तथा तमोगुण का अभाव होने से ये कभी मिथ्या नहीं कह सकते। असत्य तो रागद्वेष तथा मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होता है और ये तीनों दोष रजस्तमोनिर्मुक्त होने पर, उस पुरुष में नहीं रह सकते अतः ऐसे पुरुष को असत्य बोलने का कोई कारण नहीं। वे सदा सत्य और संशयरहित उपदेश करते हैं। ऐसे पुरुष के वाक्यों को ही 'ऐतिह्य' कहते हैं। 'ऐतिह्य' का अर्थ है (इति) ऐसा (ह) निश्चयपूर्वक (ऊचुः) कहा है (वृद्धाः) बड़ों ने। शब्द तीन प्रकार के होते हैं (१) लौकिक, (२) वैदिक और (३) साधारण। इनमें जो विशेष होता है वह 'ऐतिह्य' प्रमाण वाक्य होता है। आगम प्रमाण भी इसीको कहते हैं।

वक्तव्य—"आप्तोपदेशः शब्दः" (न्यायवार्तिक)। आप्ताः खलु साक्षात्कृत-धर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयोक्ता उपदेष्टा।" —न्या० वा०

"आप्तवाक्यं शब्दः।" —तर्कसंग्रह

किसी आप्त पुरुष के उपदेश को शब्द कहते हैं। आप्तजन साक्षात्कृत-धर्मा होते हैं और यथादृष्ट विषयों का दूसरों को ज्ञान कराने की इच्छा से उपदेश करते हैं।

आप्तोपदेश के दो भेद होते हैं:—(१) **लौकिक** और (२) **वैदिक**। (१) **लौकिक शब्द लौकिक पुरुषों के वाक्य** होते हैं और (२) वैदिक शब्द **श्रुति के वाक्य** होते हैं। पद के समूह को वाक्य कहते हैं और 'पद' शक्ति से सम्पन्न होता है। ईश्वर का यह संकेत कि इस पद से यह अर्थ समझा जायगा 'शक्ति' कहलाती है। आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि वाक्यार्थ जानने के हेतु हैं। अभिधा और लक्षण भेद से शक्ति दो प्रकार की होती है।

वैशेषिक, जैन तथा बौद्ध 'शब्द' को यथार्थज्ञान के लिये स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। महान् बौद्ध तार्किक दिङ्नाग 'शब्द' के सम्बन्ध में कहता है कि यह स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि वे आप्त पुरुष जिनके वचन को 'शब्द-प्रमाण, मानते हैं, उनका ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा ही उपलब्ध हुआ होता है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा प्रमाणित वचन जब कोई पुरुष कहता है तभी हम उस पर विश्वास करते हैं। आप्त पुरुष की परिभाषा में भी साक्षात्कृत-धर्मा अर्थात् जिसने विषयों को प्रत्यक्ष कर लिया है ऐसा कहा गया है। अतः जो वचन प्रत्यक्ष तथा अनमान के बल पर कहा गया हो उसे पृथक् स्वतन्त्र रूप से प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

नैयायिकों के 'शब्द-प्रमाण' का समर्थन सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त करते हैं। परन्तु ये लोग भी (नैयायिकों ने जो लक्षण शब्द के किये हैं) उससे मतभेद रखते हैं। ये लोग शब्द से 'वेद' तथा अन्य उसके सदृश शास्त्र जो सत्य ज्ञान को देते हैं और वेदों का खण्डन नहीं करते उसे मानते हैं। ये 'वेद' को प्रमाण इसलिये नहीं मानते कि वह किसी विश्वस्त या आप्त पुरुष द्वारा कहा या लिखा गया है, परन्तु इसलिए कि वेद अपौरुषेय तथा अनादि है क्योंकि वह ईश्वरीय ज्ञान है जो जगत् में स्वयं प्रकट हुआ है; किसी व्यक्ति विशेष ने उसे प्रकट नहीं किया है। ये लोग किसी भी व्यक्ति के चाहे वह कितना भी विश्वस्त क्यों न हो, उपदेश को 'शब्दप्रमाण' नहीं मानते। पर नैयायिक वेद का कोई रचयिता है ऐसा नहीं मानता। वह भी वेद को ईश्वरकृत मानता है और वेद के उपदेश को प्रमाण इसलिए मानता है कि वह ईश्वरकृत है और वह ईश्वर में विश्वास करता है। परन्तु वह इससे मनुष्य को विश्वासी होने तथा उनके वाक्यों

को प्रमाण होने से रोकता नहीं। नैयायिक उनके वाक्यों को भी प्रमाण मानता है जो विश्वासी तथा आप्त हैं। जहाँ प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा काम नहीं चलता वहाँ ऐसे आप्तजनों के उपदेश को नैयायिक प्रमाण मानते हैं अतः नैयायिक (१) लौकिक और (२) वैदिक भेद से दो प्रकार के 'शब्द प्रमाण' मानते हैं।

युक्ति के लक्षण

"जलकर्षणबीजर्तु संयोगात् शस्यसंभवः ।
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां संभवस्तथा ।।
मथ्यमन्थकमन्थान संयोगादग्निसंभवः ।
युक्तियुक्ता चतुष्पाद संपद् व्याधिनिबर्हणी ।।
बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान् ।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ।।"

—चरक सू० ११

उपस्कार टीका—अथ युक्तिरभिधीयते। युक्तिः सुखज्ञानार्थमादौ उदाहरणमाह—जलेति। जलं कर्षणं कर्षणसंस्कृता भूमिः। बीजं—ऋतुः कालश्च, तेषां संयोगात् तथा शस्यानां संभवः, तथा षण्णांधातूनां पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मनां संयोगात् गर्भाणां संभव इतीयं युक्तिः। उदाहरणान्तरमाह—मथ्येति। मथ्यं—मन्थनार्थमधःस्थंकाष्ठं। मन्थकः—पुरुषः। मन्थानं—ऊर्ध्वस्थं भ्राम्यमानं काष्ठं तेषां संयोगात् यथा अग्निसम्भवः एवं चतुष्पादसंपत्। संपदिति—भिषगादीनां गुणवत्त्वख्यापनार्थम्। तेन गुणवद् भिषगादिचतुष्टयमित्यर्थ। भिषगादिपादचतुष्टयसंपत् युक्तियुक्ता सती व्याधिनिबर्हणी व्याधिप्रशमकारिणी। युक्त्या—युक्ता युक्तियुक्ता। चतुष्पादभेषजात् आरोग्यं युक्त्या उपपाद्यत इत्यर्थः। युक्तेर्लक्षणमाह—बुद्धिरिति। या बुद्धिः बहुकारणयोगः बहुकारणोपपत्तिः—तज्ज्ञान् भावान् पश्यति कारणोपपत्या अविज्ञाततत्त्वान् अर्थान् ज्ञापयतीत्यर्थः। सा बुद्धिः युक्तिः। त्रिकाला वर्तमानातीतानागतविषयाः। युक्त्या त्रिकालं अर्थाः गृह्यन्ते। यया युक्त्या त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गः गणः साध्यते। युक्त्यैव लोकः त्रिवर्गानुष्ठाने प्रवर्तते। युक्तो हि प्रमाणत्वेन उपन्यासः वस्तुपरिच्छेदे प्रमाणसहायत्वेन व्याप्रियमाणत्वात्। वस्तुतस्तु युक्तिर्न प्रमाणान्तरम्। व्याप्तिरूपा हि सा अनुमानं करोति। तथा च—"अनुमानं हि युक्त्यपेक्षस्तर्कः" इति (च० वि० ८) एवं युक्तिरनुमाने अन्तर्भवति।

भावार्थ—जल, कर्षण (जोती हुई भूमि) बीज, ऋतु और काल इनके संयोग से जिस प्रकार शस्य (धान या अन्य अन्न) की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार

६ धातुओं—पंच महाभूत और आत्मा के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती है, यह युक्ति है। मथ्य (नीचे का काष्ठ), मंथक (मथने वाला पुरुष) और मंथान (ऊपर का घूमने वाला काष्ठ) के संयोग से जिस प्रकार अग्नि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार चतुष्पाद संपत् से अर्थात् गुणवान् भिषक्, औषध, रोगी और परिचारक के संयोग से रोग की शान्ति तथा आरोग्य लाभ होता है। युक्ति से युक्त को युक्तियुक्त कहते हैं। चतुष्पाद समन्वित चिकित्सा के संयोग (युक्ति) से आरोग्य लाभ होता है। इन दो उदाहरणों को देखकर पुनः युक्ति का लक्षण कहते हैं—"अनेक कारणों के संयोग से उत्पन्न हुए भावों को जो बुद्धि कारणोपपत्ति से देखती है अर्थात् ज्ञान कराती है उसे युक्ति कहते हैं। इस युक्ति के द्वारा तीनों कालों के विषयों का ज्ञान होता है। इससे त्रिवर्ग की सिद्धि होती है।

वक्तव्य—वस्तुतः युक्ति प्रमाणान्तर नहीं है। यह अनुमान-प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र है। यह व्याप्ति रूप से अनुमान की सहायता करती है। इस प्रकार युक्ति का अन्तर्भाव अनुमान के अन्दर हो जाता है। विज्ञात अर्थ में कारण और उपपत्ति को देखकर अविज्ञात अर्थ में उसी प्रकार कारण और उपपत्ति को समझना या लागू करना 'युक्ति' है। ऊपर के कहे हुए दोनों उदाहरणों में यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार जोती हुई भूमि में ऋतु के अनुकूल समय पर बीज बोया जाय और उसे समय पर जल प्राप्त हो तो देखा जाता है कि शस्य (अन्न) की उत्पत्ति होती है—यह विज्ञात अर्थ है। इस विज्ञात अर्थ में जो कारण और उपपत्ति दृश्यमान हैं उस कारण और उपपत्ति का अन्यत्र अविज्ञात अर्थ में भी अवधारण अर्थात् यह कहना कि जिस प्रकार जलकर्षणादि कारणों के समुचित तथा सामयिक संयोग से शस्य रूपी कार्य (उपपत्ति) की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार पांचभौतिक शुक्रार्तव के ऋतुकाल में शुद्ध गर्भाशय में संयोग होने से गर्भ की उत्पत्ति होती है—यह युक्ति है।

उपमान के लक्षण

"अथौपम्यम्। औपम्यं नाम तद्यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनम्। यथा दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुः स्तम्भस्य, इष्वासेनारोग्यस्येति।"

—च० वि० ८

उपस्कार टीका—अथौपम्यमिति। सादृश्यमधिकृत्य अन्येन प्रसिद्धेन अन्यस्याप्रसिद्धस्य प्रकाशनम्। प्रसिद्धस्य सादृश्येनाप्रसिद्धस्यप्रकाशनं औपम्यमुपमानम्। तदुक्तमक्षपादेन—"प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्" (न्याय दर्शन १।१।६)। उदाहरणं यथेत्यादि। दण्डेन दण्डकस्य वातव्याधिभेदस्य

प्रकाशनम् । दण्डः प्रसिद्धः तत्सादृश्येन दण्डकस्य प्रज्ञापनं । धनुः प्रसिद्धं तत्सादृश्येन धनुःस्तम्भस्य प्रकाशनम् । दण्डवत् दण्डको व्याधिः, धनुस्तुल्यश्च धनुःस्तम्भ इति आप्तात् केनचित् श्रुतम् । ततः स आतुरं दण्डवत् स्तब्धगात्रं दृष्ट्वा दण्डवत् स्तब्धगात्रत्वादस्त्यस्य दण्डको व्याधिः । धनुस्तुल्यगात्रं दृष्ट्वा धनुस्तुल्यगात्रत्वात् अस्य धनुस्तम्भ इति अवधारयति । इह प्रसिद्धस्य दण्डस्य सादृश्येन अज्ञातस्य दण्डकस्य ज्ञानम् । धनुषः सादृश्यमेव धनुस्तम्भस्य च । तच्च औपम्यम् । एव इष्वासेन धनुष्केण तत्सादृश्येनारोग्यदस्य वैद्यस्य प्रकाशनम् । उक्तं च महाचतुष्पादे—"यथा हि योगज्ञोऽभ्यासनित्य इष्वासो धनुरादायेषुमपास्यन् नातिविप्रकृष्टे महति काये नापराधो भवति, सम्पादयति चेष्टकार्यम् । तथा भिषक् स्वगुणसम्पन्न उपकरणवान् वीक्ष्य कर्म आरम्भमाणः साध्यरोगमनपराधः सम्पादयत्येवेवातुरमारोग्येण ।" (च० सू० ६०) । इह इष्वासस्य सादृश्येन आरोग्यदस्य वैद्यस्य ज्ञापनम् ।

चक्रपाणि :—"यदन्येनेत्यादौ अन्येनेति प्रसिद्धेन । अन्यस्येत्यप्रसिद्धस्य सादृश्यमधिकृत्येति सादृश्यं प्रतिपाद्यं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिकारणतया अधिकृत्य । यदा तु भट्टनयेन उपमानं व्याख्येयं तदा सादृश्यं प्रतिपाद्यतया अधिकृत्येति योजनीयम् । तेषां 'सादृश्यप्रतिपत्तिः' उपमानार्थः । न्याये च 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिः' उपमानफलम्, तच्च प्रथमव्याख्यानाद् भवति । उक्तं हि तत्र "प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ।"

भावार्थ—उपमान के लक्षण—किसी प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य से अप्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य का मिलान कर उसे प्रकट करना 'उपमान' कहलाता है। जैसे—दण्ड को देखकर दण्डक रोग का और धनुष को देखकर धनुस्तम्भव्याधि का प्रकाश करना तथा धनुर्धर के अभीष्ट सिद्धि को देखकर आरोग्य देनेवाले वैद्य का प्रकाश करना इत्यादि। इस उदाहरण में प्रसिद्ध दण्ड को देखकर अज्ञात दण्डक रोग से आक्रान्त रोगी को देखकर दण्ड के सादृश्य से दण्डक रोग का प्रकाश करना तथा धनुष के सादृश्य से अप्रसिद्ध धनुःस्तम्भ का प्रकाश करना 'उपमान' प्रमाण द्वारा देखा गया है। जिस प्रकार एक अभ्यस्त तीरन्दाज़ अपने लक्ष्य के वेध में कभी असफल नहीं होता उसी प्रकार क्रियाकुशल वैद्य अपने कार्य में अर्थात् आरोग्य लाभ कराने में असफल नहीं होता; यह अन्दाजा अर्थात् इष्वासु के कार्यसिद्धि के सादृश्य से आरोग्यदाता वैद्य का प्रकाश करना उपमान है।

वक्तव्य—उपमिति का करण उपमान है। किसी नाम के उस नामवाली वस्तु से सम्बन्ध के ज्ञान को उपमिति[1] कहते हैं। उसका कारण सादृश्य ज्ञान है। पहले सुने हुए विश्वस्त पुरुष के वाक्य के अर्थ का स्मरण भी इसमें

१—"संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः।" —न्या० द०

कारण होता है। जैसे—किसी मनुष्य ने यह जानना चाहा कि 'गवय' शब्द का क्या अर्थ है। उसने किसी वनवासी पुरुष से सुना कि 'गवय' गौ के सदृश होता है। जब वह वन में गया और उस वाक्य को स्मरण रखते हुए उसने एक ऐसे पशु को देखा जो गौ के सदृश था तो उसको यह ज्ञान हो गया कि यह 'गवय' है। इसी प्रकार किसी ऐसे रोगी को देखकर जिसका शरीर दण्ड के समान अकड़ (स्तब्ध हो) गया है, प्रसिद्ध दण्ड से अकड़न का स्मरण कर या दण्डक रोग के लक्षणों का स्मरण कर यह समझ लेना कि उसका रोग दण्डक है तथा प्रसिद्ध धनुष के लक्षण का स्मरण कर अप्रसिद्ध धनुस्तम्भ रोग का ज्ञान करना इत्यादि। इस ज्ञान का नाम उपमिति है।

यह नैयायिकों का तीसरा प्रमाण है। पहले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहाँ किसी नई वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'उपमान' कहते हैं। अथवा प्रसिद्ध सादृश्य के बल पर जहाँ संज्ञा तथा संज्ञि का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उसे 'उपमान' कहते हैं। वैशेषिक, सांख्य, योग, बौद्ध तथा जैन-विचारक इस प्रमाण की पृथक् सत्ता नहीं स्वीकार करते। वे इसे प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द के ही अन्दर अन्तर्निहित बतलाते हैं। 'उपमान' के सम्बन्ध में मीमांसकों का विचार नैयायिकों से भिन्न है। वे कहते हैं कि 'गौ' के प्रत्यक्ष ज्ञान से उसके सादृश्य का 'गवय' में ज्ञान करना अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राप्त 'गौ के सादृश्य' का 'गवय के सादृश्य' से परिचय तथा अनुभव करना 'उपमान' है। 'गवय' को देखकर यहाँ नया ज्ञान होता है कि यह गौ के सदृश है और इसी ज्ञान के कारण वह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जो इस सादृश्य को, कि 'गवय गौ के सदृश होता है' स्मरण कराता है। यह विचार अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि इसके अभाव में प्रमाता को कोई नया ज्ञान प्राप्त हुआ है, यह अर्थ नहीं निकलता। यदि इस परिभाषा को न मानें तो कोई भी 'गवय' के प्रत्यक्ष किये बिना ही यह कह सकता है कि यदि 'गवय' गौ के सदृश होता है तो गौ भी 'गवय' के सदृश होगी।

उपमान के स्वतन्त्र प्रमाण होने में युक्ति—उन विचारों के उत्तर में, जो उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते, नैयायिक निम्न युक्ति देते हैं। यह 'गवय' है इस विषय का ज्ञान 'गवय' के प्रत्यक्ष होने मात्र से (ज्ञानेन्द्रिय-सन्निकर्षमात्र से) नहीं हो सकता, जबतक प्रमाता को यह ज्ञान न हो कि 'गवय गौ के सदृश होता है'। क्योंकि गवय का प्रत्यक्ष होना गवय-ज्ञान का कारण नहीं, अपितु 'गवय' के प्रत्यक्ष होने पर 'गौ के सादृश्य' का स्मरण अर्थात् जो लक्षण गौ में है वही लक्षण 'गवय' में भी होता है, यह स्मरण गवय-ज्ञान के प्रति कारण होता है, यहाँ अर्थ का इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष होना उतना महत्त्व

नहीं रखता, जितना पहले प्राप्त हुए सादृश्य ज्ञान का स्मरण महत्त्व रखता है। अतः 'उपमान' को ज्ञान के प्रति स्वतन्त्र कारण मानना पड़ता है। नैयायिकों का कहना है कि इसका अन्तर्भाव अनुमान में कथमपि नहीं हो सकता; क्योंकि व्याप्ति के बिना अनुमान की सिद्धि नहीं होती और 'उपमान' में व्याप्ति की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि 'गवय' और 'गौ' का कोई साहचर्य नियम या सम्बन्ध नहीं होता। जो लोग उपमान के अन्दर व्याप्ति है, ऐसी गलती मानते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि उसमें व्याप्ति नहीं होती; उसके अन्दर तो एक सूचना जो किसी के द्वारा प्राप्त हुई होती है। उपमान 'शब्द-प्रमाण' के अन्दर भी नहीं आ सकता क्योंकि शब्द-प्रमाण में यह आवश्यक नहीं कि वह अर्थ जिसका ज्ञान करना है प्रमाता को प्रत्यक्ष हो। वस्तुतः शब्द का तो कोई अर्थ ही नहीं रह जाता जब अर्थ प्रत्यक्ष हो जाता है।

उपमान पाश्चात्य विचारकों के 'एनालॉजी' (Analogy) से भिन्न है। भारतीय तथा पाश्चात्य तर्कशास्त्र के छात्रों को यह बात ध्यान में रखने की है कि भारतीय तर्कशास्त्र का 'उपमान' पाश्चात्य तर्कशास्त्र के 'एनालॉजी' से समानता नहीं रखता। पाश्चात्य विचारक इस विचार को निम्न प्रकार से रखते हैं। जैसे—'क' 'ख' के समान है। 'ख' के अन्दर 'ग' लक्षण है, अतः 'क' के अन्दर भी 'ग' लक्षण होना चाहिये। अर्थात् प्रमाता आशा करता है कि अमुक लक्षण और गुण अमुक अर्थ या वस्तु में इसलिये होना चाहिये, कि वे लक्षण और गुण अन्य अर्थ या वस्तु में वर्तमान हैं जो उक्त अर्थ या वस्तु से सादृश्य रखता है। इस प्रकार के विचार से उपमान-सम्बन्धी भारतीय विचार बिलकुल भिन्न है।

अर्थापत्ति या अर्थप्राप्ति के लक्षण

"अर्थप्राप्तिर्नाम—यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्यार्थसिद्धिः। यथा—नायं संतर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिरपतर्पणसाध्योऽयमिति। नानेन दिवा भोक्तव्यमित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिर्निशि भोक्तव्यमिति। —च० वि० ८

उपस्कार टीका—**अथार्थप्राप्तिरिति। यत्र एकेनार्थेन उक्तेन अपरस्यानुक्तस्यापि अर्थस्य तत्र प्रसक्तस्य सिद्धिर्भवति सा अर्थप्राप्तिः। गौतमीये इयं अर्थापत्तिर्नाम। अयं व्याधिः न सन्तर्पणसाध्य इत्युक्ते अपतर्पणसाध्योऽयमिति व्याधेरपतर्पण-साध्यत्वमनुक्तमपि सिद्ध्यति। "पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" इति उक्ते 'रात्रौ भुङ्क्ते' इति अनुक्तमपि अर्थादापद्यते॥**

भावार्थ—जहाँ एक अर्थ (विषय) के कहने से दूसरे न कहे हुए अर्थ (विषय) की सिद्धि हो, उसे अर्थप्राप्ति या अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे—यह व्याधि संतर्पण साध्य नहीं है, यह कहने से अपतर्पण साध्य है; यह अर्थ प्राप्त होता है।

तथा इस रोगी को दिन में नहीं खाना चाहिये यह कहने से रात्रि में खाना चाहिये; इस अर्थ की सिद्धि होती है।

वक्तव्य—मीमांसक तथा वेदान्ती लोगों का कहना है कि 'अर्थापत्ति' नामक पाँचवें प्रमाण का स्वतन्त्र रूप से ग्रहण भी यथार्थज्ञान के लिये आवश्यक है। इस प्रमाण के द्वारा एक अज्ञाततथ्य का हमें ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे—जब हम प्रातःकाल सोकर उठे तो देखा कि सारी जमीन आर्द्र (भींगी) है। इस भींगी हुई जमीन से हमने यह समझ लिया कि रात्रि में वर्षा हुई होगी। इसी प्रकार किसी के यह कहने पर कि मोटा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता, तो हम यह समझ लेते हैं कि रात्रि में यथेष्ट भोजन कर लेता होगा तथा किसी परिचित व्यक्ति के खोजने पर पता चला कि वह घर पर नहीं है; इससे यह कल्पना कर लेते हैं कि कहीं बाहर गया होगा इत्यादि। अर्थापत्ति एक प्रकार की आवश्यक कल्पना (Hypothesis) है, जिसके बिना कुछ ज्ञात तथ्य को समझना असम्भव-सा है। परन्तु नैयायिक इस तरह की अर्थापत्ति को एक प्रकार का अनुमान मात्र मानता है; क्योंकि इसमें किसी प्रत्यक्ष किये हुए अर्थ का अनुमान उसके नित्य सम्बन्ध के द्वारा करते हैं।

अनुपलब्धि या अभाव-प्रमाण के लक्षण—

कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसक तथा **वेदान्ती** छठा प्रमाण अनुपलब्धि (Non-apprehension) मानते हैं। इस प्रमाण के द्वारा हमें अभावात्मक विषय (Non-existence of objects) का ज्ञान होता है। जैसे—'टेबल पर दवात नहीं है' इसका ज्ञान तथा 'मैं क्या हूँ यह मुझे मालूम नहीं' इत्यादि। नैयायिक इस तरह के ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत मानते हैं। उनका कहना है कि जिस इन्द्रिय द्वारा जिस अर्थ का ग्रहण किया जाता है, उसी इन्द्रिय द्वारा उसके अभाव का भी बोध होता है, अतः यह अभावात्मक ज्ञान भी इन्द्रिय-सन्निकर्ष से होने के कारण प्रत्यक्ष के अन्दर ही है। अनुपलब्धि तथा अभाव नामक स्वतन्त्र प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

ऐतिह्य प्रमाण के लक्षण—ऐतिह्य एक परम्परा है, जो वंशानुवंशक्रम से अतीतकाल से चला आ रहा है। यह कैसे आया, यह कहना कठिन है। इसके कारण का कोई पता नहीं चलता। हमारी बहुत-सी धारणाएँ परम्परा पर ही अवलम्बित हैं। पौराणिक लोग इस ऐतिह्य को ज्ञान का कारण मानते हैं। नैयायिकों के मत से यह एक प्रकार का 'शब्द' है पर शब्द 'प्रमाण' नहीं है। क्योंकि यह क्या मालूम कि यह परम्परागत उपदेश आप्त द्वारा ही वर्णित है।

चेष्टा (Gesture)—चेष्टा के द्वारा भी ज्ञान की उपलब्धि होती है, जैसे—एक गूँगे की चेष्टा (आकृति) को देखकर यह ज्ञान होना कि वह भूखा

है। कई बार मनुष्य के आकार-प्रकार (Gesture and Posture) से उसके विचारों का ज्ञान हो जाता है। नैयायिक इसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। इसे एक प्रकार का अनुमान मानते हैं, क्योंकि इसमें किसी लिङ्ग विशेष से उस लिङ्ग के रखनेवाले (लिङ्गी) का ज्ञान होता है।

परिशेष (Elimination)—इस प्रमाण द्वारा किसी अर्थसमुदाय से अनभीष्ट अर्थों को हटाकर अभीष्ट अर्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे—किसी एक व्यक्ति को किसी जनसमुदाय से ढूँढ़ निकालना है। यह जानने पर कि वह व्यक्ति उस जनसमुदाय में है। फिर उस जनसमुदाय से सभी परिचित व्यक्तियों को हटाकर जो एक अपरिचित व्यक्ति शेष रहा उसे ढूँढ़ निकाला। इसे नैयायिक स्वतन्त्र-प्रमाण नहीं मानते हैं।

सम्भव (Inclusion)—चाकू के ज्ञान से चाकू में जुड़े हुए बेंत का या धार का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार उस वस्तु का ज्ञान सम्भव-प्रमाण द्वारा होता है जो किसी वस्तु में जुड़ा रहता है। जैसे—फुट के ज्ञान से इंच का भी ज्ञान होना सम्भव है। नैयायिक लोग इसे भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते।

परिशिष्ट

प्रमाणविवरण में आये हुए कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या :—

बुद्धिः[1] (Knowledge)—(आत्मा) का गुण-ज्ञान, जो कि सब व्यवहारों-का हेतु है, बुद्धि कहलाता है। बुद्धि दो प्रकार की होती है; (१) **स्मृति** और (२) **अनुभव**। पूर्व अनुभव के संस्कारमात्र से उत्पन्न हुए ज्ञान को 'स्मृति' कहते हैं। स्मृति भी दो प्रकार की होती है; (१) **यथार्थ** और (२) **अयथार्थ**। प्रमा से उत्पन्न हुई **स्मृति** यथार्थ है और अप्रमा से उत्पन्न हुई **स्मृति** अयथार्थ है। स्मृति से अतिरिक्त ज्ञान अनुभव है। अनुभव भी दो प्रकार का होता है; (१) **यथार्थ** और (२) **अयथार्थ**।

यथार्थ-अनुभव—जिस अनुभव में जो वस्तु जिस प्रकार की हो वह वैसी ही जानी जाय, यह यथार्थ-अनुभव है। इसे प्रमा भी कहते हैं।

अयथार्थ-अनुभव—जिस प्रकार की वस्तु हो उसका वैसा ज्ञान न होना अयथार्थ-अनुभव है। जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान। यथार्थ-अनुभव चार प्रकार के होते हैं—(१) **प्रत्यक्ष**, (२) **अनुमिति**, (३) **उपमिति** और (४) **शाब्द**। उनके कारण भी चार हैं—**प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान** और **शब्द-प्रमाण**। इनकी व्याख्या पहले हो चुकी है।

१—"सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्।" —तर्कसंग्रहः

करण[1]—असाधारण कारण का नाम 'करण' है। कारण—अनन्यथासिद्ध होते हुए जो वस्तु सदा ही कार्य उत्पन्न होने के पूर्व वर्तमान रहती है, उसको उस कार्य का कारण कहते हैं। कार्य—अपने प्राग्भाव (उत्पन्न होने के पूर्व का अभाव) के प्रतियोगी (विरोध) को कार्य कहते हैं। अर्थात् जो वस्तु पहले मौजूद न हो और अब उत्पन्न हो गई हो, उसका नाम कार्य है। कारण तीन प्रकार के होते हैं। (१) **समवायि,** (२) **असमवायि** और (३) **निमित्त।**

समवायिकारण[2]—वह है, जिसमें समवेत रहते हुए कार्य उत्पन्न होता है। जैसे तन्तु पट का और पट अपने रंग आदि गुणों का।

असमवायिकारण[3]—वह है, जो स्वयं समवायि न हो, किन्तु जिसके कार्य अथवा कारण के साथ एक ही वस्तु में समवेत होने पर कार्य की उत्पत्ति होती हो। जैसे—तन्तुसंयोग कपड़े का और तन्तुओं का रंग कपड़े के रंग का असमवायिकारण है।

निमित्तकारण[4]—इन दोनों से भिन्न जो कारण है, उसको निमित्तकारण कहते हैं। जैसे—तुरी, तन्तुवाय आदि।

उपर्युक्त तीनों कारणों में जो किसी कार्य का व्यापारवान् असाधारण कारण हो, उसे 'करण' कहते हैं। जैसे—प्रत्यक्ष ज्ञान का करण प्रत्यक्ष प्रमाण है।

समवाय[5]—नित्य सम्बन्ध का नाम समवाय है। वह अयुतसिद्ध वस्तुओं में होता है।

अयुतसिद्ध[6]—जिन दो वस्तुओं में से एक ऐसी हो कि जब तक वह नष्ट न हो जाय, तब तक दूसरों के आश्रय पर स्थित रहे, उनको अयुतसिद्ध कहते हैं। जैसे—अवयवी और उसके अवयव, गुणी और उसके गुण, क्रियावान् और उसकी क्रिया, जाति और उसकी व्यक्ति, नित्य द्रव्य और उसकी विशेषता।

१—"असाधारणं कारणं करणम्" —तर्कसंग्रहः

अनुभव (Experience)

यथार्थ (Valid) अयथार्थ (Invalid)

२—"यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायि कारणम्" —तर्कसंग्रहः

३—"कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिंन्नर्थे समवेतत्वे सति यत्कारणं तदसमवायि-कारणम्।" —तर्कसंग्रहः

४—"तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्।" —तर्कसंग्रहः

५—"नित्यसम्बन्धः समवायः अयुतसिद्धवृत्तिः।" —तर्कसंग्रहः

६—"ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रित मेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ।" —तर्कसंग्रहः

पक्ष[1]—जिसमें किसी साध्य (अनुमान द्वारा सिद्ध किये जानेवाली वस्तु) के होने का सन्देह हो वह पक्ष है। जैसे—पर्वत पर धूम के वर्तमान होने से वहाँ अग्नि होने का सन्देह होता है।

सपक्ष—जहाँ पर साध्यवस्तु का वर्तमान होना निश्चित हो। जैसे—चौका।

विपक्ष—जहाँ पर साध्य का मौजूद होना निश्चित न हो। जैसे—जलाशय।

हेत्वाभास[2] (Fallacy)—सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित ये पाँच हेत्वाभास हैं।

सव्यभिचार—अनैकान्तिक (जो कि अपने साध्य के साथ ही सर्वदा वर्तमान न रहे ऐसे) हेतु का नाम सव्यभिचार है। यह तीन प्रकार का होता है; (१) **साधारण,** (२) **असाधारण** और (३) **अनुपसंहारी**।

साधारण—वह हेतु है जो साध्य वस्तु के अभाव-स्थान में भी मौजूद रहे। जैसे—पर्वत पर आग है, क्योंकि पर्वत ज्ञान का विषय है। यहाँ पर जो हेतु (ज्ञान का विषय होना) है, वह वहाँ पर भी मौजूद रहता है जहाँ पर आग नहीं रहती, जैसे—जलाशय।

असाधारण—वह हेतु है जो किसी भी सपक्ष या विपक्ष में वर्तमान न हो, केवल पक्ष में ही उपस्थित रहता हो, जैसे—शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें शब्दत्त्व है। शब्दत्त्व तो केवल शब्द में ही होता है और किसी नित्य या अनित्य वस्तु में नहीं।

अनुपसंहारी—वह हेतु है जिसके साथ न कोई अन्वय का दृष्टान्त हो और न कोई व्यतिरेक का, जैसे—प्रमेय होने के कारण सब कुछ अनित्य है। यहाँ पर सब कुछ पक्ष में होने की वजह से कोई सपक्ष या विपक्ष दृष्टान्त नहीं मिल सकता।

विरुद्ध—विरुद्ध वह हेतु है जिसके साथ उसके साध्य का अभाव हो यानी साध्यभाववान हेतु 'विरुद्ध' कहलाता है। जैसे—शब्द नित्य है क्योंकि वह उत्पन्न होता है। जो-जो पैदा होता है वह सब अनित्य है, इसलिये पैदा होनेवाला शब्द नित्य नहीं हो सकता है।

सत्प्रतिपक्ष—जिस हेतु के मुकाबले एक दूसरा ऐसा हेतु वर्तमान हो, जो कि उसके साध्य के अभाव को सिद्ध करता हो, उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। जैसे—शब्द सुने जाने के कारण नित्य है, और शब्द अनित्य भी है, क्योंकि वह कार्य है; जैसे—घट।

१—"सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः" (तर्कसंग्रह)। "निश्चितसाध्यवान् सपक्षः" —तर्कसंग्रहः

२—"सव्यभिचार-विरुद्ध-सत्प्रतिपक्षाऽसिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः।"

असिद्ध हेतु के तीन भेद हैं, यथा—(१) **आश्रयासिद्ध**, (२) **स्वरूपासिद्ध** और (३) **व्याप्यत्वासिद्ध**।

आश्रयासिद्ध—का उदाहरण यह है कि आकाश-कमल सुगन्धवाला है, क्योंकि वह कमल है; जैसे तालाब का कमल। यहाँ पर आकाश-कमल अनुमान का आश्रय है, वह स्वयं उपस्थित नहीं है।

स्वरूपासिद्ध—हेतु का उदाहरण यह है, शब्द गुण है, क्योंकि वह आँखों द्वारा दिखाई देता है। यहाँ पर शब्द में आँख द्वारा दिखाई देने का गुण ही नहीं है, क्योंकि शब्द तो कान से सुनाई देनेवाली वस्तु है, न कि आँख से दिखाई देनेवाली वस्तु।

व्याप्यत्वासिद्ध—उपाधियुक्त हेतु का नाम व्याप्यत्वासिद्ध है। उपाधि—जो साध्य का व्यापक हो परन्तु साधन का व्यापक न हो उसे 'उपाधि' कहते हैं। साध्य के अत्यन्त अभाव स्थल में उपाधिरूप प्रतियोग का होना ही साध्य का व्यापक होना है। साधन के साथ उपाधि के अभाव का रहना साधन का अव्यापक होना कहलाता है। इस अनुमान में कि पर्वत पर धुआँ है क्योंकि वहाँ पर आग है, यहाँ गीले इन्धन का संयोग उपाधि है। जहाँ धुआँ है वहाँ गीले इन्धन का संयोग है—यह साध्यव्यापकता है। जहाँ अग्नि है वहाँ गीले इन्धन का संयोग नहीं है; जैसे—लोहे के गोले में गीले इन्धन का संयोग नहीं है। यह साधन की अव्यापकता है। इसलिये साध्य के साथ व्यापक होने पर तथा साधन के साथ व्यापक न होने से गीले इन्धन का संयोग उपाधि कहलाता है। उपाधि के साथ होने पर भी अग्नि का होना सिद्ध करनेवाला हेतु सोपाधिक कहलाता है।

बाधित—जिस हेतु के साध्य का अभाव दूसरे प्रमाण से निश्चित रूप से सिद्ध है वह हेतु 'बाधित' कहलाता है। जैसे आग 'गरम नहीं' है क्योंकि वह द्रव्य है। यहाँ पर 'गरम न होना' साध्य है। उसका अभाव (गरम होना) स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान से सिद्ध है। इसलिये इस साध्य को सिद्ध करने के लिए दिया गया हेतु बाधित है।

आकांक्षा—दूसरे शब्द के उच्चारण हुए बिना जब किसी शब्द का अभिप्राय समझ में न आवे, तब इस प्रकार के किसी वाक्य के पदों का सम्बन्ध आकांक्षा कहलाता है।

योग्यता—अर्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा न होना योग्यता है।

सन्निधि—बिना विलम्ब के पदों का उच्चारण सन्निधि है।

नोट—आकांक्षा आदि से रहित वाक्य अप्रामाणिक होता है, प्रमाण नहीं होता। जैसे—गौ, पुरुष, अश्व, हस्ती ऐसे वाक्य आकांक्षा से रहित होने के कारण

प्रमाणिक नहीं हैं। 'अग्नि से सींचो' यह वाक्य योग्यता न होने के कारण प्रमाणिक नहीं है। 'गौ-को-ला-ओ' यह वाक्य प्रमाण नहीं होगा यदि इसके पद एक-एक पहर के पीछे उच्चारण किये जायँ, क्योंकि सन्निधि का अभाव हो जायगा।

अयथार्थानुभव––तीन प्रकार के होते हैं; (१) **संशय**, (२) **विपर्यय** और (३) **तर्क**।

संशय––जिस ज्ञान में एक ही वस्तु में अनेक विरुद्ध धर्मों की भी उपस्थिति मालूम हो, वह संशय है। जैसे यह स्थाणु है या पुरुष।

विपर्यय––मिथ्याज्ञान का नाम विपर्यय है; जैसे––शुक्ति में चाँदी का ज्ञान।

तर्क––व्याप्य के द्वारा व्यापक को सिद्ध करने का नाम तर्क है; जैसे––यदि आग न हो तो धुआँ भी नहीं होना चाहिये।

पदार्थ-विज्ञान

अध्याय २

अथातः पदार्थविज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेयादयो महर्षयः ।

वक्तव्य—पहले अध्याय में पदार्थ के यथार्थ ज्ञान के साधन **प्रमाण** की परिभाषा, स्वरूप तथा उनके भेदों का वर्णन किया गया है। इस अध्याय में **पदार्थ** का वर्णन किया जायगा। प्रमाणों के द्वारा प्रमा की उपलब्धि होती है। इस 'पदार्थ-विज्ञान' नामक पुस्तक में 'पदार्थ-विज्ञान' प्रमा है और 'पदार्थ' प्रमेय है। इस पुस्तक के पाठक (प्रमाता) पदार्थ (प्रमेय) का यथार्थज्ञान (प्रमा) प्रथम अध्याय में कहे हुए प्रमाणों द्वारा लाभ करने में समर्थ हो सकें, इसीलिये अब पदार्थ का विवेचन प्रारम्भ किया जाता है।

पदार्थ के लक्षण

"अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्" —तर्कदीपिका

"प्रमितिविषयाः पदार्थाः" —सप्तपदार्थी

"षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि" —प्रशस्तपाद

"पदप्रतिपाद्योऽर्थः" —तात्पर्यटीका

"योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः, पदस्य पदयोः पदानां वा अर्थः पदार्थः" —सुश्रुत उत्तरतन्त्र

भावार्थ—पदार्थ का अर्थ है अभिधेय वस्तु अर्थात् किसी नाम को धारण करनेवाली वस्तु। प्रमिति (ज्ञान) का विषय होना भी पदार्थ कहलाता है। अतः ज्ञेयत्व तथा अभिधेयत्व पदार्थ का सामान्य लक्षण कहा गया है। पदार्थों में अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व का होना आवश्यक है। पद के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को पदार्थ कहते हैं। जो अर्थ सूत्र या पद में अभिहित होता है उसे पदार्थ कहते हैं। पद का अर्थ अथवा पदों का अर्थ पदार्थ है।

वक्तव्य—भारतीय दार्शनिकों ने पदार्थ के सम्बन्ध में प्रायः सामान्य रूप से विचार प्रकट किये हैं। पदार्थ विभाजन तथा वर्गीकरण में अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार परस्पर भेद हैं। परन्तु पदार्थ क्या है? इस सम्बन्ध में कोई मौलिक भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। सबों ने पद के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को ही पदार्थ कहा है। आयुर्वेद में पदार्थ-वर्णन दो दृष्टिकोण से किया गया प्रतीत

होता है। प्रथम-सृष्टि के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार करते हुए उनका वर्गीकरण करने की दृष्टि से जो चरक-सूत्रस्थान में षट्पदार्थों का वर्णन है। वह वैशेषिक दर्शन के आधार पर किया गया है। दूसरा—व्यवहारिकता की दृष्टि से अर्थात् आयुर्वेद-शास्त्र के सूत्रों तथा पदों में अभिहित अर्थों को समझने की दृष्टि से। जैसे—सुश्रुत उत्तरतन्त्र में तन्त्रयुक्तिवर्णन। यह वर्णन मेधार्थी गौतम के आन्विक्षिकी सिद्धान्त के अनुसार है।

आयुर्वेद का अध्ययन करनेवाले छात्रों के लिए 'पदार्थ के मौलिक स्वरूप का ज्ञान होना परमावश्यक है। अतः आयुर्वेदीय पदार्थ (जो वैशेषिक के आधार पर है) का ज्ञान लाभ करने के लिए सर्वप्रथम वैशेषिक दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है। चीन देशीय प्रसिद्ध दार्शनिक **'चिस्तान'** और **'क्वेटेची'** ने अपने संग्रह में इस दर्शन को वैशेषिक नाम होने के कारण, अन्य दर्शनों से (प्रधानतः सांख्यदर्शन से) विशिष्ट तथा अधिक युक्तियुक्त होना बतलाया है। पर भारतीय विद्वानों के अनुसार 'विशेष' नामक पदार्थ पर विशिष्ट कल्पना करने के कारण **'कणाद-दर्शन'** का नाम वैशेषिक दर्शन पड़ा। (व्यासभाष्य)। कई आचार्यों का ऐसा विचार है कि साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा पदार्थों के तत्त्वज्ञान के लिए उपयोगी अर्थात् 'विशेष' रूप से प्रतिपादन करने के कारण ही इसका नाम वैशेषिक दर्शन है। वैशेषिक दर्शन पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य के प्रतिपादन द्वारा तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि करता है।

वैशेषिक दर्शन के आचार्य—इस दर्शन के सूत्रकार महर्षि 'कणाद' हैं। इनका नाम काश्यप भी है। **श्री हर्ष ने** 'नैषध' में 'कणाद दर्शन' को 'औलुक्य दर्शन' कहा है (२२–३६)। वैशेषिक सूत्रों की संख्या ३७० है जो दस अध्यायों में विभक्त हैं। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। प्रशस्तपाद का 'पदार्थ संग्रह' वैशेषिक तत्त्वों के निरूपण के लिये नितान्त मौलिक ग्रन्थ है। इसे **'प्रशस्तपादभाष्य'** भी कहते हैं—

वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों पर निम्न प्रसिद्ध आचार्यों तथा विद्वानों ने टीका तथा भाष्य के रूप में अपने विचार प्रकट किये हैं।

(१) दक्षिण देशवासी श्री व्योम शिवाचार्य की **'व्योमवती' टीका,** (२) उदयनाचार्य की **'किरणावली',** (३) गौड़देशीय श्रीधराचार्य की **'न्याय-कन्दली',** (४) वल्लभाचार्य की **'न्यायलीलावती',** (५) मिथिला-निवासी श्री पद्मनाभ मिश्र की **'सेतु'** (अपूर्ण), (६) दरभंगानिवासी श्री शंकर मिश्र की **उपस्कार** या **कणादरहस्य,** (७) जगदीश भट्टाचार्य की **'सूक्ति',** (८) श्री शिवादित्य मिश्र की **'सप्तपदार्थी',** (९) बंगाल के प्रसिद्ध दार्शनिक विश्वनाथ

तर्कपंचानन का **'भाषापरिच्छेद'** तथा **'न्यायसूत्रवृत्ति'** और (१०) काशीस्थ वेद-विद्यालयाध्यापक पं० ढुण्ढिराज शास्त्री का **विवरण**।

वैशेषिकतत्त्वमीमांसा—शताब्दियों से देश के मस्तिष्क में बौद्धों का यह विचार कि संसार के सभी पदार्थ परस्पर संयोग से उत्पन्न होते हैं; उन द्रव्यों के अन्दर कोई विशिष्ट पदार्थ नहीं होता; इनका परस्पर संयोग ही जीवन का मूल तत्त्व है, आत्मा तथा प्रकृति नाम की कोई वस्तु पृथक् नहीं होती इत्यादि प्रबल रूप से जड़ पकड़े हुए था। अतः जब वे किसी वस्तु के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट करते थे तो उस वस्तु के परिणाम को देखकर उसका श्रेय उस वस्तु को ही देते थे। इस विचारधारा का वैशेषिकों ने प्रबल रूप से विरोध किया और संसार के सामने अधिक सन्तोषप्रद अपनी व्याख्या रखी, जिसमें परवर्ती विचारकों को अधिक वास्तविकता तथा औचित्य दिखाई पड़ा।

वैशेषिकों के विचार में सबसे विशेषता यह रही कि उन्होंने जगत् के पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध तथा उनकी विशेषताओं (साधर्म्य और वैधर्म्य) का सर्वप्रथम एवं सबसे सरल और व्यापक ढंग से वर्णन किया है। वैशेषिकों का कहना है कि जब हम अपनी आँखें खोलते हैं तो हमारे सामने विस्तृत भौतिक-जगत् दृश्यमान होता है और जब हम उस भौतिक-जगत् की रचना पर विचार करने लगते हैं तो उसके अन्दर एक अभौतिक द्रव्य की भी प्रतीति होती है अर्थात् उस जगत् के रचयिता (चेतन तत्त्व) का अनुमान होता है। ऐसी परिस्थिति में दर्शनशास्त्र यह निर्देश करता है कि हम अपने ध्यान को ऐसी कल्पनाओं में सीमित रखें जो अनुभूत तथा ज्ञेय विषय की व्याख्या में सहायक हो। दर्शन का विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण होना उसकी यथार्थता का द्योतक है। अस्तु, वैशेषिक लोग जगत् की वस्तुओं के लिये 'पदार्थ' शब्द का व्यवहार करते हैं। पदस्य+अर्थः=पदार्थः।

ये पदार्थ **कणाद** के अनुसार ६ और **नव्यन्याय** के अनुसार ७ हैं। इन्हें दो भागों में विभक्त किया गया है। (१) **भाव पदार्थ** और (२) **अभाव पदार्थ**। परन्तु कणाद (वैशेषिक) इस विभाजन की आवश्यकता नहीं समझते। इनका कहना है कि भाव पदार्थ के ग्रहण से ही अभाव का ग्रहण हो जाता है। अतः अभाव नामक ७वें पदार्थ को मानने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि जिन प्रमाणों (इन्द्रियों) द्वारा पदार्थों का ग्रहण होता है उन्हीं प्रमाणों द्वारा उसके अभाव का भी ग्रहण होता है। नव्यन्याय के अनुसार भाव पदार्थ ६ और अभावपदार्थ दो हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, ये ६ भाव पदार्थ हैं और संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव ये दो अभाव पदार्थ हैं। संसर्गाभाव के तीन भेद हैं—**प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव**।

उपरोक्त ६ या ७ पदार्थों की स्पष्ट सत्ता है। प्रथम तीन पदार्थ द्रव्य, गुण और कर्म के अन्दर वास्तविक बाह्य विषयक सत्ता (Objective existence) है। कणाद ने इन्हें 'अर्थ' कहा है। शेष तीन सामान्य, विशेष और समवाय बुद्ध्यपेक्ष्य (Intellectual discrimination) हैं। ये तार्किकों के वर्गीकरण (पदार्थ) हैं। इनमें गुण और कर्म द्रव्य के अन्दर समवाय सम्बन्ध से स्थित हैं। नैयायिकों ने "संबंध" के दो भेद कहे हैं। (१) **संयोग** और (२) **समवाय**। अपृथक्सिद्ध पदार्थों का संबन्ध समवाय कहलाता है। समवाय संबंध नित्य होता है। जैसे—जमीन पर टेबुल यह पहले का उदाहरण है और गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, विशेष और नित्य पदार्थ इत्यादि दूसरे के उदाहरण हैं। नैयायिक संयोग को संयोगी का गुण मानता है परन्तु समवाय किसी का गुण नहीं होता, प्रत्युत् वह स्वतन्त्र पदार्थ है। पाश्चात्य विचारक 'रसल' का भी विचार इससे साम्य रखता है[1] वैशेषिक का 'द्रव्य' और 'गुण' अरस्तु के सब्स्टेन्स (Substance) और क्वालिटी (Quality) से मिलता है। अरस्तु (Aristotle) का क्वान्टिटी भी (Quantity) गुण के अन्दर ही आ जाता है। संबंध दो प्रकार का होता है। (१) **बाह्य** और (२) **आभ्यन्तर**। यह क्रमशः संयोग और समवाय के समान है। इनमें पहला गुण (Quality) और दूसरा पदार्थ (Category) माना जाता है। शेष सभी पदार्थ सम्बन्ध (Relation) के अन्दर आ जाते हैं; परन्तु काल (Time) और दिक् (Space) स्वतन्त्र द्रव्य हैं। कर्म के लिये ऐक्टीविटी (Activity) आया है, पर इसके साथ पैसिविटी (Passivity) भी आता है जो कर्म का अभाव मात्र है। गुण (Property) दो तरह का हो सकता है; (१) **सामान्य** (General) और (२) **विशेष** (Particular)। विन्यास (Disposition) को भी वे गुण मानते हैं।

यदि अरस्तु का भी कोई निश्चित सिद्धान्त होता तो वह इस प्रकार की स्थापना करते कि स्थायी तथा अस्थायी गुण वाले द्रव्य की स्थिति काल (Time) और दिक् (Space) के अन्दर है, जिससे शेष सभी द्रव्य जाल की भाँति सम्बद्ध है। ऐसी हालत में सब्स्टेन्स (Substance), क्वालिटी (Quality), ऐक्शन (Action) और रिलेशन (Relation) विभाजन के प्रधान शीर्षक

१—"It will be seen that the views of the Naiyayikas have a striking resemblance to those of the contemporary western realist like Russel" —*Six ways to Knowing by Dr. Dutta*

हो सकते थे। अरस्तु के इस दोषपूर्ण वर्गीकरण का स्टोइक्स, नियोप्लेटेनिष्ट और कॉन्ट ने भी उल्लेख किया है[1]।

पदार्थों का साधर्म्य और वैधर्म्य—समान धर्म का नाम साधर्म्य और विशेष धर्म का नाम वैधर्म्य है। उक्त षट्पदार्थों में अस्तित्व अर्थात् स्वरूपत्व, अभिधेयत्व अर्थात् अभिधानयोग्यता और ज्ञेयत्व अर्थात् ज्ञानविषयत्व समान रूप से वर्तमान रहता है अतः ये षट् पदार्थों के समान धर्म होने से साधर्म्य कहलाते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थों में समवायित्व और अनेकत्व धर्म समान रूप से है अतः ये उक्त द्रव्यादि पाँचों के साधर्म्य हैं। गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन पाँच पदार्थों में निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व धर्म समान रूप से रहता है अतः गुणादि पंच पदार्थों के ये साधर्म्य हैं। द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में सत्तासम्बन्ध (समवायलक्षण), सामान्य-विशेषत्व, स्वसमवायार्थशब्दाभिधेयत्व और धर्माधर्मकर्तृत्व ये धर्म समान रूप से रहते हैं, अतः ये द्रव्यादि तीन पदार्थों के साधर्म्य हैं। अणु-परिमाण, ह्रस्व परिमाण और परम महत् परिमाण इनको छोड़कर इनके अन्दर कारणत्व भी समान रूप से रहता है। नित्य द्रव्यों को छोड़कर अर्थात् अनित्य द्रव्यों में द्रव्याश्रितत्व है। सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थों में स्वात्मसत्त्व अर्थात् इनकी स्वतः सत्ता है, बुद्धिलक्षणत्व अर्थात् इनकी स्वात्मसत्त्वता में बुद्धि प्रमाण है जो संकेत करती है; अकार्यत्व अर्थात् यह किसी का कार्य नहीं है, अकारणत्व अर्थात् ये किसी के समवायी तथा असमवायी कारण नहीं हैं, "असामान्याविशेषत्वम्" अर्थात् इनके अन्दर सामान्य तथा विशेष नामक पदार्थ नहीं है, नित्यत्व अर्थात् नित्य है, और अर्थशब्दानभिधेयत्व अर्थात् अर्थ शब्द इनके लिये प्रयोग नहीं होता, ये धर्म समान रूप से हैं, अतः ये सामान्यादि तीन पदार्थों के साधर्म्य हैं।

कैटेगोरी (Category)—पाश्चात्य दर्शन में 'पदार्थ' शब्द के लिये कोई शब्द नहीं मिलता। यद्यपि 'कैटेगोरी' शब्द सर्वत्र व्यवहृत हुआ है तथापि 'कैटेगोरी' शब्द से वह सम्पूर्ण भाव नहीं झलकता जो पदार्थ शब्द से झलकता है।

१—"The defective character of Aristotle, analysis was noticed by the Stoics & Neo-platenist; Kant, who thinks that Aristotle simply Jotted down the catagories as they occured to him and Hegel, who observes that Aristotle threw them together anyhow. Mill rather contemptuously remarks that Aristotle's list is like a devision of animals into men, quadrupeds, horses and asses etc."

—*History of Indian Philosophy by Dr. S. Radhakrishnan*

कैटेगोरी का शाब्दिक अर्थ समान वर्ग या स्वतः सिद्ध कल्पना है[१]। यह शब्द फिलॉसफी में अस्तित्व की अन्तिम कल्पना, धारणा तथा पकड़ के लिये व्यवहृत होता है। इस अर्थ में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अरस्तु (Aristotle) ने किया। अरस्तु का यह विचार बहुत दिनों तक अबाधरूप से चलता रहा। कॉन्ट का विचार अरस्तु के विचार से भिन्न था। फिर भी दोनों दार्शनिकों के विचार इस सम्बन्ध में बहुत कुछ सामञ्जस्य रखते हैं। उक्त भेद निम्न दोनों दार्शनिकों के कैटेगोरी सम्बन्धी विचार से स्पष्ट हो जायगा।

अरस्तु के विचार

लैटिन नाम	अंग्रेजी नाम	हिन्दी अनुवाद
१. सब्स्टेन्शिया (Substantia)	सब्स्टेन्स (Substance)	द्रव्य
२. क्वान्टीटास (Quantitas)	क्वान्टिटी (Quantity)	गुण
३. क्वालिटास (Qualitas)	क्वालिटी (Quality)	गुण
४. रिलेशियो (Relatio)	रिलेशन (Relation)	सम्बन्ध
५. उबी (Ube)	प्लेस (Place)	स्थान या दिक्
६. क्वान्टो (Quanto)	टाइम (Time)	काल
७. हाबिटास (Habitas)	कन्डीशन (Condition)	दशा (प्रकार)
८. सीटस (Situs)	सिचुयेशन (Situation)	स्थिति
९. एक्शियो (Actio)	एक्टिविटी (Activity)	कर्म
१०. पैसियो (Passio)	पैसिविटी (Passivity)	अकर्म

ऊपर के कहे हुए 'कैटेगोरी' के दस विचार किस प्रकार अरस्तु के मानस में आया, इसका कोई निश्चित सूत्र नहीं मिलता परन्तु कुछ लोगों का विचार है कि

१—"Category—Class or rank, a priory conception. Philosophically, however the term category is confined to ultimate modes of being or to the ultimate concepts or modes of apprehension by which reality is known. The first systematic account of category was given by Aristotle. This account held the field for many centuries. It's most serious competitor in the history of philosophy, is the account given by Kant. But although the general orientation of the two philosophers was very different, yet their list of categories are remarkably similar, when due allowance is made for their difference in philosophical standpoint." —*Encyclopedia Britannica*

सम्भवतः व्याकरण (Grammar) की संज्ञा आदि विभाजन से उन्हें यह संकेत प्राप्त हुआ[1]।

कॉन्ट के विचार (Kant's account of categories)—कॉन्ट के विचार से 'कैटेगोरी' मन तथा बुद्धि की भावना सम्बन्धी संकलन का प्रकार है, जो निर्णयात्मक विचारों का परिणामस्वरूप उपलब्ध होता है। कॉन्ट ने 'कैटेगोरी' का निम्न प्रकार वर्णन किया है :—

निर्णयक विचार के स्वरूप (Forms of judgment)	तदनुरूप कैटेगोरी (Corresponding categories)
१—Quantity (गुण)	१—Quantity (गुण)
(क) Singular (This S. is P.)	(क) Unity (इकाई)
(ख) Particular (Some S. is P.)	(ख) Plurality (बहु)
(ग) Universal (All S. is P.)	(ग) Totality (समुदाय)
२—Quality (गुण)	२—Quality (गुण)
(क) Affirmative (S. is P.)	(क) Reality (वास्तविकता)
(ख) Negative (S. is not P.)	(ख) Negation (नकारात्मक)
(ग) Infinite (S. is not P.)	(ग) Limitation (अवधि)
३—Relation (सम्बन्ध)	३—Relation (सम्बन्ध)
(क) Categorical (S. is P.)	(क) Substantiattity
(ख) Hypothetical (If 'A' thenC.)	(ख) Casuality
(ग) Disjunctive (Either A or B.)	(ग) Receprocity
४—Modality	४—Modality
(क) Problematic	(क) Possibility & Impossibility
(ख) Assertive	(ख) Existence & Non-existence
(ग) Apodictic	(ग) Necessity & Continuity

वैशेषिकानुमत आयुर्वेद में गृहीत ६ पदार्थ

"तेनर्षयस्ते ददृशुर्यथावज् ज्ञानचक्षुषा ।
सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ।
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः ।।"

—च० सू० १–९

१—'How exactly Aristotle arrived at his scheme of ten categories is not known. It has been suggested that he was guided by familiar grammatical distinctions, but there is no evidence of this contention." —*Encyclopedia Britannica*

"धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" ॥ ——वै० द० १।४

चक्रपाणिः——ज्ञानार्थं ज्ञानरूपं वा चक्षुः——ज्ञानचक्षुः, तेन ज्ञानचक्षुषा। आयुर्वेदेन किं ददृशुरित्याह——सामान्यञ्चेत्यादि×××××××। तन्त्रोक्तं विधिमित्यपथ्यपरिहारपथ्योपादानरूपम्×××××।

गङ्गाधरः——अथायुर्वेदाध्ययनेन ज्ञानचक्षुषा। ज्ञानं निश्चयात्मकं युक्तं चक्षुर्ज्ञानचक्षुस्तेन ददृशुः। किमित्याह——सामान्यमित्यादि। सामान्यञ्च विशेषञ्चेति चकारद्वयं मिथो भेदार्थम्। गुणादिभिस्त्रिभिः सह प्रत्येकमन्वयार्थं तु कर्म चेति चकारः। समवायस्य सामान्यविशेषाभ्यां सहान्वयार्थं समवायञ्चेति चकारः। सामान्यविशेषाभ्यां सह प्रत्येकमन्वितगुणद्रव्यकर्मभ्योऽपि भेदाख्यानाय च। तेन सामान्यं सामान्यस्वरूपान् गुणान् सामान्यरूपद्रव्याणि सामान्यभूतं कर्म च। विशेषं विशेषात्मकगुणान् विशेषात्मकानि द्रव्याणि विशेषात्मकं कर्म चेति। समवायञ्च सामान्यं विशेषञ्च ददृशुरित्यर्थः। अर्थं सामान्यादिकं षट्कं ददृशुः। प्रत्येकं भेदात्। तथा च चकारचतुष्कान्यतममावृत्य चकारषट्कं ज्ञेयं प्रत्येकप्रभेदमिथोभेदयोर्ज्ञापनार्थमिति, तन्न, द्रव्यगुणकर्मसमवायेभ्यः सामान्यविशेषयोरनतिरिक्तत्वात् तथा विवरीतव्यमुत्तरकालम्। द्रव्यस्य प्राधान्येऽपि यथास्वगुणसमवायात्मकत्वख्यापनाय गुणानिति प्राग्द्रव्यादुपात्तमिति यत् तन्न, मूर्त्यशानां द्रव्यत्वेन गुणातिरिक्तत्वात्। गुणकर्माश्रयत्वख्यापनाय तु मध्ये तयोर्द्रव्यनिर्देशात्××××।

प्रशस्तपादः——द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं निश्रेयसहेतुः। तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव××××।

भावार्थ——भरद्वाज से ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ऋषिगण आयुर्वेदाध्ययन से प्राप्त ज्ञानचक्षु से निम्न पदार्थों को उनके वास्तविकरूप में (यथावत्) देखा। ये पदार्थ सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म और समवाय थे। इन पदार्थों के ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उन्होंने आयुर्वेद में निर्दिष्ट विधियों (तन्त्रोक्त विधियों) को अपनाया और उससे उन्हें परम शान्ति और दीर्घजीवन प्राप्त हुआ। उपरोक्त श्लोक में चकारों का प्रयोग परस्पर भेद प्रदर्शन के लिये हुआ है। 'कर्म' पदार्थ के साथ चकार का प्रयोग गुणादि (गुण, द्रव्य, कर्म) तीनों के साथ प्रत्येक की संगति या अन्वय के लिये हुआ है। समवाय का भी सामान्य और विशेष के साथ संगति (अन्वय) करने के लिये 'समवायञ्च' ऐसा पद आया है। इस प्रकार इन चकारों के प्रयोग से सामान्यस्वरूप गुणों का, सामान्यरूप द्रव्यों का तथा सामान्यभूत कर्मों का बोध होता है। इसी प्रकार विशेषरूप-गुणों का, विशेष

रूप द्रव्यों का तथा विशेषभूत कर्मों का भी बोध होता है। इस प्रकार सामान्य समवाय तथा विशेष समवाय की भी संगति बैठती है। (**चक्रपाणि** तथा **गंगाधर**)

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय—इन ६ पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य के द्वारा तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (परमपद) की प्राप्ति होती है।

वक्तव्य—अतीत काल में जब कोई विषम परिस्थिति उत्पन्न होती थी, तब ऋषिगण एकत्र बैठकर उस विषम परिस्थिति के निराकरण का उपाय सोचा करते थे। सत्ययुग के बाद जब युग के धर्मपादों का क्रमशः ह्रास होने लगा और प्रजा के अन्दर युग-प्रभाव से द्वेष, ईर्ष्या आदि अधर्म की वृद्धि होने लगी तो नाना प्रकार के विघ्नोत्पादक रोग उत्पन्न होने लगे, जिससे तपोपवास साधनादि व्रतों में बाधा तथा प्राणियों में बहुत आतंक होने लगा। ऋषिगण प्रजा के कल्याण की भावना से हिमालय के पार्श्व में एकत्र हो उक्त विघ्नों के नाश के उपाय ढूँढने में प्रवृत्त हुए। उस समय इन्द्र इस विषय के सबसे बड़े ज्ञाता थे, अतः भरद्वाज ऋषि सभी ऋषियों के प्रतिनिधि बन उन (इन्द्र) के पास आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिये गए। महर्षि भरद्वाज ने इन्द्र से प्राप्त आयुर्वेद-ज्ञान को अपने अन्य सहयोगी ऋषियों को यथावत् बताया। आयुर्वेद-ज्ञान लाभ करने के बाद ऋषिगण ध्यानाविष्ट हुए तो उन्हें अपनी ज्ञानचक्षु से सामान्य, विशेष, गुण, कर्म, द्रव्य और समवाय—ये ६ पदार्थ दृष्टिगोचर हुए।

आयुर्वेद के उक्त षट्पदार्थों के क्रम-वर्णन में अन्य (वैशेषिक दर्शन) शास्त्रों के क्रम-वर्णन से कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उपलब्ध टीकाओं में इसका कोई सुन्दर समाधान अबतक नहीं उपलब्ध होता है। आचार्य गंगाधर अपनी जल्पकल्पतरु टीका में गुण और कर्म के मध्य में द्रव्य का उल्लेख क्यों है, इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि द्रव्य, गुण और कर्म दोनों का आश्रय है, अतः दोनों के बीच में रखा गया है। इससे आगे इस सम्बन्ध में और कुछ नहीं मिलता। सामान्य तथा विशेष द्रव्य ज्ञान के अभिव्यञ्जक हैं, क्योंकि द्रव्य पदार्थ का ज्ञान सामान्य (जाति) तथा विशेष के द्वारा होता है। इसीलिये न्यायदर्शन में "व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः" ऐसा कहा है। किसी द्रव्य के परिचयार्थ उनके सामान्य तथा विशेष गुण-कर्म को जानना आवश्यक है, अतः पहले सामान्य तथा विशेष का वर्णन अभीष्ट हुआ। यों तो इनका वर्णन-क्रम की उपेक्षा नहीं करता। गुण और कर्म का आश्रय द्रव्य है अतः गुण-कर्म के मध्य में उनके आश्रय द्रव्य का वर्णन आया है। ये गुण-कर्म द्रव्य के अन्दर समवायसम्बन्ध से स्थित हैं अतः समवाय का वर्णन इसके बाद किया गया है।

आयुर्वेद-शास्त्र का प्रयोजन स्वास्थ्य की रक्षा तथा आर्तप्राणियों की अर्ति (रोग) का नाश करना है। शरीर के अन्दर जब दोष की साम्यावस्था

भग्न हो जाती है तब रोग का प्रादुर्भाव होता है। इस दोषवैषम्यजन्य रोग को दूर करने के लिये पुनः दोषों को साम्यावस्था में लाना पड़ता है। यह कार्य गुणकर्माश्रित द्रव्यों के सामान्य और विशेष-ज्ञान के बिना सम्पादित नहीं हो सकता। अतः सर्वप्रथम द्रव्यों के सामान्य तथा विशेष नामक पदार्थों का ज्ञान आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान में आवश्यक प्रतीत हुआ है। यही कारण है कि चिकित्सा का उपदेश करते समय सर्वप्रथम—"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धि-कारणम्। ह्रास-हेतु विशेषश्च"—इस सूत्र का उपदेश होता है। क्योंकि "क्षीणा वर्धयितव्या वृद्धाः ह्रासयितव्या, समाः पालयितव्याः" यही चिकित्सा का मूल सिद्धान्त है। द्रव्यों के सामान्य गुण-कर्म तथा विशेष गुण-कर्म के ज्ञान से उनके परस्पर सामान्य तथा विशेष एवं समवाय के समझने में चिकित्सक को भ्रम नहीं होता। इस भ्रमरहित ज्ञान से चिकित्सक दोष तथा द्रव्यों के सामान्य गुण-कर्म के सामान्य तथा विशेष एवं समवाय को ठीक-ठीक समझने में समर्थ होता है और उक्त चिकित्सा सूत्र के अनुसार रोगप्रतिषेध तथा रोगमुक्त करने में कृतकार्य होता है।

चरकसंहिता में उपदिष्ट उक्त वैशेषिकानुमत षट्-पदार्थ, आयुर्वेदीय दृष्टि-कोण से कुछ भिन्न अर्थ रखते हैं। जैसे—सामान्य वैशेषिक के अनुसार केवल जति-बोधक है, परन्तु आयुर्वेद में इससे उन निश्चित वस्तुओं का बोध होता है जिनके घटक तथा स्वरूप एक समान हैं और विशेष जिसका अर्थ वैशेषिक में व्यक्ति या अन्तिम निर्णित वस्तु है जो एक को दूसरे से पृथक् करता है, चरक के अन्दर उन निश्चित वस्तुओं के लिये व्यवहृत होता है जो असमान या विपरीत घटक तथा स्वरूपवाले हैं। इस प्रकार सामान्य तथा विशेष आयुर्वेद में एक विशिष्ट अर्थ के द्योतक हैं। सामान्य तथा विशेष का सिद्धान्त आयुर्वेद में (प्रधानतः चिकित्सा में) प्रधान स्तम्भ है, क्योंकि चिकित्सा तथा पथ्य व्यवस्था का सारा दारोमदार इसी पर निर्भर करता है।

द्रव्य-विज्ञान

अध्याय २ (पाद १)

द्रव्य का लक्षण

"यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् तद् द्रव्यम्.....।

—च० सू० १।२३

"क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।" —वै० सू० १-१।१५

द्रव्यलक्षणं तु—"क्रियागुणवत् समवायिकारणम्" इति।—सु० सु० अ० ४०

द्रव्यलक्षणमाह—यत्रेत्यादि। यत्राश्रिताः यत्र समवेताः (समवायसम्बन्धेन स्थिताः) कर्म च गुणाश्च-कर्मगुणाः। कारणं समवायि यदिति समवायि कारणं यत्, द्रव्यमेव हि द्रव्यगुणकर्मणां समवायि कारणम्। समवायि कारणं च तत् यत् स्वसमवेतं कार्यं जनयति; गुणकर्मणी तु न स्वसमवेतं कार्यं जनयतः; अतो न ते समवायिकारणे, (चक्रः)। ××××× व्यवहारभूमावकाशं परम-महदक्रियं चोपलभ्यते, तत् पुनर्भूतान्तरैः संहन्यमानं क्रियावद् भवति (एतेन दिक्कालावपि व्याख्यातौ)। एवं आत्मा निष्क्रियोऽपि मनसः क्रियया क्रिया-वान्। द्रव्यं यदा उत्पद्यते तदानीमपि तन्नागुणं, स्वाभाविकगुणानुवृत्तेः। पृथिव्याः गन्धः, अपां रसः, तेजसो रूपम्, इत्येवमादिकः स्वाभाविको गुणो न शक्यते तदा प्रतिषेद्धुम्। कारणं समवायि इति यच्च समवायिकारणं समवायीति गुणैः सह अपृथग्भावः समवायः-तद्वत् समवायि। द्रव्यं गुणसमवायवृद्धिकारणं भवति, गुणोऽपि द्रव्यसमवायवान्। अनेन समवायस्यापि कारणत्वमुपदर्शितं भवति। अथवा यच्च कारणं समवायि न पृथग्भवति, यथा—तन्तवः पटस्य, तद् द्रव्यम्। 'गुणकर्माश्रयः समवायिकारणम्, इति द्रव्यलक्षणम्, (उपस्कार)। यत्र कर्म परिस्पन्दनलक्षणं संयोगविभागकारणं समेताश्च गुणाः यत्र शब्दादयो गुर्वादयो वा बुद्धिर्वा परादयो वा समवेताः, यच्च कारणं समवायि, तद् द्रव्य-मुच्यते। एतानि कर्मगुणाश्रयित्व—समवायिकारणत्वानि यद्यपि सर्वाणि सर्व-स्मिन् द्रव्ये न विद्यन्ते; तथापि यद्यत्र संभवति तेन तस्य द्रव्यत्वं कल्प्यम्। तद्यथा—मनसः कर्मगुणाश्रयित्वेन वाय्वादीनां तु कर्मगुणाश्रयत्वेन समवायि-कारणत्वेन च। (अरुणदत्त)

भावार्थ—जिस में संयोग विभाग का कारण परिस्पन्दन लक्षण (चलनात्मक) कर्म और रूप आदि गुण समवाय (नित्य) सम्बन्ध से आश्रित हैं और जो गुण-

कर्म तथा कार्य द्रव्य के तथा गुण-कर्म के प्रति समवायि (उपादान) कारण है, उसे द्रव्य कहते हैं। जिसमें आश्रित होकर गुण-कर्म तथा कार्य उत्पन्न होते हैं और जो गुण-कर्म तथा कार्य से या गुण-कर्म तथा कार्य जिससे कदापि भिन्न नहीं रह सकता उसे समवायिकारण कहते हैं। जैसे—मिट्टी घड़े का और तन्तु पट का समवायिकारण है।

वक्तव्य—कार्य के समवायिकारण और गुण तथा कर्म के आश्रयभूत पदार्थ को **'द्रव्य'** कहते हैं। 'द्रव्य' का यह लक्षण प्रधानतः कारण द्रव्य का है। यद्यपि आयुर्वेद-शास्त्र में 'द्रव्य' शब्द, कारण-द्रव्य तथा कार्य-द्रव्य दोनों के लिये आता है तथापि 'पदार्थ-विज्ञान' में प्रतिपाद्यद्रव्य से कारण-द्रव्य ही अभिप्रेत है। क्रियावान्, गुणवान्, गुण-कार्य तथा कार्य-द्रव्य के प्रति समवायिकारण होना, ये तीन लक्षण द्रव्य के कहे गये हैं। इन लक्षणों में से किसी एक को हटाने पर उसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोष आ जाता है। जैसे—"क्रियावत्वं द्रव्यत्वम्" अर्थात् जो क्रियावाला होता है वह द्रव्य है, ऐसा लक्षण करें तो आकाशादि द्रव्यों में उसकी अव्याप्ति होती है; क्योंकि व्यापक होने के कारण उनमें क्रिया नहीं हो सकती और क्रिया के न होने से वे क्रियावाले नहीं हो सकते। इसलिये उक्त दोष की निवृत्ति के लिये 'गुणवत्त्वं द्रव्यत्वम्' अर्थात् जो गुणवाला है उसको द्रव्य कहते हैं, यह दूसरा लक्षण किया गया है। इस लक्षण के करने से शब्दादि गुणवाला होने के कारण आकाशादि में अव्याप्ति रूप दोष की निवृत्ति हो जाने पर भी 'घट' आदि कार्य द्रव्यों में उक्त दोष ज्यों का त्यों बना रहता है, क्योंकि 'जायमानम् द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति" अर्थात् उत्पन्न हुआ घटादि द्रव्य एक क्षण बिना गुण के स्थिर होता है। इस न्याय के अनुसार प्रथम क्षणस्थ घटादि द्रव्यों में उक्त लक्षण की संगति नहीं हो सकती, इसलिये "समवायि कारणत्वं द्रव्यत्वं" अर्थात् जो समवायि-कारण होता है, उसको द्रव्य कहते हैं, यह लक्षण किया गया। इस लक्षण से घटादि द्रव्यों में उक्त दोष की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि वे सब द्रव्य प्रथम क्षण में भी अपने गुणों के प्रति समवायिकारण हैं, अर्थात् द्रव्य में गुण और क्रिया समवाय सम्बन्ध से आश्रित हैं, इसका तात्पर्य यह है कि गुण और क्रिया जब उत्पन्न होते हैं, तब द्रव्य के अन्दर ही उत्पन्न होते हैं, अन्यत्र नहीं। इसी से कहा है :—

"समवायसम्बन्धेन गुणक्रियाश्रयत्वम् द्रव्यत्वम्" तच्च गुणाश्रयत्वं गुणक्रिया-त्यन्ताभावानधिकरणत्वम्"। या "गुणक्रियासमानाधिकरणवृत्तित्वजातिमत्वम्"।

परन्तु इस तृतीय लक्षण की भी ईश्वरात्मा में अव्याप्ति ज्यों की त्यों है, क्योंकि वह कार्यमात्र का निमित्त कारण होने पर भी समवायिकारण नहीं है। इसलिये "द्रव्यत्व-जातिमत्त्वम् द्रव्यत्वम्" अर्थात् जो द्रव्य जातिवाला हो, उसको द्रव्य कहते ह, यह द्रव्य का निर्दुष्ट लक्षण जानना चाहिये।

अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव—ये तीन लक्षण के दोष हैं, जिस लक्षण में इनमें से कोई दोष नहीं होता, वह निर्दुष्ट लक्षण कहलाता है। "लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः" अर्थात् लक्ष्य के एक देश में लक्षण (असाधारण धर्म) की अवृत्ति (न रहने) का नाम अव्याप्ति है। जिसका लक्षण किया जाता है उसको 'लक्ष्य' कहते हैं। जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में वर्तकर उसके दूसरे देश में न वर्ते उसे 'अव्याप्ति' तथा लक्षण को 'अव्याप्त' कहते हैं। जैसे—"कपिलत्वं गोत्वम्" इस गौ के लक्षण में गौ रूप लक्ष्य के एक देश धौली तथा काली गौओं में अव्याप्ति है।

"लक्ष्यवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः" अर्थात् लक्ष्य में वर्तकर अलक्ष्य में लक्षण के वर्तने का नाम 'अतिव्याप्ति' है। जैसे—"शृंगित्वं गोत्वम्" अर्थात् जिसके शृंग हों उसको गौ कहते हैं, ये लक्षण भैंस आदि में रहने के कारण अतिव्याप्ति है। क्योंकि गौमात्र में रहकर भैंस आदि में भी वह रहता है "लक्ष्य-मात्रावृत्तित्वमसम्भवः" अर्थात् लक्ष्यमात्र में लक्षण का न रहना "असम्भव" है। जैसे—"एकशफत्वं गोत्वं" इस लक्षण में असम्भव दोष है। क्योंकि एक खुर न होने के कारण गौमात्र में इसका होना असम्भव है। इसीलिये "लक्ष्यता-वच्छेदकसमनियतत्वं लक्षणत्वम्" अर्थात् यावत् लक्ष्य में ही असाधारण धर्म का समान रूप से रहना लक्षण कहलाता है। जैसे—"सास्नादिमत्त्वं गोत्वं" यह गौ का लक्षण है और "व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनं" अर्थात् इतर से भेद करना तथा उस पदार्थ का अपने नाम से व्यवहार करा देना, यह लक्षण का प्रयोजन है, ऐसा लक्षण का लक्षण किया गया है।

द्रव्य-निर्देश

"खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः। —च० सू० १

"पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि"।

—वैशेषिक—सू० ५

"तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैवेति"

—प्रशस्तपाद

चक्रपाणिः—"सम्प्रति ××× द्रव्याणि ×××× खादीनि च "महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा" इत्यनेन क्रमेणोक्तानि, भूतानि अनागतावेक्षणे-नैवोच्यन्ते। आत्मादीनां च तथा अव्यवहितस्य पूर्वनिर्देशः। द्रव्यसंग्रह इति कर-चरण-हरीतकी-त्रिवृत्ताद्यसंख्येयभेदभिन्नस्य कार्यद्रव्यस्य कारणद्वारा संक्षेप इत्यर्थः।"

गंगाधरः—खादीनीत्यादि सत्यप्यात्मनः सर्वेभ्यः प्राधान्ये श्रोत्रादीन्द्रिय-योगेनैव चैतन्यहेतुत्वादीन्द्रियाणां भूतमयत्वेनादौ भूतानां निर्देशस्ततश्चात्मनस्ततश्च

मनसोऽप्यात्मनः शरीरपरिग्रहे मनःक्रियाया हेतुत्वात् । कालदिशोः सर्वत्रैव परिणामि-समवायि-हेतुत्वेन पश्चान्निर्देशः कृतः । खादीनीतिकतिधापुरुषीये वक्ष्यन्ते—"महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा" ××× एष द्रव्यसंग्रहः । ××× एष लोकस्थानां कार्यभूतानां द्रव्याणामरिसंख्येयानां कर्मगुणाश्रयसमवायिकारणसंक्षेपः ।

"चत्तारि महाभूतानि ।" भूतानि पृथिवी धातुर्-अप् तेजो वायु धातवः । धृत्यादि कर्म संसिद्धाः खर स्नेहोष्णतेरणाः ।।" (अभिधम्मकोश).

खर-स्नेह—उष्णता—इरणाः क्रमशः पृथिवी—अप्—तेज—वायु धातूनां गुणाः । धृत्यादि—धृति, संग्रह (पिण्डीकरण), पक्ति; व्यूहनानि क्रमशः धातूनां कर्माणि ।"

"गुण पर्यावद् द्रव्यम्" (तत्त्वार्थ सूत्र—अ० ५-३८) ।

भावार्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये नौ द्रव्य हैं। यह क्रम अनागतावेक्षण से कहा गया है, अर्थात् आत्मा आदि का पहले (चरक सूत्रस्थान प्रथमाध्याय में) वर्णन आ चुका है (चक्रपाणि) । यद्यपि आत्मा उपरोक्त नवों द्रव्यों में प्रधान है तथापि श्रोत्रादि इन्द्रियों के योग से ही उसके चैतन्य का प्रकाश होता है और इन्द्रियाँ भौतिक हैं अतः पहले भूतों (महाभूतों) का निर्देशन किया गया है। आत्मा जब शरीर में रहता है तब मन की क्रिया प्रधान होती है अतः आत्मा के बाद मन का निर्देश किया गया है। काल और दिशा परिणाम (औपाधिक) समवायिकारण होने से अन्त में कहे गये हैं। इस प्रकार संसार के असंख्येय कार्यद्रव्यों के कर्म तथा गुण के आश्रय और समवायिकारण (नौ द्रव्यों) का वर्णन किया गया है।

वक्तव्य—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा तथा मन इस भेद से द्रव्य पदार्थ नव प्रकार का होता है। इनमें पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार कार्यरूप से अनित्य तथा कारण (परमाणु) रूप से नित्य हैं। आकाश, काल, दिशा, आत्मा तथा मन ये पाँच नित्य द्रव्य हैं और जीवात्मा तथा ईश्वरात्मा भेद से आत्मा रूप द्रव्य दो प्रकार का होता है। तात्पर्य यह है कि पृथिव्यादि का मूल कारण प्रकृति, जीवात्मा और ईश्वरात्मा ये तीनों द्रव्य पारमार्थिक नित्य हैं। जो उत्पत्ति-विनाश से रहित होता है तथा प्रागभाव का अप्रतियोगी होकर ध्वंस का अप्रतियोगी हो उसे **'नित्य'** कहते हैं। आकाश, काल, दिशा और मन ये चारों चिरस्थायी होने से व्यवहारिक नित्य हैं। सांख्य, योग और वेदान्त में पृथिव्यादि पदार्थों के मूल कारण को 'प्रकृति' नाम से कहा गया है और वैशेषिक, न्याय तथा पूर्वमीमांसा में अवस्थाविशेष 'परमाणु' नाम से कहा है, इस प्रकार दर्शनों का परस्पर अविरोध है।

कई एक आधुनिक टीकाकार ऐसा मानते हैं कि पृथिव्यादि चार द्रव्य अनित्य तथा आकाशादि पाँच नित्य हैं। कई एक लोगों का कथन है कि दो विजातीय वायुओं के परस्पर मिलाप से जल बनता है, इसलिये जल को पृथक् द्रव्य मानना ठीक नहीं, क्योंकि वायु के ग्रहण से ही उसका ग्रहण हो जाता है। परन्तु यह विचार इसलिये ठीक नहीं कि विजातीय वायुओं का संयोग जल का अभिव्यंजक है, उपादान कारण नहीं अर्थात् जिन वायुओं के संयोग से जल की उत्पत्ति प्रतीत होती है, उनमें सूक्ष्म जल विद्यमान है, केवल विलक्षण प्रक्रिया से उसकी अभिव्यक्ति होती है। इसलिये वायु के ग्रहण से जल का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि वह पदार्थान्तर है।

वैशेषिक द्रव्य को गुण से पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ मानता है, क्योंकि उसका विश्वास है कि द्रव्य जब उत्पन्न होता है तो प्रथम क्षण वह निर्गुण रहता है। यदि गुण तथा द्रव्य की उत्पत्ति एक साथ एक काल ही में मान लें तो गुण और द्रव्य का कोई पार्थक्य नहीं किया जा सकता और यदि गुण की उत्पत्ति ही नहीं मानें तो द्रव्य की उपरोक्त परिभाषा अशुद्ध हो जाती है। अतः इन दोषों को हटाने के लिये द्रव्य को गुण का आश्रय माना गया है। यह आश्रयाश्रयी सम्बन्ध समवायसम्बन्धरूप से है। दूसरे शब्द में हम कह सकते हैं कि द्रव्य गुण का आधार है। वैशेषिक एक ऐसे पदार्थ की सत्ता को प्रमाणित करने में सदा सतर्क हैं जो गुणवाला है पर स्वयं गुण नहीं है, क्योंकि वह द्रव्यों के गुणों का प्रतिपादन करता है पर गुण का गुण कभी नहीं कहता।

आयुर्वेद में भी "गुणाः गुणाश्रयाः नोक्ता" (चरक)। इस पद के द्वारा इसका समर्थन मिलता है। चूंकि द्रव्य को गुण से पृथक् नहीं किया जा सकता अतः द्रव्य को गुणवान् कहा जाता है। उपरोक्त द्रव्यों में नित्य तथा अनित्य का भेद करते हैं। उपरोक्त पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नव नित्य (Eternal) द्रव्य संसार के मूर्त तथा अमूर्त (कार्य) द्रव्यों के उत्पादक हैं।

बौद्ध दर्शन के अनुसार चार ही महाभूत या धातु होते हैं जैसे—(१) पृथिवी (solidity), (२) अप् (Fluidity), (३) तेज (heat), और (४) वायु (Motion) और इनके खर-स्नेह–उष्णत तथा इरण ये क्रमशः गुण होते हैं तथा धृति, संगह, पक्ति और व्यूहन ये क्रमशः कर्म माने गए हैं।

जैनदर्शन—द्रव्य शब्द द्रु धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है द्रवित होना तथा प्रवाहित होना। संसार के सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं, समय पाकर नष्ट होते हैं, फिर भी उनका प्रवाह सतत गति से चलता रहता है। इस प्रकार तत्त्व के तीन रूप होते हैं। (१) उत्पन्न होना, (२) नष्ट हो जाना और (३) ध्रुव

बना रहना। इन तीन अविरल गतिशील धारा में भी पदार्थ का मूल स्थायी रहता है।

इन तीन अंशों का समन्वय होना ही 'सत्' का लक्षण है। इस प्रकार तात्विक और मौलिक दृष्टि से दो द्रव्य या तत्त्व उपलब्ध होते हैं। चेतन (जीव) और जड़ (अजीव), जैसे कुम्भकार खेत से मिट्टी लाता है और घड़ा बनाता है। तब घड़े की उत्पत्ति होती है और मृत्तिका का नाश होता है, परन्तु मृत्तिका और घट दोनों अवस्थाओं में विद्यमान समान तत्त्व ध्रोव्य है।

'जीव दव्वा य, अजीव दव्वा य'' (अनुयोग सूत्र ४१)। सुविधा के लिए इसके पुनः ६ प्रकार किए गए हैं। जैसे--(१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्मास्थिकाय, (४) अधर्मास्थिकाय, (५) आकाश और (६) काल।

सत् का दूसरा नाम द्रव्य है। यह समस्त चराचर लोक इन्हीं छ द्रव्यों का प्रपंच है। इनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हैं। द्रव्य नित्य है अतः लोक भी नित्य है। जीव, पुद्गल आदि विविध परिणामों से द्रवित होते हैं। परिणाम या पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रहता। बिना द्रव्य के पदार्थ का अस्तित्व नहीं।

हर एक वस्तु में तीन अंश विद्यमान होते हैं--द्रव्य, गुण और पर्याय। वस्तु का नित्य अंश द्रव्य है, सहभावी अंश गुण है और क्रमभावी अंश पर्याय है। उदाहरण स्वरूप 'जीव' द्रव्य है, उसका 'चैतन्य' गुण है और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि दशाएँ 'पर्याय' है। तात्पर्य यह कि द्रव्य, गुण, पर्याय से मुक्त होता है।

द्रव्यों का साधर्म्यवैधर्म्य--इन नव द्रव्यों में द्रव्यत्व, स्वसमवेतकार्यजनकत्व, गुणवत्त्व, कार्यकारणविरोधत्व, और अन्त्यविशेषवत्त्व (Ultimate Individuality) समान रूप से है, अतः ये इनके साधर्म्य कहलाते हैं। अवयवी (Compound) द्रव्यों को छोड़ कर अनाश्रितत्व (Independence) और नित्यत्व (Eternity) ये धर्म भी इनमें समान रूप से हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और मन इन छः द्रव्यों में अनेकत्व और अपरजातिमत्त्व ये धर्म समान रूप से हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों में, क्रियावत्त्व, मूर्तत्व, परत्वापरत्व, वेगवत्त्व ये धर्म समान रूप से हैं। आकाश, काल, दिशा और आत्मा में सर्वगतत्व धर्म है। पृथिव्यादि पाँच द्रव्यों में (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश में) भूतत्व, इन्द्रियोपादानत्व, बाह्यैकैकेन्द्रिय ग्राह्यविशेषगुणवत्त्व धर्म समान रूप से हैं। आत्मा, मन, आकाश, काल, दिशा और अन्य चार द्रव्यों के परमाणु प्रत्यक्ष (बाह्येन्द्रियग्राह्य) नहीं है। इसलिये मूर्त और भौतिक द्रव्यों में भेद किया जाता है। मूर्त द्रव्यों में निश्चित आयतन (परिच्छिन्न परिमाणवत्त्व) और क्रिया एवं संस्कार-वेगाख्य-संस्कार (Action & movement) होता है। परन्तु भौतिक द्रव्य अकेला या औरों

के साथ मिलकर संसार के पदार्थों का भौतिक कारण बनता है। मन, अणु-रूप होने पर भी किसी का उत्पादक नहीं होता, पर आकाश विभु होकर भी शब्द गुण का उत्पादक है। पृथिवी, जल, तेज और वायु मूर्त तथा उत्पादक दोनों हैं, अतः इनमें द्रव्यारम्भकत्त्व और स्पर्शवत्त्व धर्म भी है। पृथिवी, अप् और तेज इन तीन द्रव्यों में प्रत्यक्षत्त्व, रूपवत्त्व और द्रवत्त्व धर्म है। पृथिवी और अप् में गुरुत्व और रसवत्त्व धर्म समान है। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैशेषिक दर्शन सत्यरूप का प्रतिपादन करनेवाला (Realistic) होने पर भी केवल भौतिक या जड़वादी नहीं है। क्योंकि उसके अन्दर अभौतिक द्रव्यों (आत्मा, मन आदि) की सत्ता भी मानी गई है।

वैशेषिक में आत्मा का ग्रहण व्यवहारतः नैयायिकों के आत्मा के समान ही है, यद्यपि आत्म-साक्षात्कार में आत्मा को ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में नहीं स्वीकार किया गया है। इसमें तुलना करने से कोई सहायता नहीं मिलती। इस ज्ञान के प्रति तो आगम और अनुमान ही साधक हैं।

नोट :—लोकप्रत्यक्ष के आधार पर 'तम' में नीलरूप तथा अपसरणात्मक कर्म की सत्ता मानकर तम को भाट्टमीमांसक द्रव्य अथवा गुण मानते हैं (मान-मेयोदय पृ० १५९–१६३)। पर वैशेषिक आचार्यों ने इसका खण्डन प्रमाणों के साथ किया है। आलोक की सहायता से चक्षु रूपसम्पन्न द्रव्यों का ग्राहक माना जाता है, पर तम (अन्धकार) के प्रत्यक्षीकरण में प्रकाश की सहायता तनिक भी अपेक्षित नहीं होती। अपसरण की क्रिया भी औपाधिक है—प्रकाश के आगमन पर अवलम्बित है। अतः नीलरूप तथा चलनक्रिया दोनों औपाधिक होने से तम में द्रव्यत्व की कल्पना प्रमाणसिद्ध नहीं मानी जा सकती। अतः वह तम तेज का सामान्य अभावमात्र है, नैयायिकों तथा वैशेषिकों का अन्धकार के सम्बन्ध में यही निश्चयात्मक धारणा है। पर श्रीधराचार्य इस मत से सहमत नहीं हैं। न्यायकन्दली में उन्होंने अपने इस स्वतन्त्र मत का वर्णन किया है। उनका कहना है कि किसी वस्तु पर आरोपित नीलवर्ण के अतिरिक्त अन्धकार कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अतः वे तम को गुण के अन्तर्गत मानते हैं। उदयनाचार्य ने इस मत का किरणावली में खण्डन किया है और प्रकाश-सामान्याभाव को ही 'तम' स्वीकृत किया है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में प्रभाकर मीमांसकों के एकदेशीय मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार अन्धकार आलोकज्ञान का अभावरूप है, न कि आलोक का सामान्य अभाव। इस प्रकार तम के स्वरूप के विषय में वैज्ञानिकों ने खूब विवेचना की है। उदयना-चार्य से लगभग १५० वर्ष पीछे होनेवाले "खण्डनखण्डखाद्य" के रचयिता श्री हर्ष इन मतवादों से पूर्ण परिचित थे। अतः उन्होंने औलूक दर्शन को तमः-

स्वरूप निर्णय में नितान्त समर्थ बतलाते हुए कवित्व तथा दार्शनिकत्व दोनों का मनोरम सामंजस्य उपस्थित किया है :—

"ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ।।"

—नैषध २२।२६

द्रव्य के सम्बन्ध में अर्वाचीन विचार

अर्वाचीन (पाश्चात्य) द्रव्य के लिए 'सब्सटेन्स' (Substance) शब्द का उपयोग करते हैं। बहुत दिनों तक यह धारणा उक्त विचारकों में बनी रही है कि 'सब्सटेन्स' और 'रियेलिटी' (Reality) में कोई भेद नहीं है, अतः इस शब्द का प्रयोग परमतत्त्व (Absolute) तथा उसके सम्बन्धी (Relative sense) के अर्थ में होता रहा। परिणाम यह हुआ कि Reality (सत्यता) जिस प्रकार Absolute और Relative होती है, उसी प्रकार 'सब्सटेन्स' भी Absolute और Relative दो प्रकार की हो गई। परन्तु कुछ पूर्ववर्ती विचारक (Eleatic thought) द्रव्य को अपरिवर्तनशील मानते थे। इस विचार का प्रभाव प्लेटो पर भी था, प्लेटो Ideas (कल्पना) को ही सब्सटेन्स या नित्य पदार्थ मानता था और साथ ही आत्मा को भी (Soul) आध्यात्मिक द्रव्य (Spiritual Substance) मानता था और इसे नित्य तथा सत्य वस्तु समझता था। प्लेटो के विचार से सभी कल्पनायें (Ideas) सत्य और नित्य हैं और वैयक्तिक चेतना (Individual consciousness) और सांसारिक विषय जो सदा परिवर्तनशील हैं, अद्रव्य (Unsubstantial) और रूपात्मक (Phenomenal) है। अरस्तु (Aristotle) कल्पना (Idea) के स्थान पर फौर्म (Form)—आकृति पद का व्यवहार करता है। अरस्तु संसार के प्रत्येक पदार्थ को 'फौर्म' तथा 'मैटर' से बना हुआ मानता है। डाकार्टीज (Dascartes) ईश्वर (God) को परमद्रव्य (Absolute substance) मानता है और संसार की सभी वस्तुओं को तथा आत्मा को भी ईश्वराश्रयी (Relative substance depending upon the absolute substance) समझता है। परन्तु डाकार्टीज़ के इस विचार का खण्डन उसके द्रव्य की परिभाषा से हो जाता है।

पृथिवी निरूपण

"अद्भ्यः पृथिवी ।" —तैत्तिरीयोपनिषद्

"अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिः ।" —मनु

"तद्यदपां शरः आसीत् तत् समहन्यत सा पृथिवी अभवत्"—बृहदारण्यकोपनिषद्

"तमोबहुला पृथिवी।" ——सुश्रुत

"तत्र क्षितिर्गन्धहेतुर्नाना रूपवती मता।
षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधो मतः॥
स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः।
नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा॥
अनित्या तु तदन्या स्यात् सैवायवयोगिनी।
सा च त्रिधा भवेद्देह इन्द्रियं विषयस्तथा॥"

——सिद्धान्तमुक्तावली

"रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी"। ——वै० द० २-१-१

"रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्व-संस्कारवती (पृथिवी)। एते च गुणविनिवेशाधिकारे रूपादयो गुणविशेषाः सिद्धाः, चाक्षुषवचनात् सप्त संख्यादयः। पतनोपदेशाद् गुरुत्वम्। अद्भिः सामान्यवचनात् द्रवत्वम्। उत्तरकर्मवचनात् संस्कारः।" ——प्रशस्तपादः

भावार्थ——क्रमशः जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई, (तैत्तिरीय)। जल से गन्ध गुणवाली भूमि उत्पन्न हुई, (मनु)। जल का जो फेन था, वह कठिन होकर पृथ्वी हो गया, (बृहदारण्यकोपनिषद्)। पृथिवी तमोगुण विशिष्ट है, (सुश्रुत)। नाना रूपवाली पृथ्वी गन्ध का हेतु है। उसमें ६ रस हैं और दो प्रकार की गन्ध है। उसके अनुष्णाशीत पाकज स्पर्श हैं। नित्य और अनित्य के भेद से वह दो प्रकार की है। परमाणुरूप नित्य और उसके विपरीत अवयव रूप (कार्य) अनित्य है। शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से, यह तीन प्रकार की है (मुक्तावली)। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चारों पृथिवी में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, अर्थात् शुक्ल, नील, हरित, लाल, पीला, खाकी तथा चित्र इस भेद से सात प्रकार का 'रूप' और मधुर,अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय भेद से ६ प्रकार का 'रस' तथा सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध) भेद से दो प्रकार के 'गन्ध' और अनुष्णाशीत स्पर्श यह सब गुण पृथिवी द्रव्य में समवेत हैं। (वै० दर्शन)

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्वापरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार ये १४ गुण पृथिवी में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इनमें रूप आदि गुण——अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये विशेष गुण——पृथ्वी में रहते हैं। जिसे गुणविनिवेशाधिकार में (अर्थात् जिस स्थल पर इनके बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाले इन विशेष गुणों के निवेश का वर्णन किया गया है) सिद्ध किया जा चुका है। संख्या आदि सात गुण

अर्थात् संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और कर्म—भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय होने से पृथ्वी में रहते हैं। यह बात वैशेषिक सूत्र में आये हुए 'चाक्षुष' पद से प्रमाणित होती है। पतन शब्द का पाठ होने से गुरुत्व पृथ्वी में सिद्ध है। जल से समानता होने से द्रवत्व भी स्पष्ट है। उत्तरोत्तर क्रिया के होने से नोदनादि कर्म से संस्कार भी सिद्ध ही है, (प्रशस्तपाद)।

वक्तव्य—पृथिवी की उत्पत्ति के लिये अप्तत्त्व (रसतन्मात्रा) की सहायता अपेक्षित है, अतः अप्तत्त्व (जल) से पृथिवी तत्त्व की उत्पत्ति हुई ऐसा पाठ आया है। रसगुणात्मक जलतत्त्व से स्वभावतः ही संघात गुण प्रकट हुआ, संघातगुण (कठिनता) पृथ्वी में स्पष्ट रूप से पाया जाता है, अतः उपनिषद्कार ने कहा कि जब जल संहत हुआ तो पृथ्वी उत्पन्न हुई। संघातगुणात्मक पृथ्वी तत्व में ही संसार का सभी स्थूल मूर्त द्रव्य उत्पन्न हुआ है। संघातगुणात्मक शब्द-स्पर्श, रूप-रस-गन्ध गुणवाला तमोगुणविशिष्ट यह पृथ्वीतत्त्व संसार के सभी चराचर द्रव्यों के स्थिर, गुरु, स्थूल इत्यादि संघातात्मक भावों का मूल कारण है।

यह पृथ्वी दो प्रकार की है, (१) **नित्या** और (२) **अनित्या**। परमाणु-लक्षणा नित्या है और कार्यलक्षणा अनित्या है। यह अपने स्थैर्यादि गुणों से युक्त होकर विविध घटत्वादि रूप से उपकारक होती है। इसके तीन प्रकार के कार्य होते हैं, जैसे—(१) **शारीर-संज्ञक**, (२) **इन्द्रिय-संज्ञक** और (३) **विषय-संज्ञक**। शारीर-संज्ञक कार्य दो प्रकार के होते हैं, यथा—(१) **योनिज** और (२) **अयोनिज**। इनमें अयोनिज कार्य में शुक्र शोणित की अपेक्षा नहीं होती, जैसे—देवता तथा ऋषियों का शरीर धर्म-विशिष्ट अणुओं के संयोग से उत्पन्न होता है तथा क्षुद्र प्राणियों (कीटादिकों) के शरीर अधर्मविशिष्ट अणुओं से उत्पन्न होते हैं। शुक्र-शोणित-सन्निपात से योनिज प्राणियों की उत्पत्ति होती है। ये दो प्रकार के होते हैं, यथा—(१) **जरायुज** और (२) **अण्डज**। मनुष्य, पशु, मृग आदि जरायुज हैं और पक्षी, सरिसृप आदि अण्डज होते हैं। इन्द्रिय-संज्ञक कार्य गन्ध का व्यंजक होता है, जैसे—पार्थिवावयवों से प्राणियों के नाक (घ्राण) की उत्पत्ति। विषय-संज्ञक तो द्व्यणुकादि क्रम से उत्पन्न तीन प्रकार के होते हैं, यथा—(१) **मृत्** (२) **पाषाण** और (३) **स्थावर**। (१) इनमें भूप्रदेश-इष्टिकादि मृत् (मिट्टी) के प्रकार हैं, (२) पाषाण—उपल, मणि, वज्रादि और (३) स्थावर—तृण, ओषधि, वृक्ष, लता, वितान, वनस्पति आदि हैं।

पृथिवी का निर्दुष्ट लक्षण

"स्पर्शवती पृथिवी" अर्थात् जो स्पर्शवाली हो उसे पृथ्वी कहते हैं, यदि पृथ्वी का यह लक्षण किया जाय तो वायु आदि द्रव्यों में अतिव्याप्ति होती है,

क्योंकि वे भी स्पर्श वाले हैं। इसकी निवृत्ति के लिये 'रूप' पद का निवेश किया गया है। यथा—'रूपस्पर्शवती पृथिवी' अर्थात् जिसमें रूप और स्पर्श दोनों रहते हैं उसको पृथिवी कहते हैं, यदि यह लक्षण करें तो वायु में अतिव्याप्ति न होते हुए भी तेज आदि द्रव्यों में अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि वे भी रूप तथा स्पर्शवाले हैं। इसकी निवृत्ति के लिये **'रस'** पद का समावेश किया है। यथा—'रूपरसस्पर्शवती पृथिवी' अर्थात् जिसमें रूप, रस और स्पर्श ये तीनों समवाय सम्बन्ध से रहते हैं उसको पृथिवी कहते हैं, यदि यह लक्षण करें तो वायु तथा तेज में अतिव्याप्ति न होने पर भी जल में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वह भी रूप-रस-स्पर्शवाला है। इसकी निवृत्ति के लिये 'गन्ध' पद का निवेश किया गया है। इसके निवेश करने से "रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी" यह पृथिवी का लक्षण निष्पन्न हुआ। ऐसा निष्पन्न होने से किसी द्रव्य में इसकी अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि पृथिवी के अतिरिक्त कोई द्रव्य रूप-रस-गन्ध तथा स्पर्श इन चार गुणोंवाला नहीं है, अतः 'रूप-रस-गन्ध स्पर्शवत्त्वं पृथिवीत्वम्' यह पृथ्वी का निर्दुष्ट लक्षण है।

यहाँ इतना विशेष स्मरण रखना चाहिये कि यद्यपि सूत्रकार ने पृथिवी के लक्षण में गन्ध के साथ रूप-रस तथा स्पर्श का निवेश किया है, परन्तु लक्षण में इनके निर्देश की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'गन्धवती पृथिवी' इसी लक्षण से भी किसी द्रव्य में अतिव्याप्ति किंवा लक्ष्य-पृथिवी में अव्याप्ति नहीं होती है, इसलिये 'गन्धवती पृथिवी' यह लक्षण भी समीचीन है। इस लक्षण में गन्ध शब्द के आगे जो 'मतुप्' प्रत्यय है जिससे 'वती' शब्द निष्पन्न होता है उसका अर्थ 'सम्बन्धसामान्य' है। परन्तु यहाँ लक्षण में 'सम्बन्धसामान्य' विवक्षित नहीं, किन्तु समवाय सम्बन्ध विवक्षित है। यदि सम्बन्धसामान्य की विवक्षा की जाय, तो कालिक तथा दैशिक सम्बन्ध का भी ग्रहण हो जाता है जो अनभीप्सित है। समवाय सम्बन्ध विवक्षित होने से काल तथा दिशा में अति व्याप्ति नहीं होती, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से गन्धवाली केवल पृथिवी ही है, अन्य कोई द्रव्य नहीं। इस विशेष रूप सम्बन्ध की विवक्षा होने से उक्त पृथिवी के लक्षण का यह अर्थ निष्पन्न हुआ, कि "समवायेन गन्धवत्त्वं पृथिवीत्वम्" अर्थात् जो समवाय सम्बन्ध से गन्धवाली हो, उसको **पृथिवी** कहते हैं। परन्तु यह लक्षण भी उत्पत्ति-क्षणवर्ती घटादि रूप पृथिवी में अव्याप्त है, क्योंकि उत्पत्तिकालावच्छेदेन घटादि रूप पृथिवी में उसकी अव्याप्ति है। यहां 'उत्पत्तिकालावच्छेदेन' पद का अर्थ 'उत्पत्तिकालवर्ती' है। घटादिरूप कार्य पृथिवी में जो गन्ध गुण उत्पन्न होता है, उसका समवायिकारण घटादिरूप कार्य पृथिवी तथा असमवायिकारण उक्त कार्य पृथिवी के कारण कपाल आदि पृथिवीवर्ती रूपादि गुण है और कारण अपने

काय से पूर्व होता है, यह नियम है। यदि घटादिरूप कार्य पृथिवी में उसके उत्पत्ति के समय ही रूप आदि गुणों की उत्पत्ति मानी जाय तो वह उनका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों की उत्पत्ति का एक ही काल है, इसलिये घटादिकों की उत्पत्तिक्षण के अनन्तर द्वितीय क्षण में ही उनमें रूपादि गुणों की उत्पत्ति अवश्य माननी होगी और ऐसा मानने से उत्पत्ति क्षणावच्छेदेन घटादिरूप कार्य पृथिवी में उक्त पृथिवी लक्षण की अव्याप्ति स्पष्ट है, इसकी निवृत्ति के लिये उक्त लक्षण का--"गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्" यह निर्वचन किया गया है। अर्थात् गन्ध के साथ एक अधिकरण में रहनेवाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य पृथिवीत्व जातिवाली को 'पृथिवी' कहते हैं। इस निर्वचन से उत्पत्तिकालावच्छेदेन घटादि रूप कार्य पृथिवी में उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वह भी उस काल में गन्धवाली न होने पर भी गन्ध-समानाधिकरण द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य पृथिवीत्व जातिवाली है। अथवा इसको यों कह सकते हैं कि पृथिवी के अतिरिक्त गन्ध गुण अन्यत्र नहीं रह सकता। "गन्धगुणात्यन्ताभावनाधिकरणत्त्वं गन्धवत्त्वम्"।

यदि "द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्वं पृथिवीत्त्वं" अर्थात् जो द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाली हो उसको 'पृथिवी' कहते हैं, यह लक्षण करें, तो जलादि द्रव्यों में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वह भी समवाय सम्बन्ध से द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जलत्वादि जाति वाले हैं, इसकी निवृत्ति के लिये उक्त लक्षण में 'गन्धसमानाधिकरण' पद का निवेश किया है। जलत्वादि जातियाँ द्रव्यत्व साक्षात् व्याप्य होने पर भी गन्धसमानाधिकरण अर्थात् गन्ध के साथ एक अधिकरण में रहनेवाली नहीं है, क्योंकि गन्ध गुण पृथिवी को छोड़कर किसी अन्य द्रव्य में नहीं रहता, इसलिये उनमें उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं, और यदि "गन्धसमानाधिकरणजातिमत्त्वम्" अर्थात् गन्ध के साथ है समानाधिकरण जिसका ऐसी जातिवाली को 'पृथिवी' कहते हैं, यह पृथिवी का लक्षण करें तो भी जलादि द्रव्यों में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वह भी गन्ध के साथ एक अधिकरण में रहनेवाली सत्ता तथा द्रव्यत्व जाति वाली है, इसकी निवृत्ति के लिये उक्त लक्षण में "द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजाति" पद का निवेश किया है। सत्ता तथा द्रव्यत्व जाति द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति नहीं है, इसलिये सत्ता तथा द्रव्यत्व जाति वाली होने पर भी जलादिकों में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, यदि "गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं पृथिवीत्त्वम्" अर्थात् गन्ध के साथ एक अधिकरण में रहनेवाली द्रव्यत्व व्याप्य जातिवाली को 'पृथिवी' कहते हैं, यह पृथिवी का लक्षण करें तो घटादि पृथिवी में उक्त लक्षण की संगति होने पर भी पटादिरूप पृथिवी में अव्याप्ति होती है, क्योंकि यह घटत्वादि जाति वाला

नहीं है, इसकी निवृत्ति के लिये 'साक्षात्' पद का निवेश किया है। इसका निवेश करने से घटत्वादि जाति का ग्रहण नहीं होता, किन्तु, पृथिवीत्वजाति का ही ग्रहण होता है और उक्त जातिवाली सम्पूर्ण पृथिवी है, अतः कहीं भी उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं, वस्तुतस्तु "पृथिवीत्वजातिमत्त्वम् पृथिवीत्वम्" यही पृथिवी का समीचीन लक्षण है।

जलनिरूपण

"अग्नेरापः"। ——तैत्तरीयोपनिषद्

"ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः"। ——मनुः

"सत्त्वतमो बहुला आपः"। ——सुश्रुत

"वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ ।
स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम् ॥
नित्यतादि पूर्ववत्तु किन्तु देहमयोनिजम् ।
इन्द्रियं रसनं सिन्धुर्हिमादिर्विषयो मतः ॥"

——मुक्तावली

"रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः"। ——वै० द० २-१-२

"रूप-रस-स्पर्श-द्रवत्व-स्नेह-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग - परत्वा-परत्व-गुरुत्व-संस्कारवत्यः। पूर्ववदेषां सिद्धिः। शुक्ल-मधुर-शीत एव रूप-रस-स्पर्शाः। स्नेहोऽम्भस्येव सांसिद्धिकं च द्रवत्वम्"। ——प्रशस्तपादः

भावार्थ——क्रमशः अग्नि से जल की उत्पत्ति हुई, (तैत्तिरीय)। अग्नि से रस गुणवाला जल उत्पन्न हुआ, (मनु)। जल, सत्त्वतमोगुणबहुल है (सुश्रुत)। जल का वर्ण शुक्ल है, उसमें मधुर रस और शीतस्पर्श ये दो गुण हैं, स्नेह और द्रवत्व उसके सांसिद्धिक गुण हैं। नित्य और अनित्य भेद पृथिवी के समान ही है, किन्तु जलीय शरीर अयोनिज ही होता है जो वरुण लोक में है। इन्द्रियसंज्ञक रसना है और सिन्धु आदि विषयसंज्ञक है, (मुक्तावली)। जल द्रव, स्नेह तथा रूप-रस और स्पर्श गुण वाले हैं, (वै० द०)। रूप-रस-स्पर्श-द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और संस्कार ये १४ गुण जल (अप्तत्त्व) के हैं। पृथिवी के समान ही इन गुणों की भी सिद्धि है। इसका रूप शुक्ल, रस मधुर और स्पर्श शीत है। स्नेह और द्रवत्व जल के सांसिद्धिक गुण हैं, (प्रशस्तपाद)।

वक्तव्य——जल की उत्पत्ति में अग्नितत्त्व (रूपतन्मात्रा) की सहायता अपेक्षित है, अतः अग्नि से जल की उत्पत्ति हुई, ऐसा पाठ किया है। अग्नि की उष्णत से प्रकृति में द्रवत उत्पन्न हुई, यह लौकिक दृष्टान्तों से भी स्पष्ट हो

जाता है, क्योंकि देखा जाता है कि अग्नि के बिना द्रवता नहीं होती। सभी द्रवत्व-रसत्त्व-स्निग्धत्वादि का मूल कारण अप्तत्त्व ही है। इस रस गुणात्मक और द्रवगुणात्मक अप्तत्त्व के बिना संसार में स्निग्धत्व नहीं हो सकता। यह अप्तत्त्व चराचर जगत् में व्याप्त है। यह वेदों में भी कहा हुआ है, यथा—"यूयं हि भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्रीः" (६।५।७)। यह जल दो प्रकार का होता है, नित्य और अनित्य। परमाणु लक्षण वाला नित्य और कार्यरूप लक्षण वाला अनित्य है। इनमें कार्य लक्षण वाला तीन प्रकार का होता है, यथा—(१) **शरीरसंज्ञक,** (२) **इन्द्रियसंज्ञक** और (३) **विषयसंज्ञक।** इनमें शरीरसंज्ञक अयोनिज वरुण लोक में और पार्थिव अवयवों की सहायता से वह जलीय शरीर उपभोग के लिये समर्थ होता है। अर्थात् उन जलों के अवयवों से रसना की उत्पत्ति होती है जो अवयव विजातीय पदार्थों से अभिभूत नहीं है। विषयसंज्ञक जल तत्त्व तो सरित् समुद्र, हिमकर आदि हैं।

जल की चार अवस्थाएँ हैं—(१) **अम्भ,** (२) **मरीची,** (३) **मर** (४) **आप**[1]। सूय मण्डल से भी ऊपर आकाश के उपरिभाग में अवस्थित अप् की 'अम्भ', सूर्य की किरणों से प्रभावित सूर्य मण्डल और पृथिवी के बीच अन्तरीक्ष में अवस्थित अप् की 'मरीची'; पृथिवीस्थित अप् की 'मर' और भूमि के नीचे व्यवस्थित अप् की 'आप' संज्ञा कल्पित की गई है। सूर्य के ऊपर परमेष्ठी मण्डल में जो सोमरूप 'अम्भ' है, उसे अमृत कहते हैं। वहीं ज्योतिर्मय सृष्टिकर्ता परमात्मा का निवास कहा गया है। यह 'अम्भ' जल की प्राथमिक सूक्ष्मतम अवस्था है। आधुनिक वैज्ञानिकों का 'हाइड्रोजन' सिद्ध किया जा सकता है। हाइड्रोजन अग्नि संपर्क से जलता है और सोम भी सूर्य रश्मि के सम्पर्क से ज्वलनशील होता है। यह प्रकाश जनक भी है।

मरीचिमाला की मरीचिमाला से प्रभावित तत्किरणजात अप् का नाम **'मरीचि'** है। यह आग्नेय सोम होने से पवमान कहा जाता है। यही मरीचि अग्नि को धारण करनेवाला आग्नेय सोम है। सूर्य मण्डल, ग्रहतारादि की सृष्टि यहीं से हुई है, दिन का प्रकाश यहीं से आता है। सम्भवतः इसी का अंश विशेष 'औक्सीजन' है। यही सोम और पवन दोनों वनस्पति, औषधि और उष्णता के पोषक ह। यह जगत् अग्निसोमात्मक इसी से कहा जाता है। हाइड्रोजन और औक्सीजन (२ : १) के योग से स्थूल जल 'मर' की प्राप्ति होती है। अग्निसम्बन्ध से ही द्रवत्व होता है। इसी 'मर' की घनीभूत अवस्था पृथिवी है (जैसा कि पृथिवी निरूपण में कहा जा चुका है) ऐन्द्रियिक अप्तत्त्व सब प्राणियों के रस का व्यञ्जक है। जैसा जलावयव से रस ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय-रसना की उत्पत्ति है।

१—"स इमांल्लोकान सृजत—अम्भो, मरीची, मरमापः।" (ऐ.उ. ४।१।२)

सांसिद्धिक द्रवत्व, स्नेह, अभास्वर, शुक्लरूप, मधुर रस तथा शीतस्पर्श ये सब गुण जल में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, इन गुणों में "यच्छुक्लं तदपां" (छा० ६।४।१) अर्थात् जो शुक्ल रूप है वह जल का है, इस वाक्य के अनुसार जल में शुक्लरूप स्वाभाविक तथा अन्य रूप नैमित्तिक हैं। यद्यपि सूत्रकार ने जल के लक्षण में द्रवत्व, स्नेह, रूप, रस तथा स्पर्श इन पाँच गुणों का समावेश किया है, तथापि "समवायेन शीतस्पर्शवत्त्वंजलत्त्वम्" अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्ध से शीतस्पर्श रहे उसे 'जल' कहते हैं, यही जल का लक्षण करना उचित है। यदि 'स्पर्शवत्त्वं जलत्त्वम्' यह जल का लक्षण करें तो पृथिवी आदि द्रव्यों में अतिव्याप्ति होती है, उसकी निवृत्ति के लिए 'शीत' पद का निवेश किया है। पृथ्वी आदि द्रव्यों के मध्य शीतस्पर्शवाला केवल जल ही है अन्य कोई द्रव्य नहीं, अतः उक्त लक्षण की कहीं भी अतिव्याप्ति नहीं होती। और जो "शीतलं चन्दनं" "शीतलं शीलातलं" इन वाक्यों में जो चन्दनादि पार्थिव पदार्थों में शीत स्पर्श की प्रतीति होती है वह भी जल सम्बन्ध से होती है, स्वतः नहीं। अर्थात् उनमें शीतस्पर्श प्रतीति का हेतु स्वसमवायिसंयोग है। 'स्व' पद से शीतस्पर्श का ग्रहण है, उसके समवायि जल का चन्दनादि पृथिवी के साथ संयोग होने से उक्त प्रतीति होती है। वस्तुतस्तु "जलत्वजातिमत्त्वम्" अर्थात जिसमें जलत्व जाति रहती हो उसको जल कहते हैं यही जल का समीचीन लक्षण है। "रससमानाधिकरणद्रव्यत्वसाक्षात्-व्याप्यजातिमत्त्वं जलत्त्वम्" या "रसगुणात्यन्ताभावानधिकरणत्त्वं जलत्त्वम्।"

तेजोनिरूपण

"वायोरग्निः"। —तैत्तिरीयोपनिषद्

"वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम्।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते॥" —मनुः

"सत्वरजोबहुलोऽग्निः"। —सुश्रुत

"उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम्।
नैमित्तिकं द्रवत्वं तु नित्यतादि च पूर्ववत्।
इन्द्रियं नयनं वह्निः स्वर्णादिर्विषयो मतः॥"
—मुक्तावली

"तेजो रूपस्पर्शवत्"। —वै० द० २-१-३

"रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारवत्। पूर्ववदेषां सिद्धिः। तत्र शुक्लं भास्वरं च रूपम्। उष्ण एव स्पर्शः। —प्रशस्तपादः

भावार्थ—क्रमशः वायु से अग्नि की उत्पत्ति हुई, (तैत्तिरीय)। तम को नाश करनेवाले तथा भास्वर रूप गुणवाले तेज की उत्पत्ति वायु से हुई, (मनु)। अग्नि सत्त्व-रजोगुण विशिष्ट है, (सुश्रुत)। तेज उष्ण स्पर्श है और भास्वर शुक्ल रूप है। द्रव्यत्व उसका नैमित्तिक गुण है, यह नित्य तथा अनित्य भेद से जल के समान ही दो प्रकार का है। इन्द्रिय संज्ञक तेज का स्थान नयन है और विषय-संज्ञक तेज स्वर्ण आदि धातुओं में रहता है, (मुक्तावली)। रूप तथा स्पर्श गुणवाले का नाम तेज है, (वै० द०)। रूप-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-द्रवत्व-संस्कार ये ११ गुण तेज के हैं। ये गुण पूर्ववत् (पृथिवी आदि के समान) सिद्ध हैं। तेज का रूप भास्वर-शुक्ल है और उष्ण स्पर्श है, (प्रशस्तपाद)।

वक्तव्य—जिसमें समवाय सम्बन्ध से रूप तथा स्पर्श गुण रहता है उसको "तेज" कहते हैं। उपरोक्त तैत्तिरीयोपनिषद् तथा मनु के वाक्य के अनुसार अग्नि की उत्पत्ति के लिये वायुतत्त्व (स्पर्शतन्मात्रा) की सहायता अपेक्षित है। गत्यात्मक वायु के स्पर्श गुण होने से संघर्ष का होना अनिवार्य है। इस संघर्ष का परिणाम अग्नि या ताप है। प्रकृति के अन्दर गति के अवरोध का परिणाम ही अग्नि है। पाश्चात्य दार्शनिक 'हर्बट स्पेन्सर' महोदय भी गत्यवरोध से अग्नि, विद्युत्, चुम्बक तथा प्रकाश की उत्पत्ति मानते हैं। "Motion that is arrested produces under different circumstances heat, electricity, magnetism and light" (Encyclopaedia Britanica). अग्नि-विद्युत्-प्रकाश आदि एक ही तत्त्व के परिणाम स्वरूप हैं, इसका समर्थन वृहदारण्यकोपनिषद् में भी मिलता है—"श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो न्यवर्तत अग्निः। स त्रेधा आत्मानं व्याकुरुत आदित्यं द्वितीयं वायुं तृतीयम्" (१-२) अर्थात् एक ही आत्मा तीन भागों में विभक्त हो गई—अग्नि, आदित्य और वायु। नवीन वैज्ञानिक भी प्रकाश, विद्युत्, चुम्बक आदि में परस्पर सादृश्य मानते हैं। यह अग्नितत्त्व सर्वद्रव्यों में प्रविष्ट होकर उसका रूप धारण कर लेता है। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा है—"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"। यह अग्नितत्त्व सभी मूर्त द्रव्यों में प्रविष्ट है, इसका समर्थन अथर्ववेद में भी मिलता है—"ये अग्नयो अप्सु ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु आविवेश, ओषधीर्या वनस्पतीस्तेभ्योऽग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्"। (१६।५।७) यह अग्नितत्त्व उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म और लघुगुण वाला प्रकृतिगत सभी दहन-पचन-प्रकाश-प्रभा-भास्वररूपादि भावों का मूल कारण है। प्रकृति के सत्त्व-रजोगुणाधिक्य से इसकी उत्पत्ति है। दृश्यमान पाञ्चभौतिक स्थूलाग्नि-सूर्यादिकों में भी अग्नि तत्त्व की अधिकता है, अतः इसे 'तेज' कहते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा

है—"यदग्नेः रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत् कृष्णं तदन्नस्य । यदादित्यस्य रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य ।

"समवायेन उष्णस्पर्शवत्वं तेजस्त्वम्" अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्ध से उष्णस्पर्श रहे उसे 'तेज' कहते हैं । "लोहितरूपत्वं तेजस्त्वं" अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्ध से लोहित रूप रहे उसको 'तेज' कहते हैं, ये दोनों लक्षण सुत्रोक्त समवाय सम्बन्ध से लोहित रूप रहे उसको 'तेज' कहते हैं, ये दोनों लक्षण सूत्रोक्त लक्षण के निष्कर्ष रूप हैं । जलादि में जो उष्णस्पर्श की प्रतीति होती है वह तेज के ही सम्बन्ध से होती है, स्वतः नहीं । इसलिये उनमें उक्त लक्षण की अति-व्याप्ति नहीं हो सकती । यहां भी जलादि द्रव्यगत उष्णस्पर्श की प्रतीति का हेतु स्वसमवायि संयोग सम्बन्ध ही है । 'स्व' पद से उष्णस्पर्श का ग्रहण है उसके समवायि तेज द्रव्य का जलादिकों के साथ संयोग होने से उष्णता की प्रतीति होती है । अतएव उष्ण परम्परासम्बन्ध उसका कारण कहा गया है । वस्तुतः "तेजस्त्वंजातिमत्वं तेजस्त्वम्" अर्थात् जिसमें तेजत्व जाति रहे उसका नाम 'तेज' है । यही तेज का समीचीन लक्षण भी है ।

वायुनिरूपण

"आकाशाद्वायुः" । —तैत्तिरीयोपनिषद्

"आकाशस्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचि"

—मनु

"आकाशस्तु विकुर्वाणःस्पर्शमात्रं ससर्ज ह ।
वायुरुत्पद्यते तस्मात् तस्य स्पर्शो गुणो मतः ।।"

—विष्णुपुराण

"रजोबहुलो वायुः" । —सुश्रुत

"अपाकजोऽनुष्णशीत स्पर्शस्तु पवने मतः ।
तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः ।।
पूर्ववन्नित्यतायुक्तं देशव्यापि त्वगिन्द्रियम् ।
प्राणादिस्तु महावायुर्यन्तो विषयो मतः" ।।

—मुक्तावली ।

"स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व संस्कारवान् । स्पर्शोऽस्यानुष्णशीतत्वे सत्यपाकजः, गुणविनिवेशात् सिद्धः । अरूपिष्वचाक्षुष-वचनात् सप्तसंख्यादयः । तृणकर्मवचनात् संस्कारः" । —प्रशस्तपादः

भावार्थ—क्रमशः आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई, (तैत्तिरीय०)। सृष्टि-क्रम में पवित्र वायु की उत्पत्ति आकाश से हुई, (मनु)। आकाश की उत्पत्ति के बाद स्पर्शतन्मात्रा की अभिव्यक्ति हुई जिससे स्पर्शगुणवाला वायु उत्पन्न हुआ, (विष्णुपुराण)। वायु रजोगुण बहुल है, (सुश्रुत)। अपाकज तथा अनुष्णशीतस्पर्श गुण वायु में है। यह स्पर्शलिङ्गवाला वायु तिर्यग्गमन करने-वाला है। वायु दो प्रकार का होता है, नित्य और अनित्य। परमाणु रूप 'नित्य' और अवयवसमवेत रूप 'अनित्य' होता है। पुनः वह तीन प्रकार का होता है—शारीर-संज्ञक, इन्द्रिय-संज्ञक और विषय-संज्ञक। शारीर-संज्ञक वायु पूर्ववत् योनिज और अयोनिज भेद से दो प्रकार का होता है। इन्द्रिय-संज्ञक देहव्यापी त्वचा है और विषय-संज्ञक प्राण आदि महावायु है, (मुक्तावली)। अपाकज तथा अनुष्णशीतस्पर्श गुणवाले द्रव्य को वायु कहते हैं, (वै० द०)। स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व और संस्कार ये ९ गुण जिसमें हो उसे 'वायु' कहते हैं। अनुष्णशीतस्पर्श गुण वायु में है और यह अपाकज है, अन्य द्रव्यों के समान ही गुण-विनिवेश से यह सिद्ध है। वायु में रूप गुण नहीं है अतः इसका चाक्षुप-ज्ञान नहीं होता। तृणकर्म (तृण का हिलना आदि) कहने से संस्कार भी सिद्ध हो जाता है, (प्रशस्तपादः)।

वक्तव्य—तेज के संयोग-विशेष का नाम पाक तथा पाक से उत्पन्न होनेवाले का नाम 'पाकज' है। रूप-रस-गन्ध तथा स्पर्श ये चारों गुण पृथिवी में पाकज हैं और जल, तेज तथा वायु में अपाकज हैं। शीत, उष्ण तथा अनुष्णशीत भेद से स्पर्श तीन प्रकार का है। इनमें शीतस्पर्श जल में, उष्णस्पर्श तेज में और अनुष्णशीत पृथिवी तथा वायु में रहता है। जिस द्रव्य में अपाकज तथा अनुष्ण-शीतस्पर्शसमवायसम्बन्ध से रहे, उसका नाम 'वायु' है। यदि "स्पर्शवत्वं वायुत्वं" अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्ध से स्पर्श रहे, उसे 'वायु' कहते हैं, वायु का लक्षण यह करें तो तेज आदि द्रव्यों में उसकी अतिव्याप्ति होती है क्योंकि उनमें भी स्पर्श गुण समवाय-सम्बन्ध से विद्यमान है, अतः इसकी निवृत्ति के लिये 'अनुष्णशीत' यह स्पर्श का विशेषण दिया है। इस विशेषण के देने से तेज तथा जल में अतिव्याप्ति होने पर भी पृथिवी में वह ज्यों की त्यों बनी रहती है, अतः इसकी निवृत्ति के लिये अनुष्णशीत की भांति 'अपाकज' विशेषण दिया गया है। इस विशेषण के देने से पृथिवी में उक्त दोष की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि पृथिवी अपाकज तथा अनुष्णशीत स्पर्श वाली नहीं है। वस्तुतः "वायुत्वं-जातित्वं वायुत्वं" यह वायु का समीचीन लक्षण है।

यदि प्रकृति के अन्दर वायु का बीज न होता तो आकाश से वायु की उत्पत्ति कभी नहीं होती। सांख्य उस बीज या सूक्ष्मतत्त्व को स्पर्शतन्मात्रा कहता

है । इस प्रकार प्रकृतिगत स्पर्शतन्मात्रा की सहायता से आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई । तैत्तिरीयोपनिषद्, मनुस्मृति तथा विष्णुपुराण आदि में जो आकाश से वायु की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है उसका अर्थ यह है कि सृष्टि का विकास क्रमशः प्रकृतिगत तन्मात्राओं के विकास से अर्थात् सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से स्थूलतर और स्थूलतर से स्थूलतम द्रव्यों में हुआ । क्रमशः इस विकास तथा अभिव्यक्ति को वेदान्त में क्रमशः उत्पत्ति कहा गया है । सांख्य उसे प्रकृति का क्रमशः परिणाम होना कहता है । सत्कार्यवादी इसे कारण से कार्य की ओर अभिव्यक्ति कहते हैं ।

यह वायुमहाभूत अतिसूक्ष्म, सर्वगत और संसार के सभी द्रव्यों की आत्मा है, ऐसा प्रतिपादन करता हुआ सुश्रुत कहता है कि "स्वयंभूरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः" स्वातन्त्र्यात् नित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च ॥ सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोके नमस्कृतः" । इति । चरक ने भी वायु का सर्वकर्ममूलत्व सर्व चेष्टाविधातृत्व और सर्वक्रान्तत्व प्रतिपादन करते हुए कहा है—"स हि विश्वकर्मा विश्वरूपः सर्वगः सर्वतन्मात्राणां विधाता भावानामणुः विभुः विष्णुः क्रान्ता लोकानाम्" इति । यह अव्यक्त तत्त्व कर्म से व्यक्त होता है इस आशय से सुश्रुत ने भी इसे "अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च" ऐसा कहा है । "स्थित्युत्पत्तिविनाशेषु भूतानामेष कारणम्" सुश्रुत के इस वाक्य से सभी परिवर्तनों में वायु ही मूल कारण है, यह स्पष्ट हो जाता है । कल्प के आदि में आकाशतत्त्व अचल, प्रशान्त और सर्वगतियों से रहित द्रव्य था । ऐतरेयोपनिषद् के इस वाक्य से कि "आत्मा वा इदमेकएवाग्र आसीत् नान्यत्किंचिन्मिषत्" तथा वृहदारण्यकोपनिषद् के "मृत्युनैवेदमावृतमासीत्" इस वाक्य से कल्प के प्रारम्भ में सर्वथा गति का अभाव स्पष्ट मालूम होता है । अतएव आकाशतत्त्व से सर्व प्रथम गति का मूल तत्त्व उत्पन्न हुआ ।

इस विश्व में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो गतिशील न हो । इसलिये इसका नाम जगत् (गच्छतीति जगत्) और संसार (संसरतीति संसारः) पड़ा है । अणु से लेकर सूर्यादि ग्रहोपग्रह तक कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो गतिहीन हो । जिस प्रकार ग्रहोपग्रह सूर्य के चारों तरफ सर्वदा परिभ्रमण करते रहते हैं, उसी प्रकार इस सूक्ष्म अणु के अन्दर भी मध्यस्थ धनविद्युत् पिण्ड के चारों तरफ ऋणविद्युत् पिण्ड घूमते रहते हैं । उपनिषदों में भी आता है कि ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जिसमें गति न हो । जैसे—"यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्" अर्थात् इस जगत् में जो कुछ भी हैं, प्राण रूपी ब्रह्म से चलते हैं, अर्थात् उसी के आश्रय हैं और उसी से निकले हुये हैं । वेदान्त सूत्र में भी "कम्पनात्" (१ । ३ । ३४) इस सूत्र से सब भावों में कम्पन स्वीकार

किया गया है। जगत् के इस कम्पन का मूल कारण वायुतत्त्व है। इसी अभिप्राय से चरक, सुश्रुत आदि में वायु को सर्वात्मा, विश्वकर्मा, विश्वरूप, सर्वतन्त्रविधाता इत्यादि विशेषण दिये गये हैं। "वा गतौ" "वा गतिगन्धनयोः" इन धातुओं से वायु की निष्पत्ति होती है। "स्थित्युत्पत्ति विनाशेषु भूतानामेष कारणं" इस वाक्य से सर्व भावों की स्थिति का मूल कारण वायु है, यह कहा गया है। इसका समर्थन बृहदारण्यकोपनिषद् में भी मिलता है, तथा "वायुना वै गौतम सूत्रेण अयं च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति।" जिस प्रकार प्राण शरीर को धारण करता है और उसके नष्ट हो जाने से यह शरीर भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार यह वायु सर्वजगत् का धारण करता और उसके लय से संसार का भी लय हो जाता है।

छान्दोग्योपनिषद् में कहा है—"वायुर्हवैतान् सर्वान् संवृक्ते। प्राणो ह वा एतान्संवृक्ते। तस्मिन् शान्ते सर्वं स्वपीति"। इति। कठोपनिषद् में—"वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"। अर्थात् जैसे एक वायु चतुर्दशलोक में प्रवेश करता हुआ प्रत्येक शरीर में तद्रूप हो जाता है। इसी प्रकार वायु को सर्वात्मरूप प्रतिपादन किया गया है। इस तरह संसार के चराचर की चेष्टा, स्पन्दन, कम्पनादि सभी गतियों का मूल कारण यह गत्यात्मक वायुतत्त्व है, जो प्रकृति के रजोगुणाधिक्य से उत्पन्न हुआ है। अतएव सुश्रुत ने "रजोबहुलो वायुः" ऐसा कहा है।

आकाशनिरूपण

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः।"

—तैत्तिरीयोपनिषद्

"भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दमात्रं ससर्ज ह।
आकाशं सुषिरं तस्मादुत्पन्नं शब्दलक्षणम्॥"

—मनु

"सत्त्वबहुलमाकाशम्" —सुश्रुत

"आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः।
इन्द्रियं तु भवेच्छोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः॥"

—मुक्तावली

"त आकाशे न विद्यन्ते" —वै० द० २-५

"तत्राकाशस्य गुणाः शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः।"

—प्रशस्तपादः

भावार्थ—उस आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई, (तैत्तिरीय०)। महाभूतों के उत्पत्तिक्रम में सर्वप्रथम शब्द लक्षणवाला शब्दतन्मात्रा की सहायता से सुषिर आकाश उत्पन्न हुआ, (मनु)। आकाश सत्त्वगुण बहुल है, (सुश्रुत)। आकाश का विषयसंज्ञकगुण शब्द है, उसकी इन्द्रिय श्रोत्र है, वह एक होने पर भी उपाधियुक्त है, (मुक्तावली)। वे (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) गुण आकाश में नहीं हैं (वै० द०)। आकाश के ये ६ गुण हैं—शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग (प्रशस्तपाद)।

वक्तव्य—उपरोक्त सूत्रों से यह प्रतीत होता है कि शब्दतन्मात्रा या आकाशतन्मात्रा अर्थात् सूक्ष्माकाश ही महदाकाश तथा वाय्वादि सभी महाभूतों के मूलकारण हैं। इसी आकाश से प्रकृतिगत स्पर्शतन्मात्रा आदि की सहायता से क्रमशः वाय्वादि की उत्पत्ति (विकास) हुई है। यह आकाश सब महाभूतों का मूल कारण है, यह सिद्धान्त श्रुति में भी प्रतिपादित है। भूतोत्पत्ति का वर्णन करते हुए विष्णुपुराण में भी कहा है कि—"भूतादि के सृष्टि क्रम में प्रथम शब्दतन्मात्रा की सृष्टि हुई, जिस से शब्द लक्षण वाला सुषिर आकाश उत्पन्न हुआ। छान्दोग्योपनिषद् में भी इसका समर्थन मिलता है, जैसे—"अस्य लोकस्य का गतिरिति; आकाश इति होवाच, सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति, आकाशोह्येवेभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्।" अर्थात् शिलक ऋषि पूछते हैं कि इस मृत्युलोक का आश्रय कौन है? इसके उत्तर में प्रवाहण ऋषि कहते हैं कि आकाश है, क्योंकि आकाश से ही इस लोक के सभी स्थावर जंगम पदार्थ उत्पन्न हुए हैं और आकाश ही में लीन होते हैं। इसी से आकाश इन स्थावर-जंगम पदार्थों से श्रेष्ठ है और आकाश ही सर्वभूतों का मुख्य आश्रय है। सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई, ऐसा स्मृतियों में बहुत स्थलों में प्रतिपादित है। जैसे "पुरास्तिमितमाकाशमनन्तमचलोपमम्। नष्ट चन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव सम्बभौ।" इसी प्रकार वाक्यपदीय में भी आता है—"आकाशात्सर्वमूर्तयः।" ऋग्वेद के "नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्" इस नासदीय सूक्त से भी यही ध्वनि निकलती है कि सृष्टि में सर्वप्रथम अन्तरिक्ष आकाश की ही उत्पत्ति हुई। सृष्टि के अन्त में सर्वद्रव्य आकाश में ही लीन हो जाते हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हुए ब्रह्मज्ञानतन्त्र तथा निर्वाणतन्त्र में भी कहा है कि—"मही संलीयते तोये तोयं संलीयते रवौ। रविः संलीयते वायौ वायुर्नभसि लीयते। पञ्चतत्वाद् भवेत्सृष्टिस्तत्त्वेतत्त्वं विलीयते।" इति॥

वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक (Physicist) भी इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि आकाश ही परिणाम द्रव्य है अर्थात् द्रव्य

आकाश का रूपान्तर मात्र है, "Every thing in the material universe consists of ether and energy and matter itself being in all probability one of its modifications (Encyclopedia Britanica). Familiar thing that we call matter is after all a manifestation of ether & energy" (Encyclo. Brit.) संसार के सभी द्रव्य धनविद्युत् पिण्ड (Protons) और ऋण विद्युत् पिण्ड (Electrons) से बने हुए हैं और यह पिण्डद्वय आकाश का ही परिणाम है । जिस प्रकार रज्जुग्रन्थि रज्जु का ही परिणाम है और वह रज्जु परिणाम होने पर भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता है, उसी प्रकार आकाश का परिणाम यह पिण्डद्वय एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते हैं । "Matter is composed of ether, being built up of electrons & protons, whose constitution has not yet been ascertained but which somehow is constructed of ether perhaps, in some sense analogous to that in which a knot in a piece of string is constructed of string or a vertex in air is composed of air or a fibre or muscle is still essentially flesh. Yet a modified piece of ether like an electron can move from one place to another, the analogy of loose knot stepping along a string may be helpful". (Encyclo. Brit. Ether)

भारतीय दार्शनिकों ने तो आकाश को भावात्मक और अति सूक्ष्म तत्त्व माना है । जिस प्रकार प्रशान्त सलिल में तरङ्ग की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अति तरल सूक्ष्मातिसूक्ष्म इस आकाश द्रव्य में भी शब्द तरङ्ग उत्पन्न होते हैं । इस आकाशतत्त्व में अवरोध तथा संघर्षगुणात्मक स्पर्शगुण का सर्वथा अभाव होने के कारण ये तरङ्ग अबाधरूप से सब दिशाओं में प्रसरित होते हैं । यही कारण है कि नवाविष्कृत 'वायरलेस टेलीग्राफी' नामक यन्त्र की सहायता से हम उन शब्दों को आज श्रुतिगोचर कर रहे हैं । दूरस्थ व्यक्ति भी कभी-कभी हमारे मानसिक शब्दों से प्रभावित जो दीख पड़ते हैं उसमें भी यह आकाशतत्त्व ही कारण है । स्पर्श आदि समस्त गुणों से रहित शब्दमात्र धर्मी इस अतिसूक्ष्म तरल द्रव्य आकाश में ही सारा ब्रह्माण्ड निमग्न प्रतीत होता है । इसी द्रव्य से सुदूरवर्ती सूर्य, चन्द्र, और पृथिवी आदि परस्पर सम्बद्ध हैं । पृथिवी का जीवनभूत सूर्य का प्रकाश विद्युत्, चुम्बक तथा आकर्षण शक्ति आकाश द्वारा ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है । यदि यह आकाश अभावात्मक होता तो वाहक के अभाव में उक्त द्रव्यों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना असम्भव था । इसी के द्वारा किसी मूर्त वस्तु का प्रभाव दूर से भी होता है । प्रकाश का भी यही कारण है ।

"काशृ दीप्तौ" इस धातु से आकाश शब्द बना है। तामस अहंकार से उत्पन्न होने पर भी इसमें सत्त्वगुणातिरेक है और सूक्ष्म तथा लघु इसके भौतिक गुण हैं। इसीलिये सुश्रुत ने आकाश को सत्त्वबहुल कहा है। आकाश विभु (सर्वगत) है, यह प्राचीन सिद्धान्त है। दृश्यमान लोह आदि पिण्ड में भी यह व्याप्त है। 'एटम' (Atom) के घटक धनविद्युत्पिण्ड और ऋणविद्युत्-पिण्ड के मध्य में भी यह आकाश रहता है। सभी भूतों का आरम्भक होने से इसे 'कारणाकाश' भी कहते हैं। पाँचभौतिक मूर्त्तद्रव्यों में सन्निविष्ट आकाश 'कार्याकाश' है।

पञ्चमहाभूत और इनके नैसर्गिक गुण तथा भूतानुप्रवेश

"महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपश्च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।।"

—च० शा० १

"आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासंख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाःशब्दस्पर्शरूपरस-गन्धाः।" —सु० सू० ४२–१

"तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे ।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ।।"

—च० शा० १

"परस्पर संसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तुग्रहणम्।" —सु० सू० ४२

उपस्कार—महाभूतानीति। महान्ति भूतानि महाभूतानि। खादीनि सूक्ष्म भूतानि। महत्त्वं सर्वविकारव्यापित्वात्। तेषां महाभूतानां खंवाय्वग्न्यप् क्षितीनां पञ्चानां गुणाः तद्गुणाः, पञ्चक्रमात्—शब्दःस्पर्शरूपरसो गन्धश्चेति। नैसर्गिकगुणमुक्त्वा, भूतान्तरानुप्रवेशकृतगुणमाह तेषामिति। तेषां खादीनां मध्ये पूर्वं प्रथमं अर्थात् खं एकगुणं, परे परे गुणवृद्धिः—तद्यथा वायुः द्विगुणः। अग्निः त्रिगुणः। चतुर्गुणा आपः। पंचमस्तु पञ्चगुणा क्षितिः—सा च गुणवृद्धिः यथा भवति तदाह—पूर्वः पूर्व इति। त्रिषु नैसर्गिकगुणवस्तु नैसर्गिकगुणाः शब्दादयः। खादिषु क्रमशः पूर्वः पूर्वगुणः स्मृतः। एवं च स्पर्शगुणो वायुः पूर्वभूतस्याकाशस्य गुणं शब्दं आदाय द्विगुणः शब्दस्पर्शगुणो भवति। रूपगुणोऽग्निः पूर्वभूतयोःख वाय्वोः शब्दस्पर्शगुणयोः गुणौ शब्द-स्पर्शावादाय त्रिगुणः शब्दस्पर्शरूप गुणः। रसगुणाः आपः पूर्वेषां ख वाय्वग्नीनां गुन् शब्दस्पर्शरूपाण्यादाय चतुर्गुणाःगन्धगुणा। क्षितिःपूर्वभूतगुणैः शब्द-परसैः पञ्चगुणाः।

उल्हण––आकाशेत्यादि। आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासंख्यं शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धा जायन्त इति शेषः। किं विशिष्टास्ते ? एकोत्तर परिवृद्धा इति, तथाहि शब्दगुणमाकाशं, शब्दस्पर्शगुणो वायुः, शब्दस्पर्शरूपगुणं तेजः, शब्दस्पर्शरूपरसगुणा आपः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणाः पृथिवी, परस्परं भूतानुप्रवेशादित्थमेकोत्तरा वृद्धिर्ज्ञेया। "तत्र सर्वेष्वेव भूतेषु सर्वभूतानां सान्निध्यमस्ति––इति दर्शयन्नाह––परस्परसंसर्गादित्यादि। परस्परसंसर्गात् अन्योऽन्यसंयोगात्, परस्परानुग्रहात्––अन्याऽन्योपकारात्, परस्परानुप्रवेशात्–एकात्मीभावात्, सर्वेषु भूतेषु सर्वेषां आकाशादीनां सर्वेषु द्रव्येषु इत्यन्ये। सर्वेषु भूतेषु सर्वभूतानां सान्निध्यमस्तीति सर्व एव गुणाः सर्वेषां भूतानां प्राप्नुवन्ति-इत्याह-उत्कर्षापकर्षादित्यादि। उत्कर्षो वृद्धिः, अपकर्षो ह्रासः, आकाशाधिके द्रव्ये शब्दोऽधिकः, वाताधिके द्रव्ये स्पर्शोऽधिकः, एवं शेषभूतेषु शेषगुणाः।

भावार्थ––आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी वे पाँच महाभूत हैं और क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इनके नैसर्गिक गुण हैं। ये गुण इन भूतों में उत्कर्ष से होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भूतों के गुण भी अपकर्ष से होते हैं, इसीलिये ऊपर के सूत्र में "गुणवृद्धिः परे-परे" और "एकोत्तर परिवृद्धाः", कहा गया है। अर्थात् आकाश में शब्द, वायु में शब्द, स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श-रूप और जल में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँचों गुण अपकर्ष तथा उत्कर्ष से वर्तमान रहते हैं। सब तत्त्वों का सब तत्त्वों में परस्पर संसर्ग होने से, परस्पर अनुग्रह से और परस्पर एक का एक में प्रवेश होने से सब तत्त्वों का सब तत्त्वों में सान्निध्य होता है। परन्तु जो जिसमें उत्कर्ष होता है उसी के नाम से उसका ग्रहण किया जाता है और जिसका अपकर्ष होता है उसका नाम नहीं होता।

वक्तव्य––भू सत्तायां (भ्वादि––परस्मै० अक० सेट् भू+क्तः––भूतः) अर्थात् जिसकी सत्ता हो, जो यथार्थ में हो उसे 'भूत' कहते हैं। "महान्ति भूतानि महाभूतानि" अर्थात् उक्त भूत संसार के सभी चराचर वस्तुओं में व्याप्त हैं, अतः इन्हें महाभूत कहते हैं। इनमें आकाश का नैसर्गिक गुण शब्द है, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस, और पृथिवी का गन्ध नैसर्गिक गुण हैं। इनमें आकाश में केवल एक ही गुण है, अन्य वाय्वादि भूतों में अपकर्ष से अपने से पूर्व भूतों के गुण भी उपस्थित रहते हैं ; इनका नामकरण उनके उत्कर्ष से किया जाता है। जैसे वायु शब्द-स्पर्श दो गुणवाला है। अग्नि शब्द-स्पर्श-रूप तीन गुणवाला और जल शब्द-स्पर्श-रूप-रस-चार गुणवाला है। इसी प्रकार पृथिवी शब्द-स्पर्श-रूप-रस-पाँच गुणवाली हैं। इन गुणों के परस्पर संसर्ग होने से, अनुग्रह से तथा एक में एक प्रविष्ट होने से सब तत्त्वों का सब तत्त्वों में सान्निध्य होता है।

पञ्चमहाभूतों के भौतिक गुण

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।
आकाशस्याप्रतिघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम् ॥

—च० शा० १

अर्थ—खरत्व, द्रवत्व, चलत्व, उष्णत्व और अप्रतिघात ये क्रमशः पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश के भौतिक गुण हैं। अर्थात् पृथिवी का खरत्व, जल का द्रवत्व, वायु का चलत्व, अग्नि का उष्णत्व और आकाश का अप्रतिघात भौतिक गुण है। ये सभी लक्षण स्पर्शेन्द्रिय गोचर हैं। अर्थात् स्पर्श के द्वारा उक्त सभी लक्षणों का ज्ञान होता है। स्पर्श का न होना (आकाश का अप्रतिघात गुण) भी स्पर्शेन्द्रिय ज्ञेय है। अतः—"लक्षणं सर्वमेवैतत्स्पर्शेन्द्रियगोचरम्। स्पर्शनेन्द्रिय विज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः ॥" (च० शा० १)। गुणियों के शरीर में गुण ही चिन्ह होता है, जिससे उनका ज्ञान होता है। शब्दादि जो पहले पञ्चमहाभूतों के गुण कहे गये हैं, वे तो इन्द्रियों के अर्थ हैं। जैसा कि नैयायिकों ने कहा है—"गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः" (न्या० १।१।१४)। चरक ने भी कहा है—

गुणाः शरीरे गुणिनां निर्दिष्टाश्चिह्नमेव च ।
अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः ॥

पञ्चमहाभूत—पृथिवी-अप्-तेज-वायु-आकाश इन पाँचों (कारण) द्रव्यों को पञ्चमहाभूत कहते हैं। संसार के परमाणु से लेकर पहाड़ तक सभी द्रव्यों की उत्पत्ति इन पाँच महाभूतों से ही है। ये पाँचों महाभूत प्रकृतिगत पञ्चतन्मात्राओं (बीजरूप सूक्ष्म महाभूतों) से क्रमशः अभिव्यक्त हुए हैं। जिनके द्वारा (द्रव्य का) ज्ञान होता है उसे 'इन्द्रिय' कहते हैं। ये इन्द्रियाँ (ज्ञान के द्वार) पाँच हैं, जिन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। अतः ज्ञान के द्वार पाँच होने से हमें पाँच प्रकार के द्रव्यों का ही ज्ञान होना सम्भव है। इनमें श्रोत्रेन्द्रिय से शब्दमात्र का ही ज्ञान सम्भव है।

इसी प्रकार त्वक् से स्पर्श, चक्षु से रूप, जिह्वा से रस तथा घ्राणेन्द्रिय से गन्ध मात्र का ही ज्ञान सम्भव है। इस प्रकार पाँच प्रकार की ही प्रतीति या बाह्य विषयों का ज्ञान हमारे लिये सम्भव है, जो उक्त इन्द्रियों द्वारा पृथक्-पृथक् होती है। इन इन्द्रियों का विषय नियत है (प्रतिनियतविषयैकानीन्द्रियाणि) अतः एक इन्द्रिय से दूसरे इन्द्रियार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं। इसलिये सुश्रुत में लिखा है—"इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि स्वं स्वं गृह्णाति मानवः। नियतं तुल्ययोनित्वात् नान्येनान्यमिति स्थितिः" (सु० शा० १)। सुख-दुःख आदि की प्रतीति आन्तरिक है। जो मन के द्वारा होने से मानसिक कहा गया है; वह इससे भी भिन्न है।

उपर्युक्त पाँच विषयों के अतिरिक्त और कोई (बाह्य) विषय नहीं है। यदि हो भी तो उसके ज्ञान का कोई साधक नहीं है। अतः साधक या ज्ञापक के प्रमाणाभाव में ज्ञेय का भी अभाव है यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। इन पाँच प्रकार की प्रतीतियों के विषयभूत पाँच ही सूक्ष्म तत्त्व हैं, यह दार्शनिकों का सिद्धान्त है। इनमें श्रोत्रेन्द्रियगम्यतत्त्व को शब्दतन्मात्रा या आकाशमात्रा कहते हैं। त्वगेन्द्रिय-गम्यतत्त्व को स्पर्शतन्मात्रा या वायुमात्रा, चक्षुरिन्द्रियगम्यतत्त्व को रूपतन्मात्रा या तेजोमात्रा, रसनेन्द्रियगम्यतत्त्व को रसतन्मात्रा या अप्मात्रा और घ्राणेन्द्रियगम्य तत्त्व को गन्धतन्मात्रा या पृथिवीमात्रा कहते हैं। प्रश्नोपनिषद् में—"पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा, तेजश्च तेजोमात्रा वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्च आकाशमात्रा" इस प्रकार का वर्णन मिलता है।

वस्तुतः ये सूक्ष्म तत्त्व इन्द्रिय विषयक नहीं परन्तु इनमें इन्द्रिय विषय का बीज रहता है अतः इन्द्रियगम्यता बीजरूपेण इनमें है। ये तो योगियों के अनुभव-गम्य विषय हैं, जिन्हें 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' में कहा गया है कि ये पञ्चभूतोत्पादक सूक्ष्मतत्त्व अर्थात् पञ्चतन्मात्रायें प्रकृति में प्रसुप्त रूप से विद्यमान रहती हैं। इनकी उत्पत्ति सांख्यकारों ने तामसिक अहंकार से बताई है। यह अहंकार भूतादि के कारण होने से भूतादि कहा जाता है। इस भूतादि अहंकार से तथा राजसिक की सहायता से क्रमशः पञ्चमहाभूतों के बीजभूत सूक्ष्मतत्त्व पञ्च-तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई।

व्यासभाष्य के अनुसार प्रथमशब्दमात्र धर्मवाला महदाकाश का बीजभूत शब्दतन्मात्रा नामक सूक्ष्मतत्त्व उत्पन्न हुआ। उस शब्दतन्मात्रा से भूतादि अहंकार की सहायता से शब्दगुणातिरिक्त स्पर्श विशेष धर्मवाला वायुभूत का बीजभूत स्पर्शतन्मात्रा नाम का सूक्ष्मतत्त्व उत्पन्न हुआ। उस स्पर्शतन्मात्रा से पुनः भूतादि की सहायता से शब्दस्पर्शगुणातिरिक्त रूप विशेष धर्मवाला तेजो-भूत का बीजभूत रूपतन्मात्रा नामक सूक्ष्मतत्त्व का आविर्भाव हुआ। इस रूप-तन्मात्रा से और भूतादि की सहायता से शब्दस्पर्शरूपगुणातिरिक्त रस विशेष धर्मवाला अब्भूत का बीजभूत सूक्ष्मतत्त्व रसतन्मात्रा की उत्पत्ति हुई। उससे पुनः भूतादि की सहायता से शब्द-स्पर्श-रूप-रस गुणातिरिक्त गन्ध विशेष धर्म-वाला पृथिवीभूत का बीजभूत सूक्ष्मतत्त्व गन्धतन्मात्रा की उत्पत्ति हुई। इन अतीन्द्रिय सूक्ष्मतत्त्वों से क्रमशः पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए। ये व्यास, वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु प्रभृति की व्याख्यानुसार निम्न प्रकार से उत्पन्न हुए।

भूतादि की सहायता से शब्दतन्मात्रा या सूक्ष्माकाशतत्त्व से शब्दगुणवाले महदाकाश की उत्पत्ति हुई। शब्दस्पर्शतन्मात्रा या सूक्ष्माकाश से स्पर्शतन्मात्रा की सहायता से शब्दस्पर्शगुणवाले वायुभूत की उत्पत्ति हुई। शब्द-स्पर्श-रूप

तन्मात्राओं से या सूक्ष्माकाश और सूक्ष्मवायुतत्त्व से रूपतन्मात्रा की सहायता से शब्द-स्पर्श-रूप-गुणवाले तेजोभूत की उत्पत्ति हुई। शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्राओं से या सूक्ष्माकाश, सूक्ष्मवायु और सूक्ष्म तेज शब्दों से रसतन्मात्रा की सहायता से शब्द-स्पर्श-रूप-रस गुणवाले अप्तत्त्व (भूत) की उत्पत्ति हुई। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध तन्मात्राओं से या सूक्ष्माकाश, सूक्ष्मवायु-सूक्ष्मतेज और सूक्ष्मअप्तत्त्वों से गन्धतन्मात्रा की सहायता से शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध गुणवाले पृथिवीभूत की उत्पत्ति हुई।

अतिसूक्ष्म होने से शून्यरूप आकाश पहला महाभूत हुआ। यह आकाश आधुनिकों का 'ईथर' है या नहीं यह विचारणीय है। क्योंकि 'ईथर' को अनन्त शक्ति का भण्डार कारणभूत 'एलेक्ट्रोन्स' का उत्पादक कहा गया है। आकाश से वायु का विकास हुआ। वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी हुई। दार्शनिक लोग पदार्थों की पाँच अवस्था बतलाते हैं, जैसे—(१) गुण, (२) अणु, (३) रेणु, (४) स्कन्ध और (५) सत्त्व। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये क्रमशः महाभूतों के गुण हैं। इन पाँचों को तन्मात्रा भी कहते हैं। इन्हें हम किसी पात्र में रखकर नहीं बतला सकते। किसी यन्त्र द्वारा इनकी परीक्षा करना भी असम्भव है।

पंचमहाभूतों की बनावट

१—० तन्मात्रा (१ शब्दतन्मात्रा) =आकाश (व्यापक)

२—१ शब्दतन्मात्रा+२ स्पर्शतन्मात्रा=वायु (शब्द+प्रधान स्पर्शगुणयुक्त)
अणुसमुदाय

भौतिक (४९ रूप) — शारीरिक (पञ्चरूप)

३—$\frac{१}{२}$ शब्दतन्मात्रा+$\frac{१}{२}$ स्पर्शतन्मात्रा+२ रूपतन्मात्रा=अग्नि (शब्द स्पर्शरूप गुण प्रधान) अणुसमुदाय।

४—$\frac{१}{३}$,, +$\frac{१}{३}$,, +$\frac{१}{३}$ रूपतन्मात्रा+ २ रसतन्मात्रा=अप् (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-प्रधान) अणुसमुदाय।

५—$\frac{१}{४}$,, +$\frac{१}{४}$,, + $\frac{१}{४}$,, + $\frac{१}{४}$ रसतन्मात्रा +२ गन्धतन्मात्रा=पृथिवी (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-प्रधान) अणुसमुदाय।

इस प्रकार सूक्ष्म महाभूत अर्थात् तन्मात्राओं से पहले तत्त्वों की एक मात्रा और अपने तत्त्वों के दो भाग से आकाश आदि स्थूल महाभूतों की क्रमशः उत्पत्ति हुई है। यह त्रिवृत्तीकरण दार्शनिकों का 'अणु' रूप है। इन अणुओं का रासायनिक प्रक्रिया के बिना जो अवयव विभाग क्रम अविभाज्य होता है वही

'रेणु' है। उन 'अणु' 'रेणुओं' के आरम्भक अवयवी को 'स्कन्ध' कहा जाता है। अवयवी को क्रम से आरम्भमानअवस्था शरीर और इन्द्रिय के अनुभव में आती है। वह 'सत्त्व' है। गुण से लेकर स्कन्ध तक की अवस्था; भूत और महाभूत शब्द से परिबोधित होती है और सत्त्व अवस्था प्राप्त द्रव्य भौतिक नाम से पुकारे जाते हैं।

यह समस्त विश्व पञ्चमहाभूतों का खेल है। इन पञ्चमहाभूतों का जो इन्द्रियग्राह्य विषय नहीं है वही तन्मात्रा महाभूत है और जो इन्द्रियग्राह्य है वे ही भूत हैं। आत्मा और आकाश अव्यक्त तत्त्व हैं और शेष व्यक्त तत्त्व हैं। यह हमारी सृष्टि भूतों का समुदाय है। पृथिवी में गति वायु से तथा अवयवों का मेल एवं संगठन जल से और उष्णता अग्नि से आई। पृथिवी अन्तिम तत्त्व है अर्थात् उससे किसी नये तत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती है।

परमाणुवाद

"न प्रलयोऽणु सद्भावात्" ——न्या० द० ४।२।१६

अथापि अवयवविभागमाश्रित्य वृत्तिप्रतिषेधादभावः प्रसज्यमानो निरवयवात् परमाणोर्निवर्तते न सर्वं प्रलयाय कल्प्यते। निरवयवत्त्वं तु खलु परमाणोर्विभागैरल्पतरप्रसंगस्य यतो नाल्पीयस्तत्रावस्थानात् लोष्ठस्य प्रविभज्यमानावयवस्याल्पतरमल्पतममुत्तरोत्तरं भवति स चायमल्पतरप्रसंगः यस्मान्नाल्पतरमस्ति यः परमोऽल्पस्तत्र निवर्तते, यतश्च नाल्पीयोऽस्ति तं परमाणुं प्रचक्षमह इति।। ——वात्स्यायन

"परमाणुत्वं परिमाणवान् परमाणुः।" ——वै० द० ३।१

यत्रोत्तरोत्तरं गच्छन्नवयवावयवी प्रवाहस्तावदुपरमते यतश्च नापरं किञ्चिदल्पतमं विद्यते, यः खलु परमोऽल्पीयान् स परमाणुरिति परिभाष्यते।

——प्रशस्तपादः

अर्थ——जो परम-अणु अर्थात् परम-सूक्ष्म परिमाणवाला हो उसे 'परमाणु' कहते हैं। जहाँ अवयवगत क्रिया द्वारा लोष्टादि अवयवी द्रव्य के अवयवों का परस्पर उत्तरोत्तर विभाग होने के कारण जहाँ अवयवावयवी विभाग का प्रवाह निवृत्त होकर शेष में जो परम सूक्ष्म अवयव रहता है, जिसके उत्तर अन्य किसी अवयव का विभाग नहीं हो सकता अर्थात् जो परम सूक्ष्म निरवयव द्रव्य है वही 'परमाणु' है। इसी अभिप्राय से वात्स्यायन मुनि ने न्यायभाष्य में कहा है—— जब किसी लोष्ठ (मिट्टी के ढेले) को पीसने से उसके अवयवों का विभाग हो जाता है और उक्त विभाग से उत्तरोत्तर अवयव अल्प, अल्पतर होते हुए जहाँ समाप्त हो जाते हैं अर्थात् जहाँ अवयवों के अल्प, अल्पतर होने का तारतम्य समाप्त हो जाता है, जिसके अनन्तर विभाग करने से भी कोई अवयव विभक्त

नहीं हो सकता वही अवयवरहित होने से अन्त्यावयव निरवयवरूप हुआ, परम सूक्ष्म होने के कारण 'परमाणु' कहलाता है।

वक्तव्य---अणु, ह्रस्व, महत् तथा दीर्घ भेद से परिमाण चार प्रकार के होते हैं। जो वस्तु किसी प्रकार से उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाय तथा उत्तरोत्तर न्यून होती जाय दोनों का किसी स्थान पर अवश्य विश्राम होता है यह नियम है। इस नियम के अनुसार जैसे पृथिवी आदि द्रव्यों के उत्तरोत्तर अधिक होने से महत् परिमाण की समाप्ति आकाश में देखी जाती है, अर्थात् पृथिवी आदि की अपेक्षा आकाश परम महत्परिमाणवाला है, वैसे ही पृथिवी आदि कार्य द्रव्यों के उत्तरोत्तर विभाग होने से उत्तरोत्तर अणु परिमाण की समाप्ति भी अवश्य किसी स्थान पर होना चाहिए। इस प्रकार जहाँ पृथिवी आदि द्रव्यों के अन्त्य अवयव में अणु परिमाण की समाप्ति होती है, अर्थात् जिसके उत्तर अन्य कोई अणु परिमाणवाला अवयव नहीं हो सकता, वही परम अणु परिमाण का आधार होने से वैशेषिक मत में "परमाणु" नाम से कहा जाता है और परम सूक्ष्म होने से वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं किन्तु उसकी सिद्धि अनुमान द्वारा होती है।

अनुमान का प्रकार यह है कि "त्र्यणुकं अवयवजन्यं चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवत्" अर्थात् झरोखे में सूर्य की किरणों के पड़ने से जो सूक्ष्म रज प्रतीत होते हैं उनका नाम 'त्र्यणुक' या 'त्रसरेणु' है। जो द्रव्य चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष है, वह अवश्य अवयव जन्य होता है, जैसा कि 'घट' द्रव्य चाक्षुष-प्रत्यक्ष का विषय होने के कारण कपालादि अवयवों के जन्य है। वैसे ही द्रव्यरूप 'त्र्यणुक' भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष का विषय होने से अवयवजन्य है और उनके आरम्भिक अवयव वही 'द्व्यणुक' है, अर्थात् 'त्र्यणुक' के अवयव का नाम ही 'द्व्यणुक' है, क्योंकि परस्पर संयुक्त हुए तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक रूप कार्य द्रव्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार 'द्व्यणुक' की सिद्धि के अनन्तर परमाणु सिद्धि के लिये यह अनुमान है कि "द्व्यणुकं अवयवजन्यं महदारम्भकत्वात् कपालवत्" अर्थात् जो महत् परिमाण वाले द्रव्य का आरम्भक है वह अवश्य अवयवजन्य होता है, जैसे---कपाल महत् परिमाण-वाले घट रूप द्रव्य के आरम्भक होने से कपालिका रूप अवयवों द्वारा जन्य है, वैसे ही द्व्यणुक भी महत् परिमाणवाले त्र्यणुक रूप आरम्भक होने से अवयवजन्य होना चाहिए। जो इसका आरम्भक अवयव है वही निरवयव द्रव्य 'परमाणु' है।

शंका---"परमाणुरवयवजन्यः कार्यद्रव्यसमवायिकारणत्वात् कपालवत्" अर्थात्---जो कार्य द्रव्य का समवायि कारण है, वह अवयव जन्य होता है, जैसे---घटरूप कार्यद्रव्य का समवायि कारण होने से कपाल अपने कपालिका रूप अवयव के जन्य है, वैसे ही परमाणु भी 'द्व्यणुकरूप' कार्यद्रव्य के समवायिकारण होने से किसी अवयव द्वारा जन्य होना चाहिए, अतः निरवयव नहीं, सावयव है?

समाधान---यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से अनवस्था दोष हो जायगा। यदि 'बीजांकुर' न्याय से उक्त अनवस्था को प्रामाणिक माना जाय तो "हिमालय-सर्षपयोरपि साम्यप्रसंगः" अर्थात् पर्वत तथा सर्षप के परिमाण में कोई भेद नहीं रह जायगा। भाव यह है कि जिस द्रव्य के आरम्भक अवयवों की संख्या अधिक होती है, वह अधिक परिमाणवाला अथवा जिसके आरम्भक अवयवों की संख्या न्यून होती है वह न्यून परिमाणवाला होता है, यह नियम है। इस नियम के अनुसार हिमालय तथा सर्षप दोनों का परस्पर परिमाण भेद है। क्योंकि हिमालय के आरम्भक अवयवों की संख्या अधिक और सर्षप के आरम्भक अवयवों की संख्या न्यून होती है। अतः यदि अवयवी द्रव्यगत अवयवों के उत्तरोत्तर विभाग द्वारा निरन्तर अवयवधारा को मानता जाय, अर्थात् कोई परमसूक्ष्म अन्त्यावयव न माने तो हिमालय तथा सर्षप दोनों के उत्तरोत्तर विभाग की भी कहीं समाप्ति नहीं होगी और उत्तरोत्तर विभाग की समाप्ति न होने से दोनों तुल्य परिमाण-वाले होने चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि कहीं-न-कहीं अवयवधारा की समाप्ति अवश्य होती है। जहाँ समाप्ति होती है वही 'परमाणु' है और यह परमाणु पृथिवी आदि कार्यद्रव्यों का समवायिकारण होने पर भी अवयवजन्य नहीं किन्तु निरवयव है। इसी आशय से प्रामाणिक लोग कहते हैं---"जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य त्रिंशत्तमो भागः परमाणुरुच्यते बुधैः॥" (शार्ङ्गधर)। यह परमाणु एक नहीं अनेक हैं। यदि एक ही परमाणु पृथिवी आदि कार्यों का आरम्भक होता तो इसके नित्य होने से निरन्तर कार्य की उत्पत्ति बनी रहती और कार्य का विनाश कदापि नहीं होता, क्योंकि कार्यविनाश के दो हेतु हैं। (१) अवयव विभाग और (२) अवयवनाश। अतः एक होने से अवयव-विभाग सम्भव नहीं और नित्य होने से विनाश भी सम्भव नहीं है।

यहाँ इतना विशेष स्मरणीय है कि यद्यपि अवान्तर भेद से परमाणु अनेक हैं तथापि सत्त्व, रज और तम भेद से मुख्य तीन ही प्रकार के हैं। इन्हीं को सांख्य, योग तथा वेदान्त त्रिगुण कहते हैं और न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा में इनकी 'परमाणु' संज्ञा है तथा उपनिषद् में लोहित, शुक्ल, कृष्ण तथा प्रकाशक, क्रिया-जनक और आवरक नाम से कथन करते हैं। तात्पर्य यह है कि जगत् के एक ही उपादान कारण में दर्शनकारों का संज्ञामात्र भेद है, उपादान कारणता में विवाद नहीं है। इस परमाणुरूपकारणावस्था को जिसे समाधि में योगीजन भी कठिनता से अनुभव करते हैं जगत् का मूलकारण 'प्रकृति' कहते हैं। इसी को सांख्य, योग तथा वेदान्त में सत्त्वादि तीनों गुणों की साम्यावस्था कहा है। उपनिषद् के 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्" इत्यादि वाक्य भी इसी अर्थ के सूचक हैं। इसी सत्त्व, रज तथा तमोगण रूप अनभिव्यक्तावस्था रूप सृष्टि को परमात्मा की

शक्ति भी कहा जाता है। सृष्टि के आदि में परमात्मा की प्रकृतिरूप दिव्यशक्ति अपने गुणों में निगूढ़ अर्थात् अव्यक्तरूप से विद्यमान रहती है। दैवीशक्ति, पराशक्ति, माया, महामाया, प्रकृति, अव्यक्त, अव्याकृतावस्था तथा मूलकारण ये सब शब्द एक ही अर्थ की ओर निर्देश करते हैं। प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् पिण्डीभूत होकर अर्थात् कार्यावस्था को त्याग कर कारणावस्था रूप प्रकृति में लीन हो जाता है। उस काल में प्रकृति का नाम "स्वधा" होता है। जैसा कि ऋग्वेद में—"न मृत्युरासोदमृतं न तर्हि न रात्र्य अह्न आसीत् प्रचेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यद् न परः किंचानास" (ऋ० १०-३-१२९) अर्थात् उस प्रलयकाल में न मृत्यु थी, न अमृत था, न रात्रि और न दिन के चिह्न थे। उस समय तो केवल अपनी 'स्वधा' (शक्ति या प्रकृति) के साथ बिना वायु के चेतनतत्त्व प्राण ले रहा था। उससे परे और कोई पदार्थ भी नहीं था।

परमाणुवाद तथा प्रकृतिवाद—आधुनिक वैज्ञानिक भी सृष्टि को परमाणु-जन्य मानते हैं, परन्तु इनका परमाणु विभाज्य एवं अनित्य है। भारतीय दार्शनिक गौतम तथा कणाद का परमाणु नित्य तथा अविभाज्य है। आधुनिक परमाणु पाञ्चभौतिक है, परन्तु गौतम तथा कणाद का परमाणु भूतोत्पादक रूप है। पञ्चमहाभूतों में चार भूत अर्थात् पृथिवी, जल, तेज और वायु परमाणु रूप से और आकाश व्यापक रूप से किसी द्रव्य की उत्पत्ति में कारण होते हैं। द्रव्यों का विभाजित न होनेवाला अंश परमाणु है। आधुनिकों का एटम (अणु) जो विभाज्य है, परमाणु नहीं है। सत्वादि तीनों गुण जिसमें समान हों, ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म द्रववत् एकीभूत परमाणुओं के सर्वत्र व्यापक सृष्टि रूप समूह को ही 'प्रकृति' (Supreme nature) कहते हैं। जब इस प्रकृति में सत्त्व-गुण अधिक बढ़ जाता है तब उसे महत्तत्त्व (Intellection) कहते हैं। और जब रजोगुण अधिक होता है तब उसे अहंकार (Egoism) कहते हैं। गुण और गुणी का अभेद सम्बन्ध मान कर अहंकार शब्द से अहंकार गुणवाले परमाणु लिये गये हैं। इस प्रकार प्रकृति और महत्तत्त्व (बुद्धि), अहंकार और पञ्चतन्मात्राओं के गुणभेद से आठ नाम परमाणुओं अर्थात् प्रकृति के ही हैं।

प्रकृति का नाम अव्यक्त भी है। यह जगत् का कारण है। इन पञ्चमहाभूतों को तत्त्व भी कहते हैं। "तनोति इति तत्त्वं" तनु-विस्तारे के अनुसार जो अपने विस्तार से तान लेवे वही 'तत्त्व' है। ये पञ्चमहाभूत अपने रूप का विस्तार कर विश्व का ताना-बाना किये हुए हैं, अतएव 'तत्त्व' कहलाते हैं। पश्चिमी विज्ञान उसे तत्त्व कहता है, जिसकी रचना में उसी के परमाणु हों, अन्य का मेल न हो। पूर्वी विज्ञान उनकी क्रियाशीलता का आदर करता है। आजकल तत्त्व (एलीमेण्ट) नाम से १०४ पदार्थ समझे जाते हैं और इन्हीं के संयोग से सजीव और

निर्जीव सृष्टि का निर्माण स्वीकार करते हैं। इनमें एक जाति के ही परमाणु मिलने से ऐसा कहा गया है। इस दृष्टि से पूर्वी और पश्चिमी विज्ञान के मूल-सिद्धान्तों में विभेद दृष्टिगोचर होता है और इनका परस्पर मेल खाना कठिन समझा जाता है, किन्तु सम्भव है आगे चलकर यह स्थूल मान गम्भीर ज्ञान में परिणत होकर एकता के सूत्र में बँध जाय। रसायन और किमिया-पद्धति द्वारा ताम्र से सोना बनाया जा सकता है। सम्भव है इससे इस मौलिकता के ज्ञान में अधिक विचार की आवश्यकता पड़े और पञ्चमहाभूतों का सिद्धान्त ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत हो।

देह-क्षुद्र ब्रह्माण्ड और बाह्यजगत्-बृहत् ब्रह्माण्ड है। क्षुद्र ब्रह्माण्ड तथा बहत् ब्रह्माण्ड सभी पाञ्चभौतिक हैं। पश्चिमी विज्ञान भी मानता है कि आरम्भ में 'नीहारिकाओं' (Nebulae) के भीतर जो सूक्ष्म ज्योतिर्मय तरल पदार्थ दिखाई देता है उसीसे निहारिकाओं का आरम्भ होता है। यह ज्योतिर्मय तरल पदार्थ अनन्त देश में दूर तक फैला रहता है, फिर किसी अज्ञात कारण से इस अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ के अन्दर आन्दोलन पैदा होता है, फिर बड़े वेग से वह पदार्थ चक्कर काटने लगता है और घन होने लगता है, अनन्त देश में फैले हुए इस भयानक चक्कर से अन्त में कुण्डली का आकार बनता है, यह विश्व की बनावट की आदि अवस्था है। इसके पश्चात् सूर्यमण्डल, ग्रह, नक्षत्र आदि बनते हैं। विश्व बना रहता है और सूर्यमण्डल आदि बनते-बिगड़ते रहते हैं।

ईसाई मानते हैं कि आरम्भ में ईश्वर की आत्मा नारा पर बह रही थी। भारतीय पुराण भी नार या जलराशि में नारायण का शयन और फिर उनकी 'एकोऽहं बहुस्याम' इच्छा के अनुसार जल घनीभूत होकर सृष्टि की उत्पत्ति हुई मानते हैं। इस प्रकार उस तेजोमय शक्ति को चाहे परमात्मा मानिये, चाहे निहारिका स्थित ज्योतिर्मय तरल पदार्थ मानिये, घुमा-फिराकर सृष्टिक्रम में बहुत अन्तर नहीं होता और अप्तत्त्व ही पञ्चभूतों और भौतिक पदार्थों का आदि कारण ठहरता है। मनु ने भी कहा है—"अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्"। भगवान् गीता में कहते हैं कि सत्त्व, रज और तमोगुणवाली प्रकृति मेरी समीपता से विषमता को प्राप्त होती है तभी सृष्टि का व्यापार प्रारम्भ होता है। सृष्टि की 'अहं' पर्यन्त पहुँचने पर जो चैतन्य 'अहं' अभिमान करके परिछन्न तरंग-सा हो जाता है वही 'जीव' है तथा परमात्मा सृष्टि-रचना में अधिष्ठान रूप से प्रेरक मात्र हैं।

कालनिरूपण

"अपरोऽस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति कालिंगानि"॥

—वै० द० २-२-६

अर्थ—अपर में अपरज्ञान तथा पर में परज्ञान, युगपत्ज्ञान, चिरज्ञान और क्षिप्रज्ञान ये सब काल के अनुमापक चिह्न हैं।

वक्तव्य—उपरोक्त सूत्र में अपर से कनिष्ठ, पर से ज्येष्ठ, युगपत् से समान-काल, चिर से बिलम्ब और क्षिप्र से शीघ्रकाल का निर्देश किया गया है। इस प्रकार कनिष्ठ में होनेवाला अपरज्ञान, ज्येष्ठ में होनेवाले परज्ञान, युगपत्ज्ञान, चिरज्ञान तथा क्षिप्रज्ञान ये पांचों ज्ञान जिसके द्वारा होते हैं उसे 'काल' कहते हैं। अधिक सूर्यक्रिया के सम्बन्ध से प्रतीत होनेवाले ज्येष्ठत्व का नाम परत्व है तथा अल्प सूर्यक्रिया के सम्बन्ध से प्रतीत होनेवाले कनिष्ठत्व का नाम अपरत्व है। इसी का नाम 'कालिकपरत्व' तथा 'कालिक-अपरत्व' भी है। ये दोनों काल की सिद्धि में लिङ्ग (चिह्न) हैं। जैसे—जहाँ देवदत्त के दो पुत्रों में 'यह बड़ा है' 'यह छोटा है' इस प्रकार की बुद्धि होती है, वहाँ दोनों भ्राताओं के मध्य ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व व्यवहार का प्रयोजक सूर्य की अधिक न्यून क्रिया का सम्बन्ध है। परन्तु ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ पिण्ड के साथ सूर्य-क्रिया का साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता और बिना किसी सम्बन्ध के ज्येष्ठ में परत्वज्ञान और कनिष्ठ में अपरत्वज्ञान नहीं हो सकता इसीलिये पिण्ड तथा सूर्य-क्रिया के सम्बन्ध के घटक द्रव्य को 'काल' कहते हैं। जिस प्रकार परत्वज्ञान तथा अपरत्वज्ञान 'काल' की सिद्धि में लिङ्ग (चिह्न) है; वैसे ही युगपत् ज्ञान, चिरज्ञान तथा क्षिप्रज्ञान भी काल के लिङ्ग (चिह्न) हैं। अर्थात् 'युगपत् कुर्वन्ति, देवदत्त, यज्ञदत्त तथा विष्णुमित्र तीनों एक काल में काम करते हैं। यह ज्ञान सूर्य की एक क्रिया से मिली हुई देवदत्तादि कर्तृक अनेक क्रियाओं को निर्देश करता है, परन्तु सूर्य-क्रिया तथा देवदत्त आदि की क्रिया का परस्पर साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि सूर्य-क्रिया सूर्य में तथा देवदत्त आदि की क्रिया देवदत्त आदि में समवेत है और पृथिवी आदि परिच्छिन्न होने के कारण उनकी क्रियाओं के परस्पर सम्बन्ध का निमित्त नहीं हो सकते। इससे सिद्ध है कि जो द्रव्य 'संयुक्त समवाय' सम्बन्ध से उन दोनों के साथ मिलकर उनकी क्रियाओं के परस्पर सम्बन्ध का निमित्त है वही 'काल' है। 'चिरं गच्छति देवदत्तः' अर्थात् देवदत्त विलम्ब से जाता है, यहाँ क्रम से होनवाली सूर्य की स्थूलभूत अनेक क्रियासहित देवदत्त की गमन क्रिया चिरज्ञान का विषय है और 'क्षिप्रं गच्छति यज्ञदत्तः' अर्थात् यज्ञदत्त शीघ्र जाता है, यहाँ सूर्य सूक्ष्मभूत अनेकक्रियासहित यज्ञदत्त की गमन क्रिया क्षिप्रज्ञान का विषय है, परन्तु सूर्य-क्रिया के साथ देवदत्त-क्रिया तथा यज्ञदत्त क्रिया का कोई परस्पर साक्षात् सम्बन्ध न होने से जो उनके परस्पर उक्त सम्बन्ध द्वारा चिरज्ञान तथा क्षिप्रज्ञान निमित्त द्रव्य है वही 'काल' है, इसलिये युगपत् ज्ञान की भाँति ये दोनों भी काल की सिद्धि में लिङ्ग हैं।

जन्यानां जनकःकालो जगतामाश्रयो मतः ।
परापरत्वधीर्हेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ।।

—मुक्तावली

अर्थ--उत्पन्न होनेवाले पदार्थ का जनक, जगत का आश्रय तथा परत्व और अपरत्व बुद्धि का हेतु 'काल' है। यह काल एक होने पर भी उपाधिभेद से क्षण आदि नाम वाला होता है।

"कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भुरनादिमध्यनिधनोऽत्र रसव्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते। स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः, संकलयति वा भूतानि इति कालः॥" --सु० सू० ६-२

"तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषणनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्त्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति।" --सु० सू० ६-३

अर्थ--काल समस्त ऐश्वर्ययुक्त है, किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है। आदि, मध्य और अन्त रहित है। (द्रव्याश्रित) रसों की व्यापत्ति और सम्पत्ति तथा प्राणियों का जीवन और मरण उस काल के ही अधीन है। वह सूक्ष्मकला भर भी (गतिमान होने के कारण) ठहरता नहीं है। या (संहार द्वारा) सर्व प्राणियों का संकलन या ग्रहण करता है; इसीलिये उसे 'काल' कहते हैं। भगवान् सूर्य अपनी गति विशेष से उस संवत्सरात्मक काल का निमेष, काष्ठ, कला, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युग--इस प्रकार विभाग करते हैं।

वक्तव्य--कला शब्द का 'ककार' और 'आकार' तथा 'ली' धातु का लकार लेकर 'काल' शब्द बनता है। 'कलाशब्दस्य ककाराकारौ लीधातोश्च लकारमादाय कालशब्दनिष्पत्तिः' और भी 'कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः' अर्थात् समस्त जीव-सृष्टि का संकलन करता है इसलिये इसे 'काल' कहते हैं। भागवत् में लिखा है--'कालो बलीयान् बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः। प्रजाः कालयते क्रीड़न् पशुपालो यथा पशून्॥' काल सर्वमूर्तसंयोगी (विभु) होने के कारण सूक्ष्म कला का भी ग्रहण करता है, इसीलिये उसे 'काल' कहते हैं। काल अनेक अर्थ में व्यवहृत होता है, यथा--"संहरणादे राशीकरोति भूतानीति वा कालः सुखदुखाभ्यां भूतानि योजयति इति वा कालः।" काल का निर्देश या ख्याल सर्वदा संवत्सर की दृष्टि से होने के कारण उपरोक्त सूत्र में व्यावहारिक भाषा में 'संवत्सरात्मनः' लिखा गया है। ऊपर के सूत्र में सूर्य उपलक्षण मात्र है अतः सूर्य के साथ चन्द्र का भी ग्रहण करना चाहिए--क्योंकि शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष चन्द्रमा की गति से हुआ करता है। वास्तव में यह सूर्य की गति नहीं है, पृथिवी की गति है। पृथिवी की एक गति अपने अक्ष के चारों ओर होती है जिससे दिन और रात्रि होते हैं और दूसरी गति सूर्य के चारों ओर प्रक्रिया के स्वरूप होती है जिससे ऋतु, अयन और वर्ष उत्पन्न होते हैं।

यह काल एक (संख्या) परम तथा महत् परिमाण वाला '(विभु), पृथक्त्व रूप (Individual in character) संयोग और विभाग गुण वाला है। "तस्य

गुणाः संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागाः" (प्रशस्तपाद) । परन्तु यह काल एक होने पर भी क्षण आदि अर्थात् मिनिट, घंटा, दिन, रात, वर्ष आदि से उपाधित होता है। कई नैयायिक काल का इस प्रकार लक्षण करते हैं, कि "अतीतादि व्यवहार हेतुः कालः" अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान व्यवहार के निमित्त कारण को 'काल' कहते हैं। परन्तु प्राचीन वैशेषिक इसे नित्य द्रव्य मानता है। वस्तुतः काल क्या है, इसकी परवाह हम व्यवहार में नहीं करते परन्तु क्षणादि व्यवस्था में हम काल को समझते या अनुभव करते हैं।

२ क्षण	=	१ लव
२ लव	=	१ निमेष
१५ निमेष	=	१ काष्ठा
३० काष्ठा	=	१ मुहूर्त्त
१५ दिन-रात	=	१ पक्ष
२ पक्ष	=	१ मास
२ मास	=	१ ऋतु
३ ऋतु	=	१ अयन
२ अयन	=	१ वर्ष (मानुषीय)

यह मानुषीय वर्ष देवताओं का "दिव्य अहोरात्र" होता है। अर्थात् ६ मास-का दिव्य दिन और ६ मास की दिव्य रात्रि होती है। दिव्य दिन का नाम 'उत्त-रायण' तथा रात्रि का नाम 'दक्षिणायन' है। दिव्य अहोरात्र से मानुषीय पक्ष आदि की भाँति 'दिव्य पक्ष' आदि की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार १२ हजार दिव्य वर्षों की एक चतुर्युग और हजार चतुर्युगी का एक 'ब्रह्म दिन' होता है और ब्रह्मदिन के समान ही 'ब्रह्मरात्रि' भी होती है। इसका अवान्तर नाम 'प्रलय' है। इसी प्रकार पुनः ब्रह्मदिन-रात से 'ब्राह्मपक्ष' आदि की कल्पना द्वारा महाप्रलय तक समय की संख्या समझी जाती है। यह महाप्रलय सौ ब्राह्मवर्ष के अनन्तर होता है।

सार यह निकला कि जैसे एक ही स्फटिक मणि में नीलता आदि उपाधियों के संसर्ग से नील, पीत आदि का व्यवहार होता है वैसे ही एक काल में भी विलक्षण क्रियाओं के सम्बन्ध द्वारा क्षण, लव, निमेषादि का व्यवहार होता है। भेद केवल इतना ही है कि मणि में नीलता आदि उपाधि का सम्बन्ध वास्तविक नहीं होता, परन्तु काल में पाचक, पाटक की भाँति क्रियाओं का वास्तविक सम्बन्ध है। इसी अभिप्राय से प्रशस्तपाद मुनि ने संग्रहग्रन्थ में कहा है कि—"सर्वकार्याणा-मारम्भक्रियाभिर्निवृत्तिस्थितिनिरोधउपाधिभेदान्मणिवत् पाचक-पाटकवद्वानानत्वो-पचार इति" अर्थात् यद्यपि कार्य द्रव्यों में परत्वादि ज्ञान समान पाये जाने से

तथा वास्तवभेद हेतु के उपलब्ध न होने से सत्ता की भाँति काल मुख्य रूप से एक है तथापि कार्यद्रव्यों की आरम्भादिक्रियारूप उपाधियों के भेद द्वारा एक ही काल में आरम्भकाल, उत्पत्तिकाल तथा विनाशकाल आदि भेद से नानात्व का उपचार है, परन्तु वास्तव में नानात्व नहीं है।

दिङ्निरूपण

"इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्" —वै० द० २-२-१०

"दूरान्तिकादि धीर्हेतु-रेकानित्या दिगुच्यते।
उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदेशभाक् ।।"

—मुक्तावली

"दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः।
प्राच्यवाची प्रतीच्यस्ता पूर्व दक्षिण पश्चिमाः। उत्तरा दिगुदीची स्याद् दिश्यं तु त्रिक्षु दिग्भवेत् ।। इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैर्ऋतो वरुणो मरुत्। कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात्।

(अमरकोश)

अर्थ—(यतः) जिससे (इतः इदं इति) इसकी अपेक्षा यह पर (दूर) और यह अपर (समीप) है इस प्रकार जो ज्ञान होता है वह 'दिक्' है। यह दूर है तथा यह समीप है इस प्रकार के परत्वापरत्व ज्ञान के हेतु को 'दिक्' कहते हैं। यह एक और नित्य है। यह एक होने पर भी उपाधिभेद से प्राची आदि नाम से कही जाती है।

वक्तव्य—यह इसकी अपेक्षा दूर है, इस ज्ञान का हेतु 'परत्व' तथा यह इसकी अपेक्षा समीप है, इस ज्ञान का हेतु 'अपरत्व' है। उक्त परत्वापरत्व दिक् सिद्धि में लिङ्ग है, अर्थात् जो द्रव्य अधिक संयुक्त संयोगों का आश्रय है उसको 'पर' तथा जो द्रव्य अल्प संयुक्त संयोगों का आश्रय है उसको 'अपरत्व' कहते हैं। ये संयुक्त संयोग साक्षात् द्रव्य के आश्रय में नहीं रह सकते, अतः जिसके द्वारा ये द्रव्य के आश्रय में रहते हैं उसे 'दिक्' कहा जाता है। यहाँ 'पर' तथा 'दूरवर्ती' ये दोनों 'परत्व' तथा अपरत्व' के पर्याय शब्द हैं। इसी प्रकार 'अपर' तथा 'समीपवर्ती' ये दोनों और 'अपरत्व', 'अन्तिकत्व' तथा 'समीपत्व' ये तीनों पर्याय शब्द हैं।

एक मूर्त द्रव्य की अपेक्षा अन्य मूर्त द्रव्यों में दूरत्व-ज्ञान तथा अन्य मूर्तद्रव्य की अपेक्षा अन्य मूर्त द्रव्यों में समीपत्व का ज्ञान होता है, जैसा कि काशीनिवासी पुरुष को प्रयाग की अपेक्षा कुरुक्षेत्र में दूरत्व का ज्ञान तथा कुरुक्षेत्र की अपेक्षा प्रयाग में समीपत्व का ज्ञान होता है, क्योंकि काशी से लेकर अनेक उत्तरोत्तर संयुक्त

द्रव्यों के बहुतर संयोगों का आश्रय कुरुक्षेत्र तथा अनेक उत्तरोत्तर संयुक्त द्रव्यों के अल्पतर संयोगों का आश्रय प्रयाग है। परन्तु विचारणीय अंश यह है कि जिस गुण आदि का जो समवायी द्रव्य है वही उसका समवाय सम्बन्ध से आश्रय होता है अन्य नहीं, इस नियम के अनुसार संयुक्त द्रव्यों के संयोग का आश्रय तत्तद्-भूत-प्रदेश है अर्थात् मूर्तद्रव्य जिस पृथिवी देश के साथ संयुक्त है, वह देश उनके संयोग का आश्रय है, क्योंकि उस संयोग का समवाय उसी देश के साथ है, अन्यत्र नहीं। निष्कर्ष यह निकला कि जैसे—संयुक्त द्रव्यों में संयोग का साक्षात् समवाय सम्बन्ध है, वैसे अल्प वा अल्पतर, अधिक किंवा अधिकतर संयोग का कुरुक्षेत्र वा प्रयाग के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं और उसके न होने से कुरुक्षेत्र में दूरता की तथा प्रयाग में समीपता की प्रतीति का होना सर्वथा असम्भव है, परन्तु प्रतीति होती है। इसलिये कुरुक्षेत्र तथा प्रयाग में मूर्त द्रव्य सम्बन्धी संयोगों के सम्बन्ध का निमित्तभूत कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिए। परन्तु परिच्छिन्न होने के कारण पृथिवी आदि उक्त सम्बन्ध के निमित्त नहीं हो सकते और आकाश भी सम्बन्ध का अप्रयोजक तथा काल-क्रिया मात्र के संयोग का प्रयोजक होने से उक्त सम्बन्ध का निमित्त नहीं और अचेतन द्रव्य अन्य द्रव्यवर्ती धर्म की अन्यत्र प्राप्ति में निमित्त देखा जाता है, जैसा कि काल-परीक्षा में निरूपण किया गया है। इसलिये जो पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य 'स्वसमवायी संयुक्त संयोग सम्बन्ध' द्वारा काशी से लेकर संयुक्त मूर्त द्रव्यों के अधिकतर संयोगों की कुरुक्षेत्र में प्राप्ति का तथा कुरुक्षेत्र की अपेक्षा अल्पतर संयोगों की प्रयाग में प्राप्ति का निमित्त है वही 'दिक्' है। दिक् तथा दिशा ये दोनों पर्याय शब्द हैं।

संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग और विभाग ये पाँच दिक् के गुण हैं। मेरु की प्रदक्षिणा करने वाले भगवान् सूर्य का जो संयोग विशेष है उसे इन्द्र आदि लोकपालों ने 'दिक्' कहा है, वह एक होने पर भी उपाधिभेद से दस नामों से प्रसिद्ध है। जैसे—(१) प्राची (पूर्व), (२) आग्नेय कोण (पूर्व दक्षिण), (३) अवाची (दक्षिण), (४) नैर्ऋत् कोण (दक्षिण पश्चिम), (५) उदीची (उत्तर), (६) वायव्यकोण (उत्तर पश्चिम), (७) प्रतीची (पश्चिम), (८) ईशान कोण (उत्तर-पूर्व), (९) ऊर्ध्व देश, (१०) अधः देश, ये दसो दिशाएँ हैं। इन्हें माहेन्द्री, वैश्वानरी, याम्या, नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, कौवेरी, ऐशानी, ब्राह्मी और नागी भी कहते हैं। 'कार्य विशेषेण नानात्वम्' अर्थात् कार्य विशेष से दिशा अनेक हैं। सूर्य संयोगात्मक उपाधिविशेष का नाम कार्य विशेष है, उक्त उपाधि से एक ही दिशा में प्राची, प्रतीची आदि भेद से अनेकत्व का व्यवहार होता है, परन्तु वास्तविक नहीं। अर्थात् जैसे पचनादि क्रियारूप उपाधि से एक ही चैत्र में पाचक, पाठक व्यवहार से नानात्व औपाधिक है; वैसे ही सूर्य के

विलक्षण-विलक्षण संयोगरूप उपाधि से एक दिशा में नानात्व का व्यवहार औपाधिक है, किन्तु वास्तविक नहीं है। 'आदित्यसंयोगाद्भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची' अर्थात् भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल में होनेवाले सूर्य के संयोग से दिशा की 'प्राची' संज्ञा है। अर्थात् जिस ओर आदिसृष्टि में सूर्य उदय होगा उसका नाम प्राची (पूर्वदिशा) है। "प्रागस्यामञ्चति सूर्यः इति प्राची" अर्थात् जिस दिशा में सूर्य उदय होता है, उसको प्राची कहते हैं, यह प्राची शब्द का वाच्य-अर्थ है। "तथा दक्षिणाप्रतीच्युदीची च" (वै० द० २-२-१५)। अर्थात् जैसे सूर्य के संयोग से दिशा की प्राची संज्ञा है वैसे ही दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर संज्ञा भी है। भूत, भविष्य, वर्त्तमान काल में होनेवाले सूर्य के संयोग से दिशा में दक्षिणा, प्रतीची तथा उदीची का व्यवहार होता है अर्थात् पूर्वदिशा की ओर सम्मुख स्थित पुरुष के दक्षिण हस्त की ओर दिशा में सूर्य का पहले संयोग हुआ वा आगे होगा वा वर्तमान में है, उसको 'दक्षिणा' अथवा 'अवाची' दिशा और पृष्ठ भाग में होनेवाली दिशा को 'प्रतीची' तथा वामहस्त की ओर होनेवाली दिशा को 'उदीची' कहते हैं।

भाव यह है कि "अर्वागस्यामञ्चति सूर्य इति अवाची" अर्थात् जिस दिशा में सूर्य का नीचे होकर संयोग हो उसका नाम 'अवाची' तथा "प्रतीकूल्येनास्यामञ्चति सूर्य इति प्रतीची" तथा "उदगस्यामञ्चति सूर्य इति उदीची" अर्थात् जिस दिशा में सूर्य अस्त होता है वह 'प्रतीची' और जिस दिशा में सूर्य के ऊँचे होकर संयोग हो उसे उदीची कहते हैं। इसी प्रकार 'अधः' 'ऊर्ध्व' आदि भेद भी उक्त सूर्य के संयोग द्वारा ही जानना चाहिए। उक्त ६ के अतिरिक्त पूर्वदक्षिणा, दक्षिणपश्चिमा, पश्चिमोत्तरा, और उत्तरपूर्वा ये चार भेद भी दिशा के हैं। ये सब मिलकर १० (दस) दिशाएँ होती हैं। सार यह निकला कि सूर्योदय के समीपवर्ती दिशा को 'प्राची' तथा दूरवर्ती दिशा को 'प्रतीची' और पूर्वमुख पुरुष के वामहस्त की ओर होनेवाली दिशा को 'उदीची' तथा दक्षिणहस्त की ओर होनेवाली दिशा को 'दक्षिणा' कहते हैं। जिस दिशा से नीचे की ओर किसी भारी वस्तु का पतन होता है उसका नाम 'ऊर्ध्वा' तथा जिस दिशा की ओर पतन हो उसका नाम 'अधः' है। इसी प्रकार दक्षिण-पूर्वा आदि भी समझना चाहिए।

काल और दिक्—उपरोक्त काल तथा दिक् के वर्णन से यह स्पष्ट है कि दिक् किसी मूर्त विषय के सम्बन्ध का संकेत करता है। और काल पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के सम्बन्ध का द्योतक है। जैसे—सिद्धान्ताचार्य ने कहा है—"याम्यमात्रं क्रियामात्रं वा कालोपाधिः, मूर्तमात्रं दिगुपाधिः।" शङ्कर मिश्र ने कहा है कि काल का सम्बन्ध नित्य है परन्तु दिक् का सम्बन्ध अनित्य है। संसार के सभी पदार्थों में काल से ही गति उत्पन्न होती है और दिक् उनके परस्पर

संयोग में कारण होता है। इस प्रकार काल और दिक् के द्वारा हम पदार्थों की गति और संयोग को अच्छी तरह समझ पाते हैं। काल और दिक् संसार के सभी पदार्थों की उत्पत्ति में निमित्त कारण हैं।

आत्मनिरूपण

"आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता कारणं हि सकर्तृकम् ।
शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः ॥
तथात्वं चेन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ।
मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ॥"

—मुक्तावलि

भावार्थ—आत्मा इन्द्रियों की अधिष्ठात्री है क्योंकि कारणों का कोई न कोई कर्ता (अधिष्ठाता) होता ही है। चेतनता शरीर का गुण नहीं है क्योंकि मरने पर शरीर में चेतना नहीं देखी जाती। यदि चेतना को इन्द्रियों का गुण मानें तो इन्द्रियों के उपघात होने पर इन्द्रियों द्वारा गृहीत वस्तुओं का स्मरण कैसे होगा। इसी प्रकार मन भी चेतन नहीं है। मन को चेतन मानने से मन के अन्दर रहने वाले ज्ञान, सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा क्योंकि वह स्वयं अणु परिमाण वाला है।

वक्तव्य—आत्मा नित्य द्रव्य है जिसमें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न धर्माधर्म, संस्कार आदि वक्ष्यमाण गुण निवास करते हैं। वह शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक् होकर एक स्वतन्त्र सत्ता धारण करने वाला द्रव्य है। आत्मा इन्द्रियों से सदा भिन्न रहता है। कभी हम एक वस्तु को अपनी आँखों से देखते हैं और रुचिकर होने पर अपने हाथों से उसे छूते हैं। इस क्रिया में हमारा ज्ञान यही रहता है कि वस्तु एक ही है। जिसे हम आँखों से देखते हैं उसे ही हम हाथ से छूते हैं। इन्द्रियद्वय-साध्य इस अनुभव में यदि आत्मा इन्द्रिय रूप ही होता तो वस्तु की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) कैसे सिद्ध की जाती। (न्या० सू० ३।१-१-३)। दाहिने हाथ से स्पृष्ट पदार्थ को बायें हाथ से स्पर्श करने पर उसकी एकत्व भावना का निराश नहीं होता (न्या० सू० ३।१।७)।

एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर पड़ता है। वृक्ष में लटकते हुए पके आमों को आँखें देखती हैं पर उसका प्रभाव पड़ता है जीभ पर, क्योंकि जीभ से पानी टपकने लगता है। यदि आत्मा इन्द्रियात्मक ही होता तो जीभ से पानी टपकने को हम किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। पानी टपकने का कारण यही हो सकता है कि पके आम को देखनेवाले व्यक्ति को पूर्वकाल में आस्वादित आम के स्वाद का स्मरण होता है (न्या० सू० ३।१।१२)। अतः

फलों के द्रष्टा तथा स्वाद के स्मरणकर्त्ता को एक होना न्यायसंगत है। पर इन्द्रियों में चैतन्य मानने से इस घटना की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती। क्योंकि अन्यों की दृष्ट वस्तु को दूसरा स्मरण नहीं करता। इन्द्रिय को आत्मा स्वीकार करने तथा उनके उपघात होने पर स्मृति की व्यवस्था हो नहीं सकती। अनुभव तथा स्मरण समानाधिकरणरूप से ही बिद्यमान रहते हैं। जो अनुभव कर्त्ता है, स्मरण कर्त्ता भी वही हो सकता है। ऐसी वस्तुस्थिति में चाक्षुस-प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत पदार्थ का चक्षु के नाश होने पर स्मरण न होना चाहिए। पर लोकानुभव नितान्त इसके विपरीत होता है। अतः इन्द्रियों को आत्मा मानना नितान्त असिद्ध है। कर्त्ता तथा करण की भिन्नता अनुभव सिद्ध है। लेखन का साधन (लेखनी) तथा लेखन का कर्त्ता (लेखक) दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। इसी प्रकार अनुभव के कर्त्ता (आत्मा) तथा अनुभव के साधन (इन्द्रियों) की भिन्नता ही प्रमाणसिद्ध है; अभिन्नता नहीं।

नित्य 'मन' को भी आत्मा मानने में विप्रतिपत्ति है। अणुरूप होने के कारण मन का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष में महत्त्व का कारण माना जाता है। ऐसी दशा में मन को यदि आत्मा मान लिया जाय तो उसमें विद्यमान सुख, दुःख इच्छा आदि की भी अप्रत्यक्षता होने लगेगी। पर अनुभव के विरुद्ध होने से इसे सिद्धान्त मानना अन्याय होगा। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय तथा मन इन तीनों से पृथक् चैतन्यताधिष्ठित द्रव्य की ही 'आत्मा' संज्ञा है।

"इन्द्रियार्थ प्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तिरस्य हेतुः" (वै० द० ३-१-२) अर्थात्—इन्द्रिय तथा उसके गन्धादि विषयों में 'यह घ्राण है' 'यह गन्ध है' इस प्रकार का ज्ञान इन्द्रिय तथा विषय से भिन्न प्रकार की सिद्धि में हेतु है। जैसे छेदन क्रिया के साधनमूल कुठारादिकों का प्रयोक्ता उससे भिन्न होता है वैसे ही ज्ञान के साधन-मूल घ्राणादि इन्द्रियों का प्रेरक उससे भिन्न है, क्योंकि जो प्रेरक है वह साधनों से भिन्न होता है यह नियम है। इस नियम के अनुसार जो घ्राणादि इन्द्रियों को गन्धादि विषयों में प्रेरित करता है उससे भिन्न पदार्थ है तथा वही 'आत्मा' है और जो गुण है वह द्रव्य के आश्रित होता है। 'द्रव्य को छोड़कर गुण कदापि नहीं रह सकता' इस नियम के अनुसार 'अयं घटः' 'इदं रूपं' इत्यादि ज्ञानों का आश्रय भी पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिए। क्योंकि पृथिवी आदि आठ द्रव्य तथा उनके कार्यभूत शरीर आदि उक्त ज्ञान के आश्रय नहीं हो सकते, इसलिये जो उक्तज्ञान का आश्रय द्रव्य है वही 'आत्मा' है। इससे आत्मा का यह लक्षण निष्पन्न हुआ कि "समवायेन ज्ञानाधिकरणमात्मा" अर्थात् जो समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का अधिकरण है उसको 'आत्मा' कहते हैं। विषयता सम्बन्ध से घटपटादि द्रव्य भी ज्ञान के अधिकरण हैं अतः इनमें आत्मलक्षण

की अति व्याप्ति के निवारणार्थ समवायेन पद का संनिवेश किया है, यद्यपि घट-पटादि विषय भी ज्ञान के अधिकरण हैं, किन्तु समवाय सम्बन्ध से नहीं अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं होती। वस्तुतः 'आत्मत्त्वजातिमान् आत्मा' अर्थात् जो आत्मत्व[1] जातिवाला है उसका नाम 'आत्मा' है अथवा "आत्मत्वाभिसम्बन्धा-दात्मा" (प्रशस्तपाद) ये लक्षण आत्मा के समीचीन हैं।

यह आत्मा इन्द्रियों तथा शरीर का चैतन्य सम्पादक होने से अधिष्ठाता कहलाता है। यदि नास्तिकों के समान शरीर में कर्तृत्व तथा चैतन्य मान लें तो मृतक में इसका व्यभिचार होता है, अर्थात् मृतक में कर्तृत्व तथा चैतन्य का अभाव होता है, अतः शरीर में चैतन्य प्राणाभाव से सिद्ध नहीं हो सकता। यदि 'शरीर चेतन है' ऐसा कहें तो शरीर के अवयवों का सदा उपचय तथा अपचय होते रहने से तथा उसके अन्दर सदा उत्पत्ति और विनाश होते रहने के कारण बाल्यावस्था में देखे हुए का बुढ़ापे में स्मरण नहीं होगा, क्योंकि बाल्यावस्था में जो शरीर था वह बुढ़ापे में नहीं रहता, परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः चेतनता जीवित शरीर का स्वाभाविक धर्म है। यदि चक्षुरादि इन्द्रियों को ही ज्ञानादि के प्रति कर्तृत्व मान लें तो 'साधक के अभाव से साध्य का अभाव होता है' इस नियम के अनुसार चक्षुरादि के अभाव में पूर्वदृष्ट पदार्थों के स्मरण का भी अभाव हो जायेगा, परन्तु ऐसा नहीं होता क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों से साक्षात् किये हुए पदार्थों का उनके अभाव में भी स्मरण होता है। दूसरा कारण यह है कि मन भी इन्द्रियों के समान करण है, करण से अतिरिक्त कर्त्ता होता है अतः मन चेतन नहीं है।

यहाँ स्मरण रहे कि जीव तथा ईश्वर के भेद से आत्मा का दो प्रकार है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों वाला नित्य ज्ञान का अधिकरण "ईश्वर" तथा सुख-दुख आदि ज्ञान का समवाय सम्बन्ध से अधिकरण—अल्पज्ञ, अल्पशक्ति-वाला तथा कर्मफल का भोक्ता "जीव" है। निष्कर्ष यह है कि अनित्य ज्ञान और इच्छा आदि का समवायिकारण 'जीव' तथा नित्यज्ञान और इच्छा आदि का अधिकरण 'ईश्वर' है।

परमात्मा का निरूपण

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं, नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥

—च० सू० १-५५

"शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः" अर्थात् शरीर और मन रोगों के आश्रय हैं और इन रोगों का ही फल सुख-दुःख है। धातुवैषम्य रूप

१—आत्मत्व का अभिप्राय है कि—"आत्मत्व समवायेन ज्ञानसुखाधिष्ठानत्त्वम्।"

विकार ही व्याधि है इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि ये विकार तथा इस विकार का फल सुख-दुःख सभी शरीर तथा मन को ही होते हैं, परमात्मा तो विकार रहित हैं। यह आत्मा, सत्त्व और शरीर से परे हैं अतः इसे परमात्मा कहते हैं। यह परमात्मा सत्त्व (मन), भूतगुण (पञ्चमहाभूतों के नैसर्गिक गुण शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) तथा इन्द्रियों (पञ्च-ज्ञानेन्द्रियों) से संयुक्त होने पर (राशि-पुरुष में) चैतन्य उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा चेतन है पर इसके चेतन का प्रकाश तभी होता है जब वह मन, इन्द्रियों, तथा इन्द्रियों के अर्थ या भूतगुण शब्दादि से संयुक्त होता है। इसी से चरक-शारीर प्रथम-अध्याय में कहा है कि "आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानत्वस्य प्रवर्तते" अर्थात् आत्मा ज्ञ है पर इसका ज्ञान इन्द्रियों के सम्पर्क से ही प्रकाशित होता है।

चेतन के भाव को चेतना या चैतन्य कहते हैं। चेतना स्वयं प्रकाशरूपा—पर-प्रकाशनीय है। सत्त्वादि के योग से आत्मगत चेतना प्रकाशित होती है, जैसे—राशिपुरुष में प्राणोन्मेषनिमेषादि आत्मलक्षण हम तभी देखते हैं जब वह राशि-पुरुषगत आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा भूतगुण शब्दादि विषयों के सम्पर्क में होता है। यह परमात्मा नित्य और द्रष्टा है अतः जगत् के सभी कार्यों को देखता रहता है। यह परमात्मा सत्त्व तथा शरीर से परे होने पर भी सत्त्व तथा शरीर के सम्पर्क में आता है और राशिपुरुष में चैतन्य का कारण बनता है अतः यह परमात्मा जीवात्मा ही है। इस प्रकार आत्माश्रित इन्द्रियों द्वारा विषय के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आत्मा के स्वरूपभूत ज्ञान से भिन्न है। क्योंकि इस ज्ञान में प्रथम आत्मा का मन के साथ संयोग होता है; उसके अनन्तर आत्मसंयुक्त मन का इन्द्रियों के साथ और मनःसंयुक्त इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान होता है, यह ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम है। ये मन आदि सब जड़ होने के कारण विषयों में प्रवृत्त नहीं हो सकते किन्तु आत्मा के प्रयत्न से प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार का आत्मा द्वारा विषयों में प्रेरित हुए, मन, इन्द्रियादि को "आत्मा-धिष्ठित" या "आत्माश्रित" कहते हैं। आत्माश्रित हुए प्रत्येक घ्राणादि इन्द्रियों का प्रत्येक गन्धादि विषयों के साथ संयुक्त, संयुक्त समवाय आदि सन्निकर्ष से जो विषय का अनुभव (ज्ञानप्रत्यगात्मा) विषय साक्षी जीवात्मा में समवाय सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न होता है, वह जन्य होने के कारण जीवात्मा के स्वरूप-ज्ञान से भिन्न है। अर्थात् कूटस्थ नित्य जीवात्मा का स्वरूप भूत ज्ञान इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से भिन्न है और जन्यज्ञान वाला होने के कारण जीवात्मा चेतन नहीं किन्तु चिद्रूप होने से चेतन और जन्यज्ञान का साक्षी या द्रष्टा है। इस अभिप्राय से उपर्युक्त श्लोक में आत्मा को द्रष्टा अर्थात् सब क्रियाओं को देखनेवाला कहा गया है।

वाचस्पति मिश्र ने भी योगसमाधिपाद सूत्र ४ के भाष्य का विवरण करते हुए कहा है कि—"चैतन्यन्तु पुरुषस्य स्वभावो न तु ख्यातेः" अर्थात् जीवात्मा का स्वरूपभूतज्ञान इन्द्रियजन्यज्ञान से भिन्न है अर्थात् वृत्ति ज्ञानजन्य होने के कारण जीवात्मा का स्वरूप कदापि नहीं हो सकता और उसका स्वरूप न होने से वह आधुनिक नैयायिकों के मतानुसार पाषाण समान जड़ भी नहीं है, क्योंकि चिद्रूप होने से वह स्वतः प्रकाशवान् है। केवल मन आदि के सम्बन्ध से उसमें इन्द्रियजन्यज्ञान का व्यवहार होता है अर्थात् "ज्ञानाधिकरणमात्मा" आत्मा इन्द्रियजन्यज्ञान का अधिकरण है, इस प्रकार का व्यवहार पाया जाता है, वस्तुतः वह उस ज्ञान का साक्षी (स्वयं प्रकाश चिद्रूप) है, इसी से चैतन्य पुरुष का स्वरूप है, ऐसा कहा गया है।

'चैतन्यस्वभावता हि स्वयं प्रकाशता" अर्थात् चैतन्य स्वरूप ही स्वयं प्रकाश होता है। जिस प्रकार प्रकाशस्वरूप सूर्यादि तैजस पदार्थों में प्रभा तथा प्रकाशवान् का व्यवहार होता है इसी प्रकार चित्स्वरूप आत्मा में भी चैतन्य अर्थात् ज्ञान का गुण-गुणी भाव से व्यवहार औपचारिक है, वस्तुतः यह चैतन्यस्वरूप है। महर्षि कणाद के इस सिद्धान्त को न समझकर नव्यन्यायवाले केवल मन के सम्बन्ध से आत्मा में ज्ञान मानते हैं और सुषुप्त आदि अवस्था में उसका अभाव होने से आत्मा को पाषाण समान कथन करते हैं। इसी अभिप्राय से श्रीभाष्याचार्य कहते हैं कि "तस्मात्तत्त्वात्मानं प्रति स्वसत्तयैवसिद्धयन्नजड़ोऽहमर्थ एवात्मा।" अर्थात् परप्रकाश्य अनात्म पदार्थों की भाँति प्रकाश्यरूप न होने के कारण स्वसत्ता से ही अस्तित्ववाला 'अहम्' पद का वाच्यार्थ आत्मा जड़ नहीं किन्तु चिद्रूप है और इसी अभिप्राय से महर्षि कपिल ने "जड़व्यावृत्तो जड़ं प्रकाशयति चिद्रूपः" (सां० ६-५०) में स्पष्ट किया है कि प्रकृति तथा प्रकृति के विकार दोनों से भिन्न उनका प्रकाशक पुरुष चिद्रूप है।

केवल दर्शनों के अनुयायी लोगों का ही यह सिद्धान्त नहीं है अपितु औपनिषदीय वाक्यों में भी आत्मा का चिद्रूप होना प्रतिपादन किया गया है। जैसे—"अत्राय पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति न विज्ञातुर्विज्ञाने विपरिलोपो विद्यते, अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा, कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः, एष हि द्रष्टा-श्रोता-रसयिता-घ्राता-मन्ता-बोद्धा-कर्ता-विज्ञानात्मा पुरुषः" अर्थात् जीवात्मा सुषुप्ति आदि अवस्था में स्वयं ज्योति—प्रकाशरूप होता है। उसके स्वरूपभूतज्ञान का कदापि लोप नहीं होता। जो गन्धादि विषयों के ज्ञानवाला है वही 'आत्मा' है और वही प्राणादि के मध्य विज्ञानस्वरूप हृदय-स्थायी अन्तर्ज्योति कहलाता है और जब आत्मा रूपादि विषयों को जानता है तब उसको द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, घ्राता, मन्ता, बोद्धा तथा कर्त्ता कहते हैं। वस्तुतः वह

विज्ञानस्वरूप कूटस्थ है। इससे सिद्ध है कि स्वयं प्रकाश आत्मा ही सब का साक्षी होने से ज्ञाता है।

भाव यह है कि यद्यपि वैदिक सिद्धान्त में जीवात्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान-गुण-वाला नहीं तथापि उसमें मोक्ष पर्यन्त मन का सम्बन्ध बने रहने से 'गन्धोऽयं' 'रसोऽयं' 'गन्धमनुभवामि' इत्यादि व्यवहार का प्रयोजक इच्छादि के समान सूर्य में प्रभा की तरह ज्ञान गुण भी विद्यमान रहता है, जिससे उसकी सिद्धि में कोई बाधा नहीं होती। जैसा कि—"इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः" इस सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। उक्त रीति से कणाद, गौतम आदि के अनुयायी आत्मा में ज्ञान-गुण को स्वीकार करते हैं और कपिलादि दर्शन कार अयस्कान्तमणि की सन्निधि से लोहे में क्रिया की भाँति, आत्मा की सन्निधि से अन्तःकरण में ज्ञान की उत्पत्ति मानकर आत्मा में उसका औपाधिक व्यवहार कथन करते हैं। कणाद आदि ऋषियों का यह अभिप्राय है कि आत्मा की समीपता होने पर भी मन में ज्ञान की योग्यता न होने से मन संयुक्त आत्मा में ही "अयंघटः" घटमहंजानामि" इत्यादि ज्ञान उत्पन्न होता है और जैसे अपनी आत्मा की सिद्धि में प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों लिङ्ग होते हैं वैसे ही अन्य शरीरवर्ती आत्मा की सिद्धि में भी लिङ्ग है। "प्रवृत्ति-निवृत्ति च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम्" (वै० द० ३, १, २०)

चिकित्साशास्त्रोपयुक्त पुरुष, जीवात्मा, संयोगपुरुष, कर्मपुरुष, राशिपुरुष, सगुण-आत्मा आदि का निरूपण—

चिकित्स्यपुरुष

"सत्त्वमात्माशरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।
स पुमांश्चेतनं तच्च तस्याधिकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ।।

—च० सू० १।४५-४६

खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः ।
पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ।।

—च० शा० १।१५-१६

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद्योगधरं परम् ।
चतुर्विंशक इत्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः ।।

—च० शा० १-३४

"अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते । तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम् ।" —सु० सू० १-१८

"न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञाः नित्याश्च, असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषख्यापकान् हेतूनुदाहरन्ति ।" "आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञाः नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेहेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमित्तम् त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वताः लोहितरेतसोः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति । स एषः कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः ।। —सु० शा० १-१६-१७

अर्थ—सत्त्व (मन), आत्मा (चेतना धातु) और शरीर (पाञ्चभौतिक) इन तीनों के संयोग से त्रिदण्ड के समान यह लोक (पुरुष) स्थित है । उसी को पुमान् (पुरुष), चेतन और अधिकरण कहा गया है । उसी पुरुष (चिकित्स्य) के लिये वेद का यह उपवेद (आयुर्वेद) प्रकाशित किया गया है, (च० सू० १-४५-४६) । खादि अर्थात् आकाश, पवन, दहन, तोय और पृथिवी तथा छठवाँ चेतना धातु ये सब मिलकर 'पुरुष' कहलाता है । पुनः वह (पुरुष) धातु भेद से चतुर्विंशतिक (२४ तत्त्ववाला) कहा गया है। जिसमें मन, दशेन्द्रियाँ, अर्थ (पञ्च महाभूत) तथा अव्यक्त, महान्, अहंकार और पञ्चसूक्ष्मभूत (तन्मात्रायें) ये आठ प्रकृतियाँ (सब मिलकर २४) हैं । बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन और अर्थ तथा इनके योग को धारण करनेवाली आत्मा इस प्रकार जो २४ तत्त्ववाला यह है वह 'राशिपुरुष' कहलाता है । (च० शा० १) ।

इस (आयुर्वेद) शास्त्र में पञ्चमहाभूत और शरीरि (आत्मा) इन ६ तत्त्वों के समवाय को 'पुरुष' कहते हैं । इस पुरुष की चिकित्सा की जाती है और यही पुरुष चिकित्सा-कर्मफल का आश्रय है, (सु० सू० १) । आयुर्वेद-शास्त्र में क्षेत्रज्ञ सर्वगत नहीं कहे जाते, परन्तु नित्य कहे जाते हैं और असर्वगत क्षेत्रज्ञों में ही (आयुर्वेद के ऋषि) पुरुष—नित्यता दर्शक हेतु बतलाते हैं । आयुर्वेद के सिद्धान्त में अणुरूप (असर्वगत) और नित्य पुरुष (क्षेत्रज्ञ) । धर्माधर्म के कारण तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि और दैवयोनि में संचार करते हैं । ये अनुमान ग्राह्य, अत्यन्तसूक्ष्म, सचेतन और नित्यपुरुष शुक्रशोणित संयोग से प्रकट होते हैं । इसीलिये पहले कहा है कि पञ्चमहाभूत और आत्मा के संयोग को ही पुरुष कहते हैं और यही 'कर्मपुरुष' चिकित्सा का अधिकरण होता है ।

वक्तव्य—आयुर्वेद में सांख्यशास्त्रानुसार क्षेत्रज्ञ सर्वगत न होने पर भी नित्य कहा गया है और सर्वगत पुरुष की तरह ही उसके नित्यत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। सांख्यशास्त्र में पुरुष विभु, अनेक और नित्य माना गया है। पुरुष के नित्यत्त्व का जहाँ तक सम्बन्ध है योगादि शास्त्र भी (अन्य दर्शन भी) एकमत हैं, परन्तु अनेकत्व और विभुत्व ये लक्षण परस्पर विरोधी होने के कारण सब दर्शनों का इनके सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है। यदि पुरुष को विभु मानें तो उसमें उत्क्रान्ति, गति, आगति इत्यादि गमन कार्य नहीं हो सकते। इसलिये विभु पुरुष एक ही होगा। यदि पुरुष विभु और एक हो तो प्रत्येक शरीर में एक पुरुष स्थित होंगे और प्रत्येक जीव को संसार के जितने जीव हैं उनके अनुभव होने लगेंगे। परन्तु इस प्रकार का ज्ञान या अनुभव नहीं होता, इसलिये पुरुष या तो विभु और एक है या अविभु और अनेक है। इसी विरोध को दूर करने के लिये अन्य दर्शनों में उक्त दोनों गुणों में किसी एक को हटा देते हैं। वेदान्त पुरुष को विभु और एक मानता है और उसके अनेकत्व को घटाकाश, मठाकाशवत् औपाधिक मानता है। "एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥" "एकस्तथा भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव" (उपनिषद्)। इत्यादि वर्णन मिलता है।

महर्षि सुश्रुत पुरुष का 'अनेकत्व' प्रतिपादन करते हैं अतः 'असर्वगता' ऐसा विशेषण दिया है। चरकाचार्य पुरुष को एक और विभु मानते हैं। जैसे—"अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः। विभुत्वमतएवास्य यस्मात् सर्वगतो महान्॥" (च० शा० १)। आत्मा को विभु मानने के कारण समस्त संसार में क्या हो रहा है इसका ज्ञान तथा प्रत्येक जीव के सुख-दुःख का अनुभव प्रत्येक जीव को होना चाहिये, यह आक्षेप उत्पन्न होता है। इसका समाधान यों करते हैं कि यद्यपि पुरुष विभु है तथापि इसको इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान की उपलब्धि होती है। "आत्माज्ञःकरणैर्योगाज्ज्ञानंत्वस्य प्रवर्तते। करणानाम-वैमल्यादयोगाद्वा न प्रवर्तते॥ देही सर्वगतो ह्यात्मा स्वे-स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये। सर्वाः सर्वास्ववस्थासु नाऽत्मातो वेत्ति वेदनाः॥ नित्यानुबन्धं मनसा देह-कर्मानुपातिना। सर्वयोनिगतं विद्यादेकयोनावपि स्थितम्।" (च० शा० १)

पुरुष का परिमाण—मध्यम, विभु और अणु ये तीन परिमाण हो सकते हैं। (१) **मध्यम परिमाण** का अर्थ है कि जिस शरीर में पुरुष रहता है वह उसे पूर्ण व्याप्त करता है अतः वह शरीर परिमाण भी कहलाता है। जैन दार्शनिक इस मत का प्रतिपादन करते हैं परन्तु इसके मानने में यह आपत्ति उत्पन्न होती है कि 'पुरुष' ऐसी अवस्था में भिन्न-भिन्न योनियों में कैसे भ्रमण कर सकता है अर्थात् कर्मफल के अनुसार मनुष्य से हाथी में, हाथी से चींटी में इत्यादि। इसलिये

आत्मा का परिमाण मध्यम नहीं माना जा सकता। इसीसे ब्रह्मसूत्र में लिखा है "एवं चात्माऽकार्तस्न्यम्" (ब्र० सू० १-२-३४)। इसके भाष्य में श्री शंकराचार्य लिखते हैं—"शरीराणां चानवस्थितपरिमाणत्वान्मानुष्यजीवो मनुष्यशरीर-परिमाणो भूत्वा पुनः केनचित् कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्ति-शरीरं व्याप्नुयात्। पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिकाशरीरे संमीयेत्। समान एष एकस्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थविरेषु दोषः॥" (२) **विभु परिमाण पुरुष** में पूर्वदेह परित्याग, अपरदेह गमन, परलोक गमन इत्यादि गति-वाचक कर्म प्रयुक्त होते हैं। अतः वह विभु नहीं हो सकता। "उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम्" (ब्र० सू० २-३-१९) इस सूत्र के भाष्य में शंकर लिखते हैं—उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रवणानि तु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति। आसां उत्क्रान्ति गत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छन्नास्तावज्जीव इति प्राप्नोति। न हि विभो-श्चलनमवकल्प्यत इति॥" सुश्रुत में इसी कारण से पुरुष को असर्वगत (अविभु) कहा गया है। (३) **अणुपरिमाण**—यदि पुरुष मध्यम तथा विभु परिमाण नहीं है तो अणुपरिमाण होना चाहिये। इसके समर्थन में निम्न वाक्य मिलते हैं—"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्राय कल्पते।" (श्वेताश्वतरोपनिषद्)। तथा—"सति च परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्यार्हतपरीक्षायां निरस्तत्वादणुरात्मेति गम्यते॥" (ब्र० सू० शंकर भाष्य)

आत्मा के अणुत्व और नित्यत्व के हेतु—आयुर्वेद-शास्त्र में जो सिद्धान्त ग्रहण किये गये हैं उनके अनुसार यहाँ पर जो योनियों के तीन प्रकार प्रदर्शित किये हैं (तिर्यग्योनिमानुषदैवेषु) उनमें सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि का समावेश हो जाता है। इनमें पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप और स्थावर भेद से तिर्यग्योनियाँ पाँच तरह की होती हैं। ब्राह्मण्य, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस और पैशाच भेद से दैवयोनि आठ तरह की होती है। मनुष्य योनि केवल एक तरह की होती है। "अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योन्यश्च पञ्चधा भवति। मानुषिकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः" (सां० का० ५३)। इस संचरण में तीन प्रकार की गतियाँ होती हैं। (१) उत्क्रान्ति—एक देह का त्याग, (२) गति—परलोक गमन और (३) आगति—दूसरे जन्म में प्रवेश। ये तीनों गतियाँ एक पुरुष के सम्बन्ध में होती हैं, जिससे इसका नित्यत्व सिद्ध होकर विभुत्व नष्ट हो जाता है। एक जन्म से दूसरे जन्म में प्रवेश करते समय पुरुष अपने साथ पूर्वजन्म के संस्कारों को ले जाता है, जिनके कारण बालक जन्म लेते ही स्तनपान की अभिलाषा करता है, कुछ लोग बुद्धिमान् होते हैं, कुछ मन्दबुद्धि होते हैं, कुछ धार्मिक होते हैं, और कुछ लोभी तथा तामसी इत्यादि होते हैं। न्यायदर्शन में पुरुष-नित्यत्व की सिद्धि इन

उदाहरणों से की गई है—"पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः" (३१-१-१९)। "प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्" (३-१-१२)। "वीतरागजन्मादर्शनात्" (३-१-२५)। धर्माधर्मनिमित्तम्—शुभ, पुण्य या सात्त्विक कर्मों के द्वारा देवयोनि में, अशुभ, पाप या तामस कर्मों के द्वारा तिर्यक्योनि में और संमिश्र कर्मों के द्वारा मनुष्य योनि में पुरुष को जन्म मिलता है।

धर्म से जिनमें पुण्यकर्म की अधिकता हो ऐसे कर्म, अधर्म से जिनमें पापकर्मों की अधिकता हो ऐसे कर्म और धर्माधर्म से जिनमें दोनों प्रकार के कर्मों की प्रायः तुल्यता हो ऐसे कर्म समझें। भगवद्गीता तथा मनुस्मृति में भी इस तरह के वर्णन मिलते हैं—"यदासत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ (भगवद्गीता १४-१४)। "रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते। तथा प्रलीनस्तमसि मूढ़ योनिषु जायते॥ ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः मध्ये तिष्टन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ देवत्त्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्त्वं तु राजसाः। तिर्यक्त्वं तामसानित्यमेषा विविधागतिः" (मनु० १२-४०)। अनुमानग्राह्याः—पुरुष अत्यन्त सूक्ष्म और अणु प्रमाण होने के कारण प्रत्यक्ष चर्मचक्षुओं से ग्रहण नहीं हो सकता परन्तु उनके और लक्षणों से अप्रत्यक्षतया उसकी उपलब्धि होती है। इसीसे सांख्यकारिका में कहा है कि "सौक्ष्म्यादनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः" (सां० का० ८)। परमसूक्ष्मा—श्वेताश्वतरोपनिषद् के वाक्यों से पुरुष के सूक्ष्मतत्व का प्रतिपादन कर चुके हैं। "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः।"

सगुण आत्मा का निरूपण

"तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति, तदञ्जनत्वात्तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्ति इत्येके भाषन्ते॥"

सु० शा० १-९

अर्थ—कारणानुरूप कार्य हुआ करता है इस न्याय के अनुसार ये सम्पूर्ण विशेष त्रिगुणात्मक होते हैं। तदञ्जन और तन्मय होने के कारण पुरुष त्रिगुणात्मक ही होते हैं, ऐसा कई आचार्य कहते हैं।

वक्तव्य—सांख्यदर्शन के सत्कार्यवाद के सिद्धान्तानुसार कारण के अनुरूप ही कार्य हुआ करते हैं। विशेष—इसका सामान्य अर्थ पञ्चमहाभूत है। "तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः। एते स्मृताः विशेषाः शान्ता मूढ़ाश्च घोराश्च॥" (सां० का० ३८)। परन्तु यहाँ पर महदादि विशेषभूतपर्यन्त सब तत्त्व इससे अभिप्रेत हैं। कारण यह है कि जैसे आकाशादि

पञ्चमहाभूत त्रिगुणात्मक हैं, वैसे ही बुद्धि, अहंकार और एकादश इन्द्रियाँ भी त्रिगुणात्मक हैं। संक्षेप में विशेष शब्द यहाँ पर 'व्यक्त' का पर्याय है। 'तद्गुणा एव पुरुषाः'—पुरुष निर्गुण है इसका उल्लेख सर्वत्र मिलता है। परन्तु वह भी तद्गुण अर्थात् प्रकृतिगुणयुक्त त्रिगुणात्मक हो जाता है, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है। इस मत के समर्थन में वे दो कारण बतलाते हैं। (१) 'तदञ्जनत्वात्' अर्थात् प्रकृति से लिप्त होने के कारण। अञ्जन का अर्थ है लेप या अपद्रव्य की मिलावट। पुरुष स्वयं त्रिगुणातीत होने पर भी प्रकृति से लिप्त होने के कारण त्रिगुणात्मक हो जाता है। जैसे दर्पण स्वच्छ होते हुए भी लाल फूल की सन्निधि से लाल हो जाता है तथा मुख स्वयं स्वच्छ होते हुए भी मलिन दर्पण के कारण मलिन दिखाई देता है। इसीलिए सांख्यसूत्र में लिखा है—"न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृतेः" (७-१९)। इस सूत्र के प्रवचन में विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—"यथा स्वभावशुद्धस्य स्फटिकस्य रागयोगो न जपायोगं विना घटते, तथैव नित्यशुद्धादिस्वभावस्य पुरुषस्योपाधि-संयोगं विना दुखसंयोगो न घटते।" इसी दृष्टि से उपाधिविरहित अर्थात् पुरुष या आत्मा निरञ्जन कहलाता है। "अयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तः निरञ्जनो विभुरित्यादि।" (श्रुति)। "निष्फलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्" (श्वेताश्वतरोपनिषद्)। परन्तु केवल संयोग या उपाधि पुरुष में त्रिगुणात्मकता प्राप्त होने के लिये पर्याप्त नहीं है। क्योंकि तत्त्वाभास से जब पुरुष को केवल ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह पूर्ववत् त्रिगुणातीत होने पर भी प्रकृति की उपाधि में शरीर नाश होने तक रहता है। (सां० का० ६४-६७)

पुरुष को त्रिगुणात्मक बनाने के लिये केवल उपाधि पर्याप्त नहीं होती, इसलिये दूसरा हेतु तन्मयत्व बतलाया गया है "तन्मयत्वाच्च"—तद्रूप होना, समरस होना, अभेदभाव से रहना, अपने को भूल जाना अर्थात् आशक्ति आदि को तन्मयता कहते हैं, जैसे कामी पुरुष स्त्री के साथ तन्मय होकर अपने पुरुषत्व को भूल जाता है, उसी प्रकार पुरुष बुद्ध्यादि के साथ तन्मय होकर अपने त्रिगुणातीतत्वादि को भूल जाता है और त्रिगुणातीत होने पर भी त्रिगुणात्मक हो जाता है। पुरुष-तन्मयत्व से यहाँ बुद्ध्यादिमयत्व समझना चाहिये। बुद्धि, अहंकार आदि में तन्मयता होने से पुरुष अपने को ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता, इत्यादि मानता है, यद्यपि वास्तव में वह इससे विपरीत है—"नहि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति। बुद्ध्युपाधिधर्माध्याससनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारिकत्वम् कतरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सतः आत्मनः" (शंकरभाष्य)। "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैःकर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा

कर्ताऽहमिति मन्यते ।। प्रकृते गुणसंमूढ़ाः सज्जन्ते गुणकर्मसु । पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।" (भगवद्गीता) । यह बुद्धयादिमयत्व पुरुष में प्रतिबिम्बरूपेण होता है, वास्तव में नहीं।

राशिपुरुष का निरूपण

बुद्धि, दशेन्द्रियाँ, मन, अर्थ एवं पञ्चमहाभूत के संयोग को शरीर कहते हैं और इस शरीर को धारण करनेवाला परम योगधर अर्थात् अव्यक्त आत्मा है, जो शरीर से अतिरिक्त है । इस प्रकार महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्च-महाभूत, दशेन्द्रियाँ, मन तथा अव्यक्त सन्निरुद्ध आत्मा ये चौबीस तत्त्ववाला पुरुष, 'राशि-पुरुष' कहलाता है । इसी को धातुभेद से 'चतुर्विंशतिक पुरुष' कहा गया है । जिसमें मन, दशेन्द्रियाँ तथा पन्चमहाभूत ये षोडश विकार हैं और अव्यक्त, महान्, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राएँ ये आठ प्रकृतियाँ हैं । इन (षोडश विकार तथा अष्ट प्रकृति मिलाकर) २४ तत्त्वों वाला पुरुष 'चतुर्विंशतिक पुरुष' तथा 'राशिपुरुष' कहलाता है । यह राशिपुरुष अनित्य है क्योंकि यह हेतुज है—"पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः" अर्थात् राशि-संज्ञक पुरुष तो मोह, इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुआ कर्मज है । तात्पर्य यह है कि पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ संस्कारों को लेकर जो आत्मा तिर्यग्, मानुष तथा देवयोनियों में उत्पन्न होता है, उस आत्मा को 'राशिपुरुष' कहते हैं । इसी का प्रतिपादन न्यायदर्शन में "पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः" (न्या० द० ३।२।६४) इस सूत्र में किया गया है । इच्छा, द्वेष और मोह ये तीन प्रवर्तना लक्षण दोष कहलाते हैं । "तत् त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तर भावात्" (न्या० द० ४।१।३) अर्थात् इन दोषों की तीन राशियाँ या तीन पक्ष हैं। जैसे—(१) रागपक्ष—काम-मोह-मत्सर-स्पृहा-तृष्णा और लोभ । (२) द्वेषपक्ष—क्रोध-ईर्ष्या-असूया-द्रोह और अमर्ष । (३) मोहपक्ष—मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा-मान और प्रमाद (वात्स्यायन) । इस प्रकार पूर्वजन्मकृत उक्त राग, द्वेष और मोह के कारण दैव, मानुष और तिर्यग्योनि में जो आत्मा जन्म लेता (सञ्चरण करता) है वह कर्मज-आत्मा 'राशिपुरुष' कहलाता है । इस स्थूल शरीर के नष्ट होने के बाद यह आत्मा (राशिपुरुष) अपने पूर्व कर्मों के अनुसार लिंग शरीर से युक्त विविध योनियों में भ्रमण करता है । "अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः । न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहंकार-विकार दोषैः ।" (च० शा० २-३६) अर्थात् आत्मा मोक्षप्राप्ति के पूर्व अतीन्द्रिय, अतिसूक्ष्म रूप, उन भूतों से कभी भी वियुक्त नहीं होता । साथ ही अपने पूर्वकृत कर्मों—मन, बुद्धि एवं अहंकार के विकारों से भी विमुक्त नहीं होता । इस प्रकार उक्त

अनुबन्धों के कारण ही आत्मा इस आवागमन के फेर में पड़ा रहता है। "गति-प्रवृत्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म।" (च० शा० २-३७)।

देहातिरिक्त आत्मा के सद्भाव का निरूपण

"करणान्यान्यता दृष्टा कर्ता भोक्ता स एव तु ।
कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम् ।।"
अहंकारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः ।
विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा ।।
निमेषकालाद्भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्ययः ।
भग्नानां च पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च ।।
मतंतत्त्वविदामेतत् यस्मात्तस्मात् स कारणम् ।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुषसंज्ञकः ।।

—च० शा० १

उपस्कार टीका—देहव्यतिरिक्तचेतनाभ्युपगमे तु सर्वमुपपद्यते तदेव दर्शयितुमाह—कर्तुः करणानां अन्यान्यता दृष्टा। लोके एकस्य कर्तुरनेकानि करणानि दृश्यन्ते। यथा एकस्य सूत्रधरस्य वाद्यादीनि अनेकान्यस्त्राणि। कर्ता तु स एव। न तु भिद्यते। स एकः कर्ता करणैरनेकैर्युक्तः सन् काष्ठपाटन-लौहघटनादि नानाकर्म करोति। करणानां परिणामितया भिद्यमानत्वेऽपि आत्मा पुनः अपरिणाम एकः। स विविधैः करणैरिन्द्रियादिभिर्युक्तः सन् दर्शन-स्पर्शनादि नानाकर्म करोति। तस्मात् देहव्यतिरिक्त चेतन्नभ्युपगमे कृतकर्मणः फलभोक्तृत्वं बाल्ये दृष्टस्य यौवने स्मरणं सव्यदृष्टस्य इतरेण प्रत्यभिज्ञानं च इत्यादि सर्वत्रमुपपद्यते। तत्र करणभेदेऽपि कर्तुरभिन्नत्वात्।

तदेवाह—निमेषकालादिति। कालः भावानां अत्यये नाशे। यावता कालेन संयुक्तयोरक्षिपक्ष्मणोः विभागःस्यात् स निमेषकालः। तस्मादपि शीघ्रतरः। भावाः निमेषकालादपि शीघ्रतरं परिणमन्ते। भग्नानां करचरणादीनां पुनर्भावः पुनः संरोहणम्। अन्येन कृतंकर्म न अन्यं उपैति शुभाशुभफलैः अन्यं योजयति। यः करोति स एव तत्फलं भुंक्ते इति नियमः। यस्मात् एतत् सर्वं तत्वविदां मतम्। अयमाशयः—भूतानां परिणामितया प्रतिमुहूर्तभेदात् भूतसंघात्मको देहोऽपि न पूर्वपरयोरेकः देहव्यतिरिक्त चेतनाभ्युपगमे अन्यकृतस्य फलं अन्य-स्तत्सदृशः भुङ्क्ते। इत्थं च कर्मफलेन कर्तुरसंबन्धात् अकर्तुश्च संबन्धात् कृतहानमकृताभ्युपगमश्च प्रसज्येत। अभ्युपगमे तु नैव दोषः स्यात्। किं च जीवनं कार्यं वृद्धिक्षतसंरोहणादिकं अचेतनेष्वदृष्टं दाहादन्यं चेतनमनुमापयति।

यस्मात् भग्नानां पुनर्भावः अन्यकृतं न अन्यमुपैति इति नियमः। तस्मात् भूतानां क्रियोपभोगे कारणं कृतकर्मणः फलभोक्ता। स देहव्यतिरिक्तः नित्यः पुरुषसंज्ञकः चेतनोऽस्ति।

देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावमुपपादयति––अहंकार इति। भूतानां देहमन्तरा अन्तरेण देहादन्यस्मिन्कारणे आत्माख्ये सति अहंकारादिकं विद्यते संभवति। अहं जानामि अहं पश्यामि इत्यादि प्रयोगात् आत्मा हि अहंकारास्पदं। गौरोऽहं स्थूलोऽहं इत्यादि प्रयोगस्तु औपचारिकः। कर्म कर्मानुष्ठानं। लोकः फलमभिसंधाय कर्म करोति। देहात्मवादे अन्यस्य फलभोक्तृत्वात् कर्तुः कर्मानुष्ठाने प्रवृत्तिरेव न स्यात्। फलं कृतकर्मणः फलभोगो न संभवति। कर्तृभोक्तृभिन्नत्वात्। देहान्तरगतिः देहात् देहान्तरगमनं। स्मृतिरिति। देहात्मवादे बाल्यदशायामनुभूतस्य यौवने स्मरणं न स्यात्। बाल्ययौवनयोः शरीरभेदात्। नान्यं दृष्टं अन्यः स्मरति। तदुक्तं 'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः' इति। देहव्यतिरिक्त चेतनाभ्युपगमे हि तत् सर्वमुपपद्येत।

अर्थ––इन्द्रियों की अन्यान्यता स्पष्ट है अर्थात् ज्ञान के द्वार––इन्द्रियाँ अनेक हैं, यह प्रत्यक्ष है। परन्तु कर्ता तथा भोक्ता वही एक (आत्मा) है। इस प्रकार सब कर्मों का कारण ९ इन्द्रियों (करणों) से युक्त कर्ता (आत्मा) ही है। भावों के नाश में निमेषकाल से भी शीघ्रतर काल कारण है। भग्न स्थानों का पुनः संरोहण हो जाता है, दूसरे के किये हुए कर्मों का फल दूसरा नहीं भोगता। इन सब कारणों से तत्त्वविद् पुरुषों का मत है कि वह (आत्मा) ही उक्त भूतों के क्रियोपभोग में कारण है। वह आत्मा नित्य और पुरुष संज्ञक है। अहंकार, कर्म, कर्मफल, देहान्तरगमन, स्मृति इत्यादि देहव्यतिरिक्त चेतना (आत्मा) के कारण ही होते हैं। अतः आत्मा देह से अतिरिक्त है, यह सिद्ध है।

वक्तव्य––यह स्पष्ट है कि एक ही मनुष्य के अनेक इन्द्रियाँ हैं और वह उन इन्द्रियों द्वारा शब्द-स्पर्शादि विषयों का ग्रहण करता है। जिस प्रकार एक योद्धा अपने अनेक अस्त्रों से अनेक कार्यों को सिद्ध करता है तथा एक मजदूर (कर्ता) अपने अनेक हथियारों से काठ काटना, वस्त्र फाड़ना, लोहे को मोड़ना आदि अनेक कार्यों का सम्पादन करता है उसी प्रकार एक कर्ता (आत्मा) अपने विविध इन्द्रियों से शब्द-स्पर्शादि विषयों का ग्रहण करता है। जिस प्रकार अस्त्र भिन्न-भिन्न कार्यों को सिद्ध करने के लिये बदलते रहते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करने के लिये भिन्न-भिन्न हैं, अर्थात् परिणामी हैं। परन्तु कार्यकर्ता एक ही अपरिणामी (नहीं बदलने वाला) है। अतः करणों (साधनों तथा इन्द्रियों) के अनेक भेद होने पर भी आत्मा एक और अपरिणामी है। यही आत्मा सब कर्मों को करने के कारण कर्ता और कृतकर्मों का फल

भोगने के कारण भोक्ता कहलाता है। जितने समय में हमारी आँखों की पलकें परस्पर संयुक्त हो सकती हैं उसको निमेष कहते हैं। काल नित्यग है। भावों के नाश में यह काल उक्त निमेष से भी शीघ्रतर है अर्थात् भावों का परिणाम निमेष से भी शीघ्रतर होता है। भग्न हुए हाथ-पाँव आदि अवयवों का पुनः संधान तथा संरोहण हो जाता है। अन्य के किये हुए कर्मों का फल अन्य नहीं भोगता। ये सब घटनाएँ तत्त्वज्ञानियों को संकेत करती हैं कि भूतों के क्रियोपभोग में देहातिरिक्त और कोई कारण है। यह कारण वह नित्यपुरुषसंज्ञक आत्मा है।

परमात्मा अनादि और नित्य है

प्रभवो न ह्यनादित्त्वाद्विद्यते परमात्मनः।

—च० शा० १-५२

अनादिपुरुषोनित्यः विपरीतस्तु हेतुजः।
सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा॥

—च० शा० १-५८

उपस्कार टीका—परमात्मनः न हि प्रभवः कारणं विद्यते। कस्मात्? अनादित्वात्। राशिपुरुषस्य तु विद्यते। अनादिः अकारणवान्। पुरुषः परमात्मा नित्यः। हेतुजः कारणजन्यः। मोहेच्छाद्वेषकर्मजः पुरुषो राशिसंज्ञकः, विपरीतः तद्विपरीतः अर्थात् अनित्यः। नित्यानित्ययोर्लक्षणमाह—सदिति। यत् सत् अकारणवच्च तत् नित्यं दृष्टं नित्यमाख्यायते। न कारणवत् अकारणवत्। अनेन कारणजन्यघटपटादीनां व्यवच्छेदः। तथापि प्राग्भावे अतिव्याप्तिस्यादिति? अत आह सदिति। सत् सत्तायोगी त्रिविधसमयेऽपि प्रमाणगम्याभावरूपं। तेन प्राग्भावस्य अकारणवतोऽपि अभावरूपतया अनित्यत्वं न व्यभिचारकम्। एतदुक्तं कणादेनापि—"सदकारणवन्नित्यं" इति (वै. द. ४।१।१)। यत् हेतुजं कारणजन्यं तत् अन्यथा अर्थात् अनित्यं। अकारणत्वात् परमात्मनो नित्यत्वं। राशिपुरुषस्य च अनित्यत्वं कारणजन्यत्वात्। राशिपुरुषस्य यदनित्यत्वमुच्यते तत् आत्मवर्ज्यानां तत् घटपटपदार्थानामिति बोद्धव्यम्।

अर्थ—परमात्मा अनादि है अतः इसका प्रभव या कारण (उत्पन्न करनेवाला) कोई नहीं है। यह अनादि और कारणरहित परमात्मा नित्य है। जो हेतुज अर्थात् मोहेच्छा-द्वेष आदि कर्मों के कारण उत्पन्न होता है वह परमात्मा से विपरीत धर्मवाला होने के कारण सादि और अनित्य है। जो सत् और कारण रहित होता है वह नित्य और जो इसके विपरीत असत् और कारणवान् है वह अनित्य होता है, जैसे—घटपटादि। इस प्रकार मोहेच्छा-द्वेष से उत्पन्न होनेवाला जीवात्मा (राशिपुरुष) हेतुज होने के कारण अनित्य और सादि है।

महर्षि कणाद ने भी कहा है—भावरूप कारण से रहित जो नित्य पदार्थ है वही जगत् का मूलकारण है।

वक्तव्य—उपर्युक्त श्लोकों में परमात्मा का अनादित्व और नित्यत्व तथा कर्मपुरुष या राशिपुरुष का सादित्व और अनित्यत्व सिद्ध किया गया है। इस सम्बन्ध में महर्षि कणाद का भी मत है कि जिसकी उत्पत्ति का कारण न हो, जो सब का मूल कारण हो, उसका नाम 'अकारणवत्' है, जो भावरूप, अकारणवत् तथा परिणामी—नित्य है वही जगत् का मूलकारण है और उसी का नाम 'प्रकृति' है। इसी भाव को "मूलेमूलाभावादमूलं मूलम्" (सां० १।६७) इस कारिका द्वारा कपिल मुनि ने प्रतिपादन किया है। जिसका कोई मूल कारण नहीं और जो सब का मूलकारण (उपादान कारण) अनादि भावरूप है वही महत्तत्वादि सब कार्यों (पदार्थों) का परम कारण 'प्रकृति' है। तात्पर्य यह है कि पृथिवी आदि पदार्थों के मध्य जो अनादि भावरूप सब कार्यद्रव्यों का परम सूक्ष्म समवायि कारण है उसको 'प्रकृति' कहते हैं और वह यद्यपि अनादि है तथापि जड़ होने के कारण आत्मा तथा ईश्वर (परमात्मा) से भिन्न है, उसका कोई कारण नहीं, प्रत्युत वह सब पृथिवी आदि कार्यद्रव्यों का मूलकारण होने से 'अकारणवत्' तथा अभाव से भिन्न होने के कारण 'सत्' और एक रूप को त्याग कर दूसरा रूप धारण करने के कारण तथा सर्वथा स्वरूप से प्रच्युत होने के कारण परिणामी नित्य है।

इस उद्धरण में परमात्मा के अकारणवत् होने से अनादित्व और अनादि होने से उसका नित्यत्व प्रतिपादन किया गया है। प्रकृति 'अकारणवत्' तथा 'नित्य' होने पर भी परिणामी है, परन्तु परमात्मा अकारणवत्, नित्य और अपरिणामी है। प्रकृति जड़ है और परमात्मा चेतन है (इसका अधिक विवेचन प्रकृति-पुरुष विवेचन में देखें)। इस प्रकार परमात्मा का अनादित्व और नित्यत्व सिद्ध है। इसके विपरीत जो मोह, इच्छा, द्वेष आदि कर्मों के फलस्वरूप जीवात्मा या कर्मपुरुष भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेता रहता है वह हेतुज होने से सादि तथा अनित्य है। इस कर्मपुरुष को प्रारब्ध-कर्मफल भोगने के अतिरिक्त छुटकारा नहीं होता। पराशर ने कहा है—"शरीराम्भक कर्म योगिनोऽयोगिनोऽपि च। बिना फलोपभोगेन नैव नश्यत्यसंशयम्॥ वर्तमानशरीरेण सम्पन्नं कर्मदेहिनः। इह वाऽमुत्रवाऽप्यस्य ददाति स्वफलं शुभे॥ प्रारब्धशेषं विच्छिन्नं पुनर्देहान्तरेण तु। भुङ्क्ते देही ततो भुङ्क्ते तल्लंघयति कः पुमान्।" वह कर्म-फल कभी एक जन्म में ही समाप्त हो जाता है, कभी अनेक जन्मों की आवश्यकता होती है। "अवश्यमनुभोक्तव्यं प्रारब्धस्य फलं जनैः। देहेनैकेन वाऽन्येन युगपद्वाक्रमेण वा॥" (पराशर)। इस पौर्वदैहिक कर्म के कारण आत्मा (जीवात्मा या कर्मपुरुष) सदा बन्धन में पड़ा रहता है और एक शरीर से दूसरे

में जन्म लेता (गमन करता) रहता है। इस पूर्वकर्म की कल्पना अब आधुनिक भी मानने लगे हैं—"The individual never being other than what he has made himself in the course of his evolution by the immense series of representatives, he has gone through, it follows that every thing that is within his field of consciousness is his own doing, the fruit of his own efforts, his own sufferings and his own joys. Every act even every desire and inclination, has an inevitable reaction in one or other of his existence".

(*G. Gabg-from the unconsciousness to consciousness.*)

आत्मा के लक्षण और गुण

प्राणापानौनिमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः ।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत् ।।
देशान्तरगतिःस्वप्ने पंचत्वग्रहणं तथा ।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ।।
इच्छाद्वेषःसुखंदुःखं प्रयत्नश्चेतनाधृतिः ।
बुद्धिस्मृत्यहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः ।।

—च० शा० १

"तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौबुद्धिर्मनः संकल्पो विचारणास्मृतिविज्ञानमध्यवसायोविषयोपलब्धिश्च गुणाः।" —सु० शा० १

"इच्छाद्वेषप्रयत्न सुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति ।।"—न्या०.द० १।१।१०

"प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छा प्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि । —वे० द० ३-२-४

उपस्कार टीका—प्राणापानौ इत्यादि । प्राणापानादीनि परस्य देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः लिंगानि । प्राणापानादिभिः देहव्यतिरिक्तश्चेतनोऽनुमीयते । तथा च शरीरान्तश्चारिणि समीरणे प्राणापानलक्षणे ऊर्ध्वाधोगतौ प्रयत्नं बिना अनुपपद्यमाने यस्य प्रयत्नात् भवतः स नूनमात्मा। निमेषाद्या इति। आद्यशब्देन उन्मेषादीनां ग्रहणं । निमेषाः अक्षिपक्ष्मणोः संयोगजनकं कर्म । विभागजनकं च उन्मेषः । निमेषोन्मेषौ निरन्तरमुपपद्यमानौ प्रयत्नं बिना नोपपद्यते । यथा दारुपुत्रनर्तनं कस्यचित् प्रयत्नेन तथा अक्षिपक्ष्मवर्तनमपि । निमेषोन्मेषाभ्यां प्रयत्नवान् कश्चित्—अनुमीयते । स च आत्मा । जीवनपदेन तत्कार्यं वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादिकं लक्ष्यते । यथा गृहपतिभग्नस्य गृहस्य निर्माणं करोति । क्षुद्रं

गृहं वा वर्धयति । तथा देहस्य अधिष्ठाता आहारादिना देहस्य उपचयं करोति, भेषजादिना भग्नं-क्षतं वा करचरणादिकं संरोहयति । एवं हि गृहपतिरिव देहस्याप्यधिष्ठाता सिध्यति । वृद्धिक्षतसंरोहणादेः जीवच्छरीरे दर्शनात् मृतशरीरे चादर्शनात् । जीवितमरणयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः गमकत्वम् । मनसः गतिः अभिमतविषये गमनं । इन्द्रियान्तरसंचारः । एकमिन्द्रियं परित्यज्य अन्यस्मिन् संचरणं मनसः । प्रेरणं इन्द्रियाणां विषयेषु । धारणं देहस्य उपष्टम्भः । इन्द्रियान्तरसंचार इत्यत्र कणादवचने इन्द्रियान्तरविकार इति पाठः । एवमेवाह गौतमोऽपि "इन्द्रियान्तरविकारात् ।"

—न्या० द० ३।१।१२

कस्यचिदम्लरसस्यफलस्य रूपे गन्धे वा चक्षुषा घ्राणेन वा गृह्यमाणे इन्द्रियान्तरस्य रसनस्य विकारो भवति । तद्रसस्मरणादम्लोदक संप्लवो जायते । इन्द्रिय चैतन्ये शरीरेचैतन्ये वा नाऽयमिन्द्रियान्तरविकार उपपद्यते । नान्यदृष्टमन्यः स्मरति । तेन देहव्यतिरिक्तश्चेतनः अनुमीयते । स्वप्ने देशान्तरगतिः देशान्तरगमनं । पञ्चत्वग्रहणं मरणं । दक्षिणेनाक्षणा चक्षुषा दृष्टस्य सव्येन वामेन अक्ष्णा अवगमः प्रत्यभिज्ञा । यमद्राक्षं तमेतर्हि पश्यामीति । इन्द्रियचैतन्ये तु नान्यदृष्टमन्यः प्रत्यभिजानाति इति प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिः । अस्ति तु इदं प्रत्यभिज्ञानं । तेन देहव्यतिरिक्तश्चेतनः सिध्यति । गौतमेनाप्युक्तं "सव्यदृष्टस्य इतरेण प्रत्यभिज्ञानात्" इति (न्या० द० ३।१।७) । इच्छा—स्वार्थपरार्थं वा प्राप्तुं प्रार्थना । द्वेषः—आत्मनः प्रज्वलितत्त्वमिति । सुखदुःखे आत्मनः अनुकूल प्रतिकूलवेदनीये । प्रयत्नः—संरम्भः—उत्साहः । चेतना—चैतन्यं । धृतिः—धैर्यम् । बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् । स्मृतिः—अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः" इति (पातञ्जलि समाधि—११) इन्द्रियाणां देहस्य वा चैतन्ये न स्मृतिः उपपद्यते । नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः इति । सत्यात्मनि तूपपद्यते तदुपदर्शितं प्राक् । प्राणापानादीनि आत्मनो लिंगानि । तदुक्तं कणादेनापि ।

अर्थ—प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर संचार या विकार, प्रेरणा, धारण, स्वप्न में देशान्तर गमन, मरण, दाईं आँख से देखे हुए का वाईं आँख से ग्रहण या ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धैर्य, बुद्धि, स्मृति, अहंकार, मनःसंकल्प, विचारणा, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि ये सब पुरुष के गुण और लिंग (चिह्न) हैं ।

वक्तव्य—मुख तथा नासिका (श्वास) के द्वारा फुफ्फुस के भीतर जानेवाली वायु (Inspiration) का नाम प्राण और मल-मूत्र को नीचे की ओर ले जानेवाली वायु का नाम अपान है । प्राण के विरुद्ध बाहर जानेवाली वायु को (Expiration) चक्रपाणिदत्त अपानवायु कहते हैं—"प्राणापानौ

उच्छ्वासनिःश्वासौ ।" गीता में भी इसी अर्थ का समर्थन किया गया है—"प्राणापानौ समौकृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ" (भगवद्गीता ५।२।७) । दोनों नेत्रों के पक्ष्म-संयोग के हेतु-व्यापार का नाम 'निमेष' और विभाग हेतु-क्रिया का नाम 'उन्मेष' है। अर्थात् आँखों के पलक बन्द करने और खोलने के कर्म को 'निमेष' और 'उन्मेष' कहते हैं । शरीर की वृद्धि, ह्रास तथा व्रणरोपणादि के जीवनहेतु-क्रिया का नाम 'जीवन' है । और तत्तत् इन्द्रिय-प्रदेश में ज्ञान हेतु सम्बन्ध के प्रयोजक मनोव्यापार का नाम 'मनोगति' है । एक इन्द्रिय को छोड़कर दूसरी इन्द्रिय में मन के संचार को 'इन्द्रियान्तरसंचार' और नारंगी आदि फलों को देख कर उनके पूर्वानुभूत रस की स्मृति से मुख में होनेवाले लालास्राव रूप रसना के विकार का नाम 'इन्द्रियान्तर विकार' है । इन्द्रियों को उनके विषयों में प्रेरित करने को 'प्रेरण' कहा है। शरीर का धारण करने से 'धारण' है । स्वप्न में भिन्न-भिन्न देशों में गमन करना तथा पञ्चत्व अर्थात् मृत्यु का ग्रहण, ये सब देहातिरिक्त आत्मा के अस्तित्व के लक्षण हैं । इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि दाईं आँख से देखे हुए पदार्थ का बाईं आँख से ज्ञान हो जाता है । यह भी देहातिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का लक्षण है । धर्मजन्य अनुकूल ज्ञान के विषय का नाम 'सुख' और अधर्मजन्य प्रतिकूल ज्ञान के विषय का नाम 'दुःख' है ।

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये संकल्प का नाम 'इच्छा' और क्रोध का नाम 'द्वेष' है । योगसूत्र में—"सुखानुशयी रागः", "दुखानुशयी द्वेषः" अर्थात् सुख-दुःख के पीछे पड़ने से ही इच्छा और द्वेष उत्पन्न होते हैं । कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म करने की प्रवृत्ति को 'प्रयत्न' कहते हैं । चैतन्य को 'चेतना' कहते हैं । धैर्य, बुद्धि, उपलब्धि तथा ज्ञान ये पर्याय शब्द हैं । इन्द्रियों के द्वारा भूतकाल में हुए ज्ञान का पुनः उदय होना 'स्मृति' है । 'मैं हूँ' इत्यादि अहंभाव का होना 'अहंकार' है । संकल्पात्मक मानसिक कार्य 'मनःसंकल्प' है । कोई वस्तु इस प्रकार की है, इस कार्य को इस प्रकार करना चाहिए, इस प्रकार के विचार को 'संकल्प' कहते हैं । ऊहापोहात्मक वस्तुविमर्श अर्थात् युक्तायुक्त प्रमाणों के द्वारा परीक्षण करना 'विचारणा' है । यही काम करना चाहिये इस प्रकार का निश्चय 'अध्यवसाय' कहलाता है । इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियार्थों का ज्ञान होना 'विषयोपलब्धि' है । उपर्युक्त सभी देहातिरिक्त पुरुष के लक्षण और गुण हैं ।

सुश्रुत में पुरुष के सोलह गुण बताये गये हैं । जैसे—सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अपान, उन्मेष, निमेष, बुद्धि, मनःसंकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि । चरक ने पुरुष के २२ लक्षण बताये हैं। उपर्युक्त सोलह तथा बाईस गुण या लक्षण जब किसी शरीर में मिलते हैं,

तब उस शरीर को 'सजीव' और जब नहीं मिलते तब 'मृत' (निर्जीव) कहते हैं। यह सजीव और मृत-अवस्था पुरुष के शरीर में अधिष्ठान होने और न होने पर होती है। इसलिये ये पुरुष के गुण और लक्षण कहे जाते हैं। भाव यह है कि उक्त प्राण आदि कर्म या लक्षण किसी प्राणी के अन्दर तभी देखे जाते हैं जब उसके अन्दर आत्मा होती है। आत्मविहीन पदार्थों के अन्दर तथा आत्मरहित मानव-शरीर में भी (मृतक में) ये लक्षण नहीं दीख पड़ते; अतः ये लक्षण देह के अतिरिक्त आत्मा के ही हैं।

आत्मा का सत्व, मन, बुद्धि और दशेन्द्रियों के योग से ज्ञान की प्रवृत्ति

आत्मा ज्ञःकरणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते ।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न प्रवर्तते ।।
पश्यतोऽपि यथादर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम् ।
यद्वज्जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ।।

—च० शा० १

उपस्कार टीका—आत्मा ज्ञः। करणैः योगात्—करणानि इह मनोबुद्धीन्द्रियाणि तेभ्य ज्ञानं प्रवर्तते। ननु यद्ययमात्मा ज्ञः तत् किमिति अस्य सर्वदा ज्ञानं न भवति? इत्याह—करणानामित्ति। करणानां अवैमल्यात् अनिर्मलत्वात् दुष्टियुक्तत्वात् अयोगाद्वा ज्ञानं न प्रवर्तते। तदेव सोदाहरणमाह—पश्यतोऽपि चक्षुष्मतोऽपि संक्लिष्टे मलिने आदर्शे दर्पणे यथा दर्शनं नास्ति। यद्वत् कलुषे जले दर्शनं नास्ति तथा चेतसि उपहते। चेतसि इति करणानामुपलक्षणम्। ते चक्षुरादावप्युपहते न प्रवर्तते।

अर्थ—आत्मा ज्ञ है। करणों के संयोग से उसे ज्ञान होता है। यहाँ करण शब्द से मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों का ग्रहण है। यदि आत्मा ज्ञ है तो उसे सर्वदा ज्ञान क्यों नहीं होता? इसके समाधान के लिये कहा गया है कि करणों के निर्मल न होने से तथा उनका सम्पर्क न होने से ज्ञान नहीं होता। जैसे मलिन दर्पण में देखने पर भी रूप का दर्शन नहीं होता, तथा कलुषित जल में प्रतिबिम्ब नहीं दृष्टिगोचर होता, उसी प्रकार मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के विकृत होने से तथा अयोग से आत्मा को ज्ञान नहीं होता।

वक्तव्य—सुश्रुत शारीरस्थान चतुर्थ अध्याय में स्वप्न का वर्णन करते हुए कहा गया है—"करणानां तु वैकल्ये तमसाऽभिप्रवर्द्धते। अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते।।" अर्थात् तम द्वारा इन्द्रियों की विकलता होने पर न सोता हुआ भी जीवात्मा सोया हुआ-सा कहा जाता है। आत्मा स्वयं निर्विकार होने के कारण उसके ऊपर न तो तम का प्रभाव पड़ता है और न उसमें निद्रा की विकृति ही

उत्पन्न हो सकती है। परन्तु व्यवहार में आत्मा सोता है, ऐसा कहते हैं। यह कहना इसलिये ठीक है कि आत्मा जब शरीर में बद्ध होता है, तब उसका ज्ञान तथा बोध इन्द्रियों के ऊपर निर्भर करता है। जब इन्द्रियाँ नहीं होती तब आत्मा को ज्ञान नहीं होता और जब इन्द्रियाँ विकृत होती हैं तब भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार जब मन तथा इन्द्रियाँ तम द्वारा आवृत होती हैं तब आत्मा प्रसुप्त हो जाती है। न्याय-भाष्य में इसका सुन्दर वर्णन इस प्रकार है कि—"आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन ततो ज्ञानम्।"

मन का निरूपण

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च ।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते ।।
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते ।।

—च० शा० १

"आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्यभावोऽभावश्च मनसो लिंगम्।"

—वै० द० ३।२।१

"युगपज्ज्ञानानुत्पतिर्मनसो लिंगम्।" —न्या० द० १।१।१६

"आत्मनः करणादीनामिन्द्रियाणां शब्दादिविषयाणां च सद्भावेऽपि कदाचित् कुत्रचिद्विषये ज्ञानं भवति न भवति चेति दृश्यते, तेन इमौ ज्ञानस्य भावाभावौ कारणान्तरं सूचयतः यच्च तदेव मनः।" **(चक्रः)**

अर्थ—आत्मा को श्रोतादि इन्द्रियों और शब्दादि विषयों से सम्बन्ध होते हुए भी कभी किसी विषय का ज्ञान होता है और कभी नहीं भी होता। यह ज्ञान का होना या न होना किसी कारणान्तर को सूचित करते हैं। यही कारणान्तर मन है। यह मन जब इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है तो इन्द्रियाँ अपने अर्थों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। अर्थात् मनः सान्निध्य से ज्ञान होता है और असान्निध्य से ज्ञान नहीं होता।

वक्तव्य—'मन्-ज्ञाने' धातु से मन शब्द बनता है, (मन्-बोधे, दिवा०, आत्म, सकर्मक, अनिट। मन्यते ज्ञायते अनेन इति मनः) ज्ञान का न होना अथवा होना ही मन के अस्तित्व का लक्षण है। यह तो नित्य का अनुभव है कि जब अपना चित्त किसी गम्भीर विचार में मग्न रहता है तब पास रखी हुई घड़ी का टिक्-टिक् शब्द सुनाई नहीं देता और न इस बात का ज्ञान ही होता है कि सामने से गुजरता हुआ व्यक्ति कौन है। वास्तव में देखा जाय तो घड़ी की आवाज की लहरें उस समय भी श्रवणेन्द्रिय तक पहुँचती रहती हैं और सामने से गुजरनेवाले व्यक्ति का प्रतिबिम्ब भी नेत्रगत आदर्श पटल पर पड़ता रहता है और आत्मा का

सान्निध्य भी रहता ही है। फिर भी उस समय उन इन्द्रियों में चित्तवृत्ति का अभाव होने (मन का सान्निध्य न होने) के कारण न तो टिक्-टिक् शब्द सुनाई देता और न गुजरते हुए व्यक्ति का ही ज्ञान होता है। किन्तु जब मन का सान्निध्य (मन की वृत्तियाँ ज्ञानेन्द्रियों में संचार करती हैं) होता है तभी ज्ञान होता है।

एक काल में होनेवाले सम्बन्ध का नाम युगपत् सम्बन्ध है। जब आत्मा के प्रयत्न से घ्राणादि-इन्द्रियों का गन्धादि विषयों से युगपत् सम्बन्ध होता है तब किसी एक विषय का ज्ञान होने पर भी अन्य विषय का ज्ञान नहीं होना अर्थात् गन्ध ज्ञान काल में रस-ज्ञान तथा रस-ज्ञान काल में गन्ध-ज्ञान का अभाव होता है। इस प्रकार आत्मा का सब इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर भी जिसके सम्बन्ध से ज्ञान होता है, तथा न होने से नहीं होता वही द्रव्य ज्ञान के हेतु सम्बन्ध का प्रयोजक 'मन' है।

भाव यह है कि आत्मा तथा मन आदि का परस्पर सम्बन्ध होने से ही ज्ञान होता है, इसीलिये कहा है—"अन्यत्र मना अभूवं नाश्रौषम्" अर्थात् मेरा मन अन्य विषय में लगा हुआ था इसलिये आपके वचन को नहीं सुना। इस प्रकार का अनुभव प्रतिदिन होता रहता है। वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है—"अन्यत्र मना अभूवं नादर्शम्, अन्यत्र मना अभूवं नाश्रौषमिति, मनसा ह्येषः पश्यति मनसा शृणोति" इत्यादि। इसीलिये चरक में कहा है—"मनः पुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। तत् (मनः) अर्थात्मसंपदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्" (च० सू० ८)। अर्थात् मन के साथ सम्बद्ध होने पर ही इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इस मन की क्रिया भी अर्थसम्पत् में आयत्त रहती है और यह मन इन्द्रियों की चेष्टा में कारण है। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि—"चक्षुः पश्यतिरूपाणि मनसा न च चक्षुषा। मनसा व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति॥ यथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते। न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मनएवात्र पश्यति।" (म० भा० शान्ति०) इन सब उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का सब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने पर भी एक काल में एक विषय का ज्ञान होना तथा दूसरे विषय का न होना मन की सिद्धि में लिंग है।

सार यह निकला कि मन वह द्रव्य है जिसके कारण इन्द्रिय सम्बन्ध से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले ज्ञानों में क्रम उत्पन्न होता है। जैसे तन्तु आदि कारणों के होने पर भी तुरी-वेमादि के न होने से पट की उत्पत्ति नहीं होती इसी प्रकार आत्मा-इन्द्रिय और अर्थ इनके सम्बन्ध होने पर भी जिसके न होने से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता उसे 'मन' कहते हैं। "आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्षः कार्योत्पत्तौ कारणान्तर सापेक्षः सत्यपि यस्मिन् कार्यानुत्पादात् तन्त्वादिवत्, अत्र यदपेक्षणीयं करणान्तरं

तन्मनः ॥" तथा—"सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूतोत्पत्ति-दर्शनात् करणान्तरमनुमीयते। श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात् बाह्येन्द्रियै-रग्रहीतसुखादिग्राह्यान्तरभावाच्चान्तःकरणम्" (प्रशस्तपाद)। जिस प्रकार बाह्य विषयों के ज्ञान के लिये कर्ता, आत्मा बाह्यकरण की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार स्मृत्यादि अन्तःकार्यों के लिये कर्ता-आत्मा को अन्तःकरण—'मन' की अपेक्षा होती है।

"सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनं मनः" अर्थात् जो सुख-दुःख-आदि के साक्षात्कार या उपलब्धि का साधन है वह मन है। "उभयात्मकं मनः" (सु० शा० १)। सुश्रुत में मन की गणना इन्द्रियों के अन्दर करते हुए इसे उभयात्मक अर्थात् कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय दोनों में गिना है। इसका अभिप्राय यह है कि मन कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों है। अन्य इन्द्रियों के साथ सात्त्विक (उत्कट सत्त्वप्रधान) अहंकार से इसकी उत्पत्ति सांख्य में बताई गई है अतः मन इन्द्रिय कहलाता है। "इन्द्रियं च साधर्म्यात्" (सां० का० २७) इस कारिका की टीका में वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि—"इन्द्रियान्तरैः सात्त्विकाहंकारोपादानत्वं च साधर्म्यं, नत्विन्द्रियलिंगत्त्वम्, महदहंकारयोरपि आत्मलिंगत्त्वेनेन्द्रियप्रसंगात्, तस्मात् व्युत्पत्तिमात्रमिन्द्रियलिंगत्त्वं न तु प्रवृत्तिनिमित्तम्।" कई स्थलों में मन का बुद्धीन्द्रियों के साथ वर्णन मिलता है। जैसे—"षडिन्द्रियप्रसादनः" (च० सू० २९)। "तत्र मधुरो रसः षडिन्द्रियप्रसादनः (सु० सू० २९)। "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति" (भगवद्गीता १९-७)। इस प्रकार मन को बुद्धि इन्द्रियों के साथ गिना गया है तथा कई स्थलों में उसे छठा इन्द्रिय कहा गया है। इसका कारण यह है, कि ज्ञानेन्द्रियों के साथ इसका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। ज्ञानेन्द्रियाँ अपने अर्थ को तभी ग्रहण करती हैं, जब वे मन में अधिष्ठित होती हैं। "मनो व्याकरणात्मकं" (महाभारत)। बुद्धि-इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान के सम्बन्ध में वकील की तरह अमुक ऐसा है (संकल्प) और अमुक ऐसा नहीं है (विकल्प) इत्यादि सारासार-विचार बुद्धि के सामने कार्याकार्य निर्णय के लिये व्यवस्थित रूप से रखने का काम मन का है और बुद्धि के द्वारा निर्णय प्राप्त होने पर उसके अनुसार कर्मेन्द्रियों के द्वारा काम कराने का कार्य मन ही करता है। इस तरह विस्तार और व्यवस्था करने का कार्य व्याकरण कहलाता है और यह कार्य मन द्वारा सम्पन्न होता है। इसीलिये मन को व्याकरणात्मक कहा है।

वाचस्पति मिश्र ने इसका समर्थन इस प्रकार किया है कि—"बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च, चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोधिष्ठातानामेव स्व-स्वविषयेषु प्रवृत्तेः"। चरक में उपर्युक्त विचार परम्परा संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णित

है—"इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते। कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा ॥ जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका। व्यवस्यति तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्। (च० शा० १)। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिभा, स्वप्न और ऊहा (तर्क-वितर्क) की शक्ति वाले द्रव्य को मन बतलाया है, परन्तु अक्षपाद स्वयं इस विवरण में न जाकर—"एक समय अनेक ज्ञानों का उत्पन्न न होना" मन की सत्ता-का लिंग बतलाते हैं।

मन का स्वरूप—स्वभाव से मन प्रभास्वर (निर्विकार) है, (उसमें पाये जानेवाले) मल आगन्तुक (आकाश में अन्धकार-कुहरा आदि की भाँति अपने से भिन्न) है। (प्रमाण वार्तिक)।

मन भौतिक है या नित्य द्रव्य? इस सम्बन्ध में नैयायिक तथा वैशेषिक (गौतम और कणाद) कहते हैं कि मन भौतिक नहीं है। मन एक स्वतंत्र नित्य द्रव्य है। सांख्य तथा योग (कपिल तथा पतञ्जली) में मन को आहंकारिक माना गया है। इसे सात्त्विक तथा राजसिक अहंकार से उत्पन्न मानते हैं। अद्वैतवादी (वेदान्ती) मन को पाञ्चभौतिक मानते हैं। पञ्च महाभूतों में वायु का अंश इसमें अधिक होता है ऐसा इनका मत है।

मन का अणुत्व तथा एकत्व

"अणुत्वमथचैकत्वं द्वौगुणौ मनसः स्मृतौ।"

—च० शा० १

उपस्कार टीका—**अणुत्वमिति। मनसः द्वौ गुणौ। अणुत्वं एकत्वं च। ज्ञानस्यभावाभावाभ्यां अनुमितं तच्च अणु। प्रतिशरीरं एकं च। मनसो महत्त्वे एकदा सर्वेन्द्रियव्याप्तात् नानात्वे च अनेकैरिन्द्रियैः सन्निकर्षाद् युगपज्ज्ञानानि उत्पद्येरन्। तच्च न भवति। तस्मात् मनः एकं अणु च। ज्ञानायौगपद्यात् मनसः एकत्वं अणुत्वं च सिध्यति। उक्तं च गौतमेन—'ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः" इति (न्या० द० ३।२।६०)। वैशेषिकेऽपि—"प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौपद्याच्चैकं इति (वै० द० ३।२।३)। "अयौगपद्याज्ज्ञानान्तं तस्याणुत्त्वमिहेष्यते" इति (विश्वनाथकारिका ३८५)। न च दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ नानेन्द्रियज्ञानात् ज्ञानयौगपद्यमिति वाच्यम्। तत्राऽपि क्रमोऽस्ति। स च विद्यमानोऽपि मनसः आशुसंचारात् उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत् न गृह्यते। तत्र यौगपद्यप्रत्ययस्तु भ्रान्त एव।**

अर्थ—मन अणुपरिमाण तथा एक है। अतः अणुत्व तथा एकत्व ये मन के दो गुण कहे गये हैं। यह मन प्रतिशरीर में एक और अणु परिमाण का होता है।

यदि मन को महत् और अनेक मानें तो व्यापक तथा अनेक इन्द्रियों से एक साथ सम्पर्क होने के कारण एक समय में अनेक होने लगेंगे। परन्तु ऐसा नहीं होता अतः मन एक और अणु परिमाण है। महर्षि गौतम ने भी एक समय में एक ही ज्ञान होने के कारण मन को एक माना है और इसीका समर्थन कणाद ने भी किया है। एक समय में एक ही प्रयत्न तथा ज्ञान होने से अर्थात् प्रयत्न तथा ज्ञान के अयौगपद्य से मन को एक माना है। विश्वनाथ ने कारिकावली में ज्ञानों के एक कालिक न होने के कारण मन को अणुपरिमाण कहा है। कभी-कभी एक समय में ही दीर्घशष्कुली-भक्षण में गन्धादि अनेक विषयों का ज्ञान होने की जो भ्रान्ति होती है वह मन के शीघ्र संचार के कारण होती है। जैसे एक सूआ सौ कमलपत्रों को यद्यपि क्रमशः भेदन करता है पर ऐसा मालूम पड़ता है कि उसने एक समय में ही भेदन किया है।

वक्तव्य—सब अवयवों में प्रयत्न तथा सब विषयों में ज्ञान समान काल में नहीं होते किन्तु भिन्न-भिन्न काल में होते हैं। यदि प्रत्येक शरीर में मन अनेक होते तो उनका प्रत्येक अवयव तथा प्रत्येक इन्द्रिय के साथ संयोग होने से एक काल में ही अनेक प्रयत्न तथा अनेक ज्ञान उत्पन्न होते, परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि मन प्रतिशरीर में एक है अनेक नहीं, अर्थात् एक कार्य में व्याप्त पुरुष की क्रिया का अन्य कार्य में अभाव और पहले कार्य को समाप्त करके दूसरे कार्य में क्रिया का सद्भाव होता है। इसी प्रकार एक विषय के ज्ञान-काल में अन्य विषयक ज्ञान का अभाव तथा पहले ज्ञान के समाप्त होने से अन्य विषय में ज्ञानान्तर का सद्भाव पाया जाता है। यदि प्रत्येक शरीर में मन अनेक होते तो ऐसा नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि वह प्रतिशरीर में एक है, अनेक नहीं।

यह मन आत्मा के सदृश महान् अर्थात् सर्वदेहव्यापक नहीं है, अपितु 'अणु' है। अणु होने के कारण वह एक ही समय में समस्त इन्द्रियों में संचार नहीं कर सकता जैसा कि उक्त उदाहरणों से भी सिद्ध होता है। यदि इसमें यह कहा जाय कि 'किसी फल को खाने के समय उसके स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, कुरमुर शब्द आदि का जो ज्ञान होता है यह उसके महान् अथवा अनेक होने का परिचायक है, तो उसका उत्तर यह है कि मन अणु और एक होते हुए भी बड़ा चंचल है। उसकी—चपलता के कारण ही उक्त सब प्रकार का ज्ञान एक ही काल में होने का भास होता है। वस्तुतः उक्त ज्ञान एक के बाद दूसरे क्रमशः होते हैं पर उनके काल का व्यवधान इतना सूक्ष्म होता है कि भ्रमवश उनके एक साथ ही ज्ञान होने की प्रतीति होती है। जैसे १०० कमल के पत्तों को यदि किसी सूए से वेधन किया जाय तो स्थूल दृष्ट्या देखने से प्रतीत होगा कि यह एक ही बार में सब को छेद कर निकल आया है पर ऐसा नहीं होता। एक पत्र के छेदन के अनन्तर ही

दूसरे पत्र का छेदन होता है। इस छेदन काल में इतना सूक्ष्म अन्तर होता है कि साधारणतया उसका भान भी नहीं होता।

नैयायिक तथा वैशेषिक भी मन को 'अणु' तथा एक मानते हैं। परन्तु सांख्य, योग, मीमांसक तथा नागेश भट्ट मन को विभु मानते हैं।

मन की चार वृत्तियाँ हैं, जैसे (१) संशयशीला, (२) निश्चयात्मिका, (३) गर्वात्मिका और (४) स्मरणात्मिका। इनमें संशयशीला को विशिष्ट मन, निश्चयात्मिका को बुद्धि, गर्वात्मिका को अहंकार और स्मरणात्मिका को चित्त भी कहते हैं।

मन के विषय तथा कर्म

"चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्पमेव च ।
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥
इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः ।
ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते ॥"

—च० शा० १

उपस्कार टीका—मनसो विषयमाह । चिन्त्यमिति । चिन्त्यं—यत् मनः नानाविषयगतं चिन्तयति । विचार्यं—गुणतो दोषतो वा यत् विवेच्यते । ऊह्यं—तर्क्यं । ध्येयं—यत् एकाग्रेणमनसा भाव्यते । संकल्प्यं—मनसा यत् सम्यक् कल्प्यते कर्तव्याकर्तव्यत्वेन अवधार्यते । अनुक्तसंग्रहार्थमाह—यत्किंचिदिति । एवं अन्यत् यत्किंचित् मनसोज्ञेयं मनसाग्राह्यं सुखदुःखेच्छाद्वेषादिकं तत् सर्वं अर्थसंज्ञकम् । सर्व एव ते मनसोऽर्थाः उच्यन्ते । मनसोविषयमक्त्वा कर्म आह—इन्द्रियेति । इन्द्रियाणां अभिग्रहः—यथास्वं विषयेषु प्रेरणं । तथा अस्य मनसः निग्रहः अहितात् नियमनम् । ऊहः—शास्त्रेणाचोदितार्थस्य युक्त्या विमृश्यास्थापनम् । विचारः । चकारात् ध्यानसंकल्पादीनां संग्रह । एतत् सर्वं मनसः कर्म । ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते । बुद्धिरिहमनोबुद्धिः ।'

अर्थ—चिन्ता, गुणागुण का विचार, तर्क, ध्यान, संकल्प तथा मन के द्वारा अन्य ज्ञेय सुखदुःखादि ये सब मन के विषय हैं। इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में प्रेरित करना तथा अहित विषयों से उनको रोकना किसी विषय में तर्क करना, हिताहित का विचार करना ये सब मन के कर्म हैं।

वक्तव्य—"उभयात्मकं मनः" मन उभयात्मक है, अर्थात् मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों हैं—ऐसा पहले कह आये हैं और इसे उभयात्मक क्यों कहा गया है, इसका कारण भी स्पष्ट कर आये हैं। मन का विषय उक्त ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों के विषयों तक ही सीमित नहीं, अपितु इनके अतिरिक्त इनका और भी चिन्त्यादि विषय हैं। जैसे—ऊपर के श्लोक में कहा है। इसीलिये मन

को अतीन्द्रिय भी कहा गया है। इन्द्रियों के विषय नियत हैं। "प्रतिनियत-विषयैकाणीन्द्रियाणि" अर्थात् जिस इन्द्रिय का जो विषय है उसी का ग्रहण उस इन्द्रिय के द्वारा होता है अन्य का नहीं। जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शब्द का ही ग्रहण होगा स्पर्श का नहीं। परन्तु मन सभी इन्द्रियों के साथ सब के विषयों का ग्रहण करता है। यहीं तक नहीं, इनके अतिरिक्त चिन्ता, विचार, ऊहा, ध्यान, संकल्प तथा सुख-दुःखादि भी मन के विषय हैं। इसीसे इसे 'अतीन्द्रिय' अर्थात् 'इन्द्रियमतिक्रम्य वर्तते' ऐसा कहा गया है। (चिन्ता, स्त्री०, चिति अ०। प्रागनुभूतज्ञानजन्ये संस्कारोद्बोधे पूर्वदृष्टपदार्थस्मरणे)। मन सदा नाना विषयों की चिन्ता करता रहता है अर्थात् किसी प्रागनुभूतज्ञान से उत्पन्न हुए संस्कार का उद्बोधन तथा पूर्वदृष्ट पदार्थ का स्मरण आदि मन के द्वारा होते हैं। अतः मन को चित्त भी कहते हैं (चित्यते ज्ञायते अनेन-चित्तम्) चित्त की वृत्ति सदा अनुसन्धानात्मक होती है। मन को अन्तःकरण भी कहते हैं।

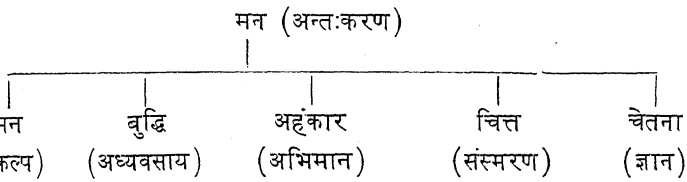

"अन्तरमभ्यन्तरं तद्वत्तिपदार्थानां ज्ञानादीनां वा करणं अन्तःकरणम् ज्ञानसुखादिसाधने अभ्यन्तरे मनोबुद्धिचित्तादिपदाभिलभ्यमाने"।

—शब्दस्तोम महा०

अर्थात्—सुख-दुःखादि आभ्यन्तर ज्ञान का साधन होने के कारण इसे 'अन्तः-करण' कहा गया है। 'विचार'—तत्त्व निर्णय को कहते हैं (वि+चिर+घञ् पुं तत्त्वनिर्णये, तदणुगुणे वाक्यस्तोमे च) किसी विषय के गुण-दोष का ज्ञान करना विचार कहलाता है (ऊहा—स्त्री—ऊह् घञ् टाप्—वितर्के) शास्त्रानुकूल तर्कों के द्वारा किसी विषय के संशय, पूर्वपक्ष आदि का निवारण और उत्तर पक्ष का स्थापनादि निर्णय के लिये परीक्षण को 'ऊहा' कहते हैं। एकाग्रमन से किसी विषय के चिन्तन को 'ध्यान' कहते हैं। (ध्यान—नं ध्यै+लुट् चिन्तने चिन्तस्यै-कतानप्रवाहे) वेदान्त में ध्यान की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः। ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी" और भी कहा है—"ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुश्चिन्तातत्त्वेन निश्चला। एतद् ध्यानमिह प्रोक्तम्" ॥ कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय कर अभीष्ट-सिद्धि के लिये यही करना है। ऐसे निर्णय को 'संकल्प' कहते हैं, (संकल्प—पुं सम्—कृप्—घञ्)। अभीष्ट सिद्धये "इदमित्थमेवं कार्यम्" इत्येवं रूपे मनसो व्यापारभेदे। कर्म-

साधनाय अभिलाषवाक्ये, "संकल्पेन विना राजन् यत्किंचित् कुरुते नरः। (इति पुराणम्)। "अनुकूलवेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् ॥' ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने विषय ग्रहण करने में प्रयोजित करना और अहित विषयों से उन्हें रोकना मन का कार्य है। इसके अतिरिक्त किसी गृहीत विषय के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क करना भी मन का काम है। इसीसे कहा है—"इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते। कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा ॥ जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चियात्मिका। व्यवस्यति तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् (च० शा० १)"। अर्थात् मनोऽधिष्ठित श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा पहले शब्दादि विषय ग्रहण किये जाते हैं। इस प्रकार गृहीत निर्विकल्प-ज्ञान को पुनः मन उनके गुण-दोष का विचार कर, वह विषय उपादेय या हेय है यह निश्चय करता है। यह निश्चय मनोबुद्धि के द्वारा होता है। इसके बाद जो निश्चयात्मिका मनोबुद्धि उत्पन्न होती है उसके द्वारा हम किसी बात को कहते तथा किसी कार्य को करने लगते हैं। इसीसे कहा है कि—"संमुग्धं वस्तुमात्रं तु प्राग् गृह्णन्त्यविकल्पितम्। तत्सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः।" पहले इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषय पर मन द्वारा विवेचन होने पर अध्यवसायात्मिका मनोबुद्धि उत्पन्न होती है। "अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तुजम् ॥ ततःपरं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया। बुद्ध्यावसीयते सा हि प्रत्यक्षत्वेन संमता ॥" बाद में यह ऐसा है, ऐसा नहीं है, यह हमारे करने योग्य है, यह नहीं है इत्यादि ऊहापोह के बाद निर्णय करते हैं कि हमको ऐसा करना है। यहाँ अहंकार-व्यापार अनुक्त होने पर भी बुद्धि-व्यापार के द्वारा सूचित हो जाता है। अथवा ऊपर के श्लोक में जो "बुद्धिपूर्वकम्" ऐसा पद आया है उसके द्वारा भी "कार्यकारणयोरभेदात्" इस नियम से बुद्धि शब्द से ही अहंकार का ग्रहण हो जाता है।

मन तथा चेतन का स्थान

"सत्त्वादिधाम हृदयं स्तनोरःकोष्ठमध्यगम्।"

—अष्टांगहृदय, शा० ४

हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्। —सु० शा० ३

"षडङ्गमङ्गविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थ पंचकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतः सर्वंच हृदि संस्थितम्।" च. सू. ३०

"हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्"। सु. शा. ४

अर्थ—सत्त्व आदि का स्थान हृदय है जो स्तन और उरः कोष्ठ के मध्य में है, (अ० हृ०)। हृदय में बुद्धि और मन का स्थान होने से गर्भ में पहले हृदय

वनता है यह कृतवीर्य ने कहा है, (सु०) । छओं अङ्ग, अङ्गविज्ञाता इन्द्रियाँ और उनके पाँचों अर्थ, सगुण आत्मा और चित्त (मन) ये सब हृदय में स्थित हैं (चरक) । शरीर-धारियों का हृदय चेतना का स्थान कहा गया है, (सुश्रुत) ।

वक्तव्य—हृदय में मन का स्थान है यह उपर्युक्त सुश्रुत आदि के वाक्यों से सिद्ध हो जाता है । कुछ लोग इसके अर्थ को विचित्र ढंग से करके उसे आधुनिक मनोविज्ञानोक्त मन का स्थान मस्तिष्क, हृदय का अर्थ करने लगते हैं जो पूर्वापर वाक्यों से मेल नहीं खाता, जैसा कि 'प्रत्यक्ष शरीर' में आदरणीय दिवंगत कविराज श्रीगणनाथसेनजी ने लिखा है—"यत्तु वैद्यके बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य" इत्यादि विरुद्धप्राय वचनं तन्मस्तिष्कमूलस्थिताऽऽज्ञाचक्रांशभूतब्रह्म हृदयाभिप्रायेण । योगिनो हि षट्चक्रनिरूपणे मस्तिष्कमूलस्थमाज्ञाचक्रमुपक्रम्य "एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धं" इति स्पष्टमाहुः । न मनोविरहिता बुद्धिरस्ति श्रुतिश्च—"य एषोऽन्तर्हृदयं आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः" इति (तैत्तिरीयोपनिषद्) यच्च सुश्रुतोद्धृतं 'हृदयं चेतनास्थान-मित्यादि' प्राचीनवचनं तदपि एतदभिप्रायिकमेव । न च मांसमयमेव हृद्यन्त्रं तदधिवाच्यम् । तद्धि न कथमपि तादृशलक्षणाभिधेयं भवितुमर्हति, असंभवात् ।" यह कह कर आगे कहते हैं—"यत्तु हृदयस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च दक्षिणतो यकृत्क्लोम च" इति सौश्रुतःपाठस्तत्र लिपिकरप्रमाद एवं दरीदृश्यते ।" इत्यादि । परन्तु प्रमाद कहीं एक-दो स्थान में हो सकता है । आयुर्वेद ही नहीं प्राचीन भारतीय वाङ्मय में सर्वत्र मन तथा चेतना का स्थान हृदय प्रतिपादित है और उस हृदय की स्थिति स्पष्ट शब्दों में मांसमय हृदय (Heart) के सदृश निर्दिष्ट मिलता है। जैसा कि उपर्युक्त चरकादि ऋषियों के वाक्य से स्पष्ट है। अतः इस कथन में क्या तथ्य है यह विचारना सभी विवेकशील जिज्ञासुओं का कर्त्तव्य हो जाता है ।

मस्तिष्क भी मन का स्थान है ऐसा वर्णन यत्र-तत्र भारतीय वाङ्मय में भी मिलता है, जैसे भेलसंहिता में—"शिरस्तालवन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरंमनः । तत्रस्थं तद्विविषयानिन्द्रियाणां रसादिकान् ।। समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति । तन्मनः प्रभवञ्चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम् ।। कारणं सर्व बुद्धीनां चित्तं हृदयसंस्थितम् । क्रियाणां चेतरासां च चित्तं सर्वस्य कारणम्" (भेल संहिता—उन्माद-चिकित्सा) । परन्तु यह वर्णन चरकादि के विरुद्ध नहीं है । चरक में शिर सर्वेन्द्रियों का अधिष्ठान माना गया है । मन भी एक इन्द्रिय है और विशेष करके बुद्धीन्द्रिय है । "प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च । यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ।।" (च० सू० १७) "शिरः पूर्वमभिनिवर्तते कुक्षाविति कुमारशिरः भरद्वाजः, पश्यति सर्वेन्द्रियाणां

तदधिष्ठानमिति कृत्वा (च० शा० ६)। "शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रिय प्राणवाहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गर्भस्तयः संश्रितानि" (च० सिद्धि० ९)। "गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं शिरः संभवति इत्याह शौनकः, शिरोमूलत्वात् प्रधानेन्द्रियाणाम्॥" (सु० शा० ३)। "सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणाः येन च संस्थिताः। तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत्॥ (अ० सं० अ० २९)। परन्तु मस्तिष्क या मस्तुलुङ्ग (Brain) का स्पष्ट वर्णन पृथक्-पृथक् कहीं नहीं उपलब्ध होता जैसा कि आधुनिक शरीर-शास्त्र में मिलता है। "मस्तिष्कस्यार्धाञ्जलिः" (च० शा० ७) इसकी टीका में चक्रपाणि लिखते हैं—"मस्तिष्कं शिरस्थो मज्जा। मस्तिष्कः शिरस्थः स्नेहः।" तथा—"अत्यवाक् शिरसो नस्यं मस्तुलुङ्गेऽवतिष्ठते।" (चरक)। "मस्तुलुङ्गाद्विना भिन्ने कपाले मधुसर्पिषी दत्वा ततो निबध्नीयात्, सप्ताहं च पिबेद् घृतम्॥" (सु० चि० ३)। इस प्रकार चरक तथा सुश्रुत में कई स्थलों पर मस्तिष्क तथा मस्तुलुङ्ग शब्द व्यवहृत है। परन्तु इस मस्तिष्क तथा मस्तुलुङ्ग में मन का स्थान है ऐसा वर्णन कहीं नहीं मिलता।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि हृदय तथा शिर (मस्तिष्क) दोनों ही मन के स्थान हैं पर दोनों स्थानों के निर्देश में दृष्टिकोण का अन्तर है। शरीर में ज्ञान प्राप्ति का सबसे बड़ा केन्द्र शिर में है, क्योंकि वहाँ पर सब इन्द्रियाँ केन्द्रित और उपस्थित रहती हैं। इसलिये मन भी वहाँ पर अधिककाल उपस्थित रहता है, इसमें कोई सन्देह नहीं और इसी दृष्टि से मन का स्थान शिर बताया गया है। संक्षेप में मन का मूलस्थान हृदय और उसके कार्य करने का मुख्य कार्यालय शिर और कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। हृदय में रहकर मन अपना कार्य नहीं कर सकता। वह वहाँ से मनोवह स्रोतों के द्वारा शिर में तथा समस्त शरीर में जाकर हृदयस्थ आत्मा को इन्द्रियार्थों का ज्ञान कराता है। जब मनुष्य इन्द्रियार्थों के ज्ञान से परावृत होना चाहता है तब मन को हृदय में रोकने की आवश्यकता होती है। इसी भाव को गीता में इस प्रकार प्रकट किया गया है—"सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदिनिरुध्य च। मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम्॥ ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥" (भगवद्गीता ८-१३)। इस विस्तृत विवरण का तात्पर्य यह है कि हृदय में आत्मा का निवास होने के कारण आयुर्वेद हृदय को ही मन और बुद्धि का स्थान मानता है और हृदय से निकले हुए संज्ञावह, चेतनावह और मनोवह स्रोतसों के द्वारा समस्त शरीर को चैतन्य प्राप्त होता है तथा दोषों के द्वारा हृदय तथा संज्ञावह स्रोतसों की दुष्टि होने से संज्ञा, मन तथा चेतना में विकार उत्पन्न होते हैं। आधुनिक कल्पना के साथ मिलनेवाली तथा

वक्षस्थ और शिरस्थ दो हृदय माननेवाली कल्पना आयुर्वेद सम्मत नहीं प्रतीत होती है। आयुर्वेद में केवल एक वक्षस्थ हृदय होता है और वही मन, बुद्धि तथा चेतना का स्थान माना गया है।

मनोविज्ञान

मन तथा मन की विविध वृत्तियों के सम्बन्ध में विचार करनेवाले शास्त्र को मनोविज्ञान (Psychology) कहते हैं। भारतीय साहित्य में सभी विज्ञान दर्शन के अन्दर ही वर्णित हैं। आज-कल जिस प्रकार विज्ञान और दर्शन का बटवारा हो गया है पहले इस प्रकार का बटवारा नहीं हुआ था। अतः मन सम्बन्धी वर्णन भी विविध भारतीय दर्शनों के अन्दर ही उपलब्ध होता है। भारतीय दर्शनों में योगदर्शन इस विषय का अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक विवेचन करता है। योगवाशिष्ठ में तो मन को संसार का 'नाभि' कहा है। "चित्तं नाभि किलस्येह मायाचक्रस्य सर्वतः।" हम इसे योगवाशिष्ठ-दर्शन का 'नाभि' भी कह सकते हैं क्योंकि योगवाशिष्ठ के अध्ययन से ऐसा अनुभव होता है कि सभी विचारों का मूल 'मन' है। यदि इस दर्शन को हम किसी खास विषय का प्रतिपादन करनेवाला कहना चाहें तो हम कह सकते हैं कि यह मन के सम्बन्ध में विचार करनेवाला दर्शन है अर्थात् 'मनोविज्ञान' का दर्शन है। योगवाशिष्ठ के अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ सभी विचार तथा सभी प्रपञ्च मन की लीलामात्र है।

मन का क्रमिक उदय; सृष्टि का क्रमिक विकास (Evolution) है और मन का क्रमिक अस्त सृष्टि का क्रमिक विनाश (Involution) या लय है। मन की पवित्रता से स्वातन्त्र्य तथा मन की अपवित्रता से ही बन्धन होता है। मन की परिस्थिति पर ही हमारे सभी आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विचार निर्भर करते हैं। इस प्रकार के वर्णनों से योगवाशिष्ठ परिपूर्ण है। अतः योगवाशिष्ठ का प्रधान प्रतिपाद्य विषय मन है, यह कहने में जरा भी संकोच नहीं होता। इसलिए मन के सम्बन्ध में योगवाशिष्ठ के कुछ उद्धरणों के साथ हम आधुनिक 'मनोविज्ञान' का वर्णन संक्षेपतः इस प्रकरण में करने का प्रयत्न करेंगे। मनोविज्ञान अपने आप में एक विस्तृत विषय है और उसका तुलनात्मक विवेचन तो और भी गहन एवं विस्तृत हो जायगा। अतः इस पुस्तक-प्रणयन के मूल उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए इस विषय का अभासमात्र ही वर्णन यहाँ सम्भव है।

योगवाशिष्ठ 'मन' को सर्वशक्तिमान् विराट् मन चेतना (All powerful absolute consciousness) का एक निश्चित रूप मानता है, जो उसकी इच्छा के अनुसार उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि सर्वशक्तिमान् परमात्मा की संकल्पशक्ति से रचित जो रूप है वही 'मन' है। "अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सर्वशक्ते

महात्मनः। संकल्पशक्तिरचितं यद्रूपं तन्मनो विदुः॥" मन शुद्ध चेतना का स्फुरणमात्र (Vibration of pure consciousness) है, जो किसी विषय के सम्पर्क से मलिन तथा परिवर्तित होता रहता है। यह चेतना का स्पन्दनशील तथा परिवर्तनशील रूप है, जो ज्ञान तथा कर्म दोनों के सम्पर्क में आता रहता है। मन शुद्ध चेतना का कर्मविषयता की ओर झुकावमात्र है।

"संपन्ना कलनानाम्नी संकल्पानुविधायिनी।
संकल्पनं मनोबुद्धिः संकल्पात्तन्न भिद्यते॥
परस्य पुंसः संकल्पमयत्वं चित्तमुच्यते।
चिन्निःस्पन्दो हि मलिनः कलंकविकलान्तरम्॥
मन इत्युच्यते राम न जड़ं न चिन्मयम्।
जड़ाजड़दृशोर्मध्ये दोलारूपं स्वकल्पनम्॥
चर्चितो म्लानरूपिण्यास्तदेतन्मन उच्यते।
चितो यच्चेत्यकलनं तन्मनस्त्वमुदाहृतम्।
मनो हि भावनामात्रं भावनास्पन्दधर्मिणी॥

उपर्युक्त सभी वर्णन एक ही तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि 'मन' परमात्मा के अन्दर कल्पना का केन्द्र है, जिसके द्वारा इस संसार का भान होता है। अर्थात्—किसी विषय का ज्ञान 'मन' के द्वारा ही होता है और साधक मन की स्थिति से ही उसके साध्य संसार की स्थिति है। सदा मनन करते रहने के कारण वह 'मन' और चिन्तन करते रहने के कारण 'चित्त' कहलाता है। मन भावनात्मक है और भावना स्पन्दन धर्मवाली होती है। अतः मन उस विराट्, अनन्त एवं अगाध चैतन्य के सृजन कर्म का एक निश्चित स्पन्दन (Definite wave) के समान है। बौद्ध सम्प्रदाय में भी (महायान-सुजुकी) मन को अनन्त और नित्य मानस समुद्र का प्रारम्भिक और विशिष्ट चैतन्यस्पन्दन का संकेत करनेवाला कहा है।

Rational Mysticism नामक पुस्तक में Kingsland ने मन के सम्बन्ध में इस प्रकार का वर्णन किया है—"The mind is, as it were, a definite centre in which the self which in itself is universal and absolute can centre itself so as to particularise a world." अर्थात्—मन एक निश्चित केन्द्र है जिसमें आत्मा इस संसार को निर्देश करने के लिये केन्द्रित कर सकता है। उपर्युक्त वर्णनों के बाद मन का पूर्ण चेतन (आत्मा) से कैसे भेद कर सकते हैं यह प्रश्न उठता है, क्योंकि मन अन्ततोगत्वा आत्मा से भिन्न है यह तो दिखाना ही है। अतः योगवाशिष्ठ इस शंका को दूर करने के लिये कहता है—"यथा कटककेयूरैर्भेदो हेम्नो विलक्षणः। तथाऽऽत्मन-

श्चितो रूपं भावयन्त्याः स्वभाविकम् ॥ किञ्चिदामृष्टरूपं यद् ब्रह्म तच्च स्थिरं मनः । चेत्येन रहिताचैषा चित्तब्रह्मसनातनम् ॥ चेत्येन सहिता चैषा चित्सेयं कलनोच्यते । वातस्य वातस्पन्दनस्य यथा भेदो न विद्यते । शून्यत्वखत्वोपमेयश्चिन्मात्राहंत्वयोस्तथा ॥" अर्थात्—जैसे सोने के बने हुए कटक-केयूरादि भूषण सोने से भिन्न न होने पर भी पृथक् समझे जाते हैं, उसी प्रकार मन भी आत्मा का एक निश्चित अंश समझा जाता है । विषय-वासना से रहित चेतन को मन या चित्त कहते हैं । जिस प्रकार वात तथा वातस्पन्दन (Air and wind) शून्य तथा आकाश में कोई भेद नहीं होता उसी प्रकार मन तथा शुद्ध चेतन (ब्रह्म) में वस्तुतः कोई भेद नहीं होता है । मन के सम्बन्ध में अश्व-घोष के विचार भी योगवाशिष्ठ से मिलते-जुलते हैं । वे अपने महायान श्रद्धोत्पाद-शास्त्र में लिखते हैं—"सत्त्वसंज्ञकं मनः" (विराट् मन) नित्य शुद्ध तथा दोषरहित होता है । परन्तु अविद्या का प्रभाव उसे संकुचित बना देता है । अविद्या के कारण संकुचित मन (Defiled mind) के होने पर भी मन अपने आप में शुद्ध, स्वच्छ, नित्य तथा अपरिणामी है । यद्यपि वह स्वयं अविशेष (Free from particularisation) तथा अपरिणामी है तथापि सर्वत्र परिस्थितिवश भिन्न-भिन्न रूपों को धारण कर लेता है' (Suzuki-Awakening of faith) वशिष्ठ के अनुसार मन शुद्ध—परम चेतन स्वरूप है जो सृजनकर्ता के रूप में (Creative agent) अपने को व्यक्त करता है । यह पूर्णब्रह्म से भिन्न नहीं होता, परन्तु यह पूर्णब्रह्म भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा जाता है । वशिष्ठ ने इसे बहुधा 'चिदणु' (An atom of consciousness or monad) कहा है । यह वर्णन आधुनिक परमाणु-वर्णन से बहुत कुछ साम्य रखता है । Kingsland का यह कथन है कि—"The real atom, instead of being the smallest of the small, is the largest of large, for every so called atom is nothing less in substance than the one substance-which is the only thing in the universe which cannot be divided or cut—" (Rational Mysticism) अर्थात्—वास्तविक अणु (परमाणु) सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के बदले महान् से भी महान् है, क्योंकि प्रत्येक तथाकथित परमाणु द्रव्यत्वरूपेण उस द्रव्य से किसी प्रकार न्यून नहीं है, जो विश्व में एक ही वस्तु के रूप में वर्तमान है और जिसका कोई विभाग नहीं हो सकता । यहीं तक नहीं, Sir Oliver Lodge जैसे प्रौढ वैज्ञानिक भी अब यह विचार प्रदर्शन करने लगे हैं कि—परमाणु में अनन्त का संचय है। उनका कहना है कि इथेरिक स्पेस के प्रत्येक Cubic ter में इतनी शक्ति (energy) का संचय है कि करोड़ों अश्वबल-

पुञ्ज (Horse Power) चालीस कोटि वर्ष तक उससे सतत कार्य कर सकते हैं। "In every cubic milimeter of etheric space there is so much energy as to furnish a million horse power working continually for forty million years." (*Lodge-Eather and Space, Page* 45)

बाह्य तथा आभ्यन्तर-जगत् की विविधता जो ऊपर कह आये हैं वह वशिष्ठ के अनुसार 'मन' के विविध रूपों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह वही एक मन है जो किसी व्यक्ति-विशेष में अपनी लीला के अनुसार विभिन्न रूप और नाम को धारण करता है। आभ्यन्तर-जगत् की विविधशक्तियाँ (Faculties) उस मन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो भिन्न-भिन्न मार्गों में कार्य करती है और भिन्न-भिन्न नाम धारण करती हैं, जैसे—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, अविद्या, अशुचि (मल), माया, प्रकृति, जीव, कर्त्ता, रक्षक आदि। इन्द्रिय, भौतिकशरीर तथा सूक्ष्मशरीर एवं विषय ये सब उक्त मन के ही भिन्न-भिन्न कार्यों के रूप तथा नाम हैं। जिस प्रकार एक नर्तक नाट्यशाला में भिन्न-भिन्न रूप और नाम धारण करता है, वैसे ही मन अपने भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार रूप तथा नाम धारण करता है।

यथा गच्छति शैलूषो रूपाण्यलं तथैवहि ।
मनोनामान्यनेकानि धत्ते कर्मान्तरं व्रजत् ।।
चित्राधिकारवशतो विचित्रा विकृताभिधाः ।
यथा याति नरः कर्म-वशाद्याति तथा मनः ।।
गतेव सकलङ्कत्वं कदाचित्कम्पनात्मकम् ।
उन्मेषरूपिणी नाना तदैव हि मनः स्थिता ।।
भावानामनुसन्धानं यदा निश्चित्य संस्थिता ।
तदैषा प्रोच्यते बुद्धिरियत्ताग्रहणक्षमा ।।
अस्मीतिप्रत्ययादन्त-रहंकारश्च कथ्यते ।
यदा मिथ्याभिमानेन सत्तां कल्पयति स्वयम् ।।
अहंकाराभिमानेन प्रोच्यते भवबन्धनी ।
इदमित्थमिति स्पष्ट बोधाद् बुद्धिरिहोच्यते ।।
इदंत्यक्त्वेदमायाति बालवत्पेलवा यदा ।
विचारं संपरित्यज्य तदा सा चित्तमुच्यते ।।
यदा स्पन्दैकधर्मत्वात्कतुर्या शून्यशंसिनि ।
आधावति स्पन्दफलं तदाकर्मेत्युदाहृता ।।

काकतालीययोगेन त्यक्त्वैकधननिश्चयम् ।
यदेहितं कल्पयति भावं तेनेह कल्पना ।।
पूर्वदृष्टमदृष्टं वा प्राग्दृष्टमिति निश्चयैः ।
यदैवेहांविधत्तेऽन्तस्तदा स्मृतिरुदाहृताः ।।
यदा पदार्थशक्तीनाँ संयुक्तानामिवाम्बरे ।
वसत्यस्तमितान्येहा वासनेति तदोच्यते ।।
बोधादविद्यमानत्वादविद्येत्युच्यते बुधैः ।
स्फुरत्यात्मविनाशाय विस्मारयति तत्पदम् ।।
मिथ्याविकल्पजालेन तन्मलं परिकल्पते ।
सदसत्तां नयत्याशु सत्तां वा सत्त्वमंजसा ।।
सत्तासता विकल्पोऽयं तेन मायेति कथ्यते ।
सर्वस्य विश्वजालस्य परमात्मन्य लक्षिते ।।
प्रकृतत्त्वेन भावानां लोके प्रकृतिरुच्यते ।
जीवनात् चेतनाज्जीवो जीव इत्येव कथ्यते ।।
प्रौढ़संकल्पजालात्स पुर्यष्टकमिति स्मृतम् ।
अतिवाहिकदेहोक्त्वा समुद्राहृयते बुधैः ।।
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वाघ्रात्वा विमृश्य च ।
इन्द्रमानन्दयत्येषा तेनेन्द्रियमिति स्मृतम् ।।
देहभावनया देहो घटभावनया घटः ।
कैश्चिद् ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कैश्चिद्विराडिति ।।
कैश्चित्सनातनाभिख्यः कैश्चिन्नानारायणाभिधः ।
कैश्चिदीश इति ख्यातः कैश्चिदुक्तः प्रजापतिः ।।
चितेश्चेत्यानुयातिन्या गतायाः सकलङ्कताम् ।
प्रस्फरद्रूपधर्मिण्याः एताःपर्याय वृत्तयः ।।

अर्थात्—जिस प्रकार एक ही व्यक्ति का भिन्न-भिन्न कार्य करने के कारण भिन्न-भिन्न कार्यालय में भिन्न-भिन्न रूप और नाम होता है, उसी प्रकार मन का भी भिन्न-भिन्न कार्यों ने तथा स्थानों के कार्य करने से भिन्न-भिन्न रूप और नाम होता है। जब परम चैतन्य का संकल्प नामक कार्य विविधरूपों में होता है, तब उसका नाम मनन करने से 'मन' होता है और जब वह किसी निर्णय पर पहुँचता है तब उसे 'बुद्धि' कहते हैं। इसके अन्दर जब अहंभाव आता है तब उसका

नाम 'अहंकार' पड़ता है और जब वह बिना किसी कारण के एक विषय से दूसरे विषय की ओर चिन्तन करता है तो उसे 'चित्त' कहते हैं। जब वह अपने अन्दर किसी कमी का अनुभव करता हुआ उसकी पूर्ति के लिये किसी विषय की ओर दौड़ता है तब उसका नाम 'कर्म' होता है। और जब वह विचलित होकर किसी खास विषय के ध्यान में लगता है तो उसे 'कल्पना' कहते हैं। जब किसी पूर्वानुभूत विषय का ध्यान करता है तो उसे 'स्मृति' कहते हैं और जब वह अन्य कर्मों को भुलाकर किसी खास विषय की इच्छा करता है तो उसे 'वासना' कहते हैं। ज्ञान हो जाने के बाद इसके अस्तित्व का लोप हो जाता है अतः इसे 'अविद्या' कहते हैं। चूँकि आत्म-विनाश के लिये ही इसकी स्फुरणा होती है और इसकी विद्यमानता परमतत्त्व को तिरोहित करती है इसलिये इसको 'मल' कहते हैं। यह परमतत्त्व अर्थात् ब्रह्म को अपनी स्थिति से आवृत करता है अतः इसे 'माया' कहते हैं। संसार के सभी अनुभव तथा ज्ञान के प्रति यह कारण है अतः इसे 'प्रकृति' कहते हैं। इसे 'जीव' भी कहते हैं क्योंकि यह जीता और चैतन्य है। यह 'पुर्यष्टक' कहलाता है क्योंकि यह मन, बुद्धि, अहंकार तथा पंचेन्द्रियों—इन आठों से बना हुआ सूक्ष्मशरीर है। यह बिना किसी प्रभाव के दूर से दूर तक जा सकता है अतः इसे 'अतिवाहिकशरीर' (Body of thought) कहते हैं। यह अपने श्रवण दर्शन-स्पर्शनादि कर्मों से आत्मा को प्रसन्न करता है इसलिये इसे 'इन्द्रिय' कहते हैं। यह अपनी दुनिया अपने आप बनाता है अतः इसे कोई 'ब्रह्म', कोई 'विराट्' कोई 'सनातन' तथा कोई 'नारायण' और कोई 'ईश' कहते हैं। ये सब नाम विषयों के सम्पर्क में आये हुए या कर्म में फँसे हुए उस परम चैतन्य का ही होता है। महायान बौद्ध सम्प्रदाय में भी इस विचार से बहुत कुछ मिलता-जुलता विचार प्रदर्शित किया गया है। जैसे—अश्वघोष ने 'अहंकार' के उसकी भिन्न-भिन्न वृत्तियों के अनुसार पाँच नाम दिये हैं। "Five different names, says Ashvaghose, are given to the ego (according to its different modes of operation" (Suzuki-Awakening of faith)

लङ्कावतार सूत्र में भी कहा है कि—

The sea-water and the waves,
One varies not from the other,
It is even so with the mind and its activities,
Chitta is Karma-accumulating,
Manas reflects an objective world,
Mano-Vijnan is the faculty of judgement,
The five Vijnan are the differentiating sense."

(*Lankawatar Sutra-quoted in Suzuki Mahayan-Buddhism*)

अर्थात्—जैसे—समुद्र, जल और उसकी तरङ्ग एक दूसरे से पृथक् नहीं होता। इसी प्रकार मन तथा उसके कर्म परस्पर भिन्न नहीं होते, चित्त—कर्म संचयमात्र है तथा मन विषय-वासनायुक्त संसार का ज्ञापक है और मनोविज्ञान निर्णय या न्याय करनेवाली संस्था है।

स्थूल दृष्टि से मन के व्यक्तावस्था को तीन श्रेणी में विभक्त कर सकते हैं।—१—जीव (Monad), २—अहंकार (Ego) और ३—देह (Body)। जीव मन की वह अवस्था है, जब वह परम चैतन्य से रश्मि की भाँति निकलता है और परम सूक्ष्म रहता है। अहंकार जीव की वह स्थूलाभिव्यक्ति है जब उसका अधिक सीमित रूप हो जाता है अर्थात् विषयों के फेर में पड़ जाता है। जीव किस प्रकार अहंकार का रूप धारण कर लेता है, इसका वर्णन योगवाशिष्ठ में बहुत सुन्दर ढङ्ग से किया है। जैसे—"तदेव घन संवित्या यात्यहंतामनुक्रमात्। वह्निचणुः स्वेन्धनाधिक्यात्स्वां प्रकाशकतामिव॥" अर्थात्—जीव क्रमशः विषयों की ओर अधिक झुकाव होने से अंहकार का रूप धारण करता है, जिस प्रकार अग्नि का स्फुलिङ्ग (Spark) इन्धन की वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त होता है और अधिक प्रकाश करता है। तथा—"स्वैवतया घनतया नीलिमानमिवाम्बरम्। स्वयं संकल्प वशतो वातस्पन्द इव स्फुरन्॥" अर्थात् जिस प्रकार घनता को प्राप्त होकर आकाश नीला दिखाई पड़ता है और वायु बवण्डर का रूप धारण कर लेता है, जीव जब विविध कल्पनात्मक क्रियाओं के कारण अपने को समझने लगता है कि "मैं यह हूँ" और अपने रूप की ताराकारादि कल्पना करने लगता है जो बाद में शरीर का रूप धारण कर लेता है, जब उसे देखने की इच्छा होती है तो वह देखने का प्रयत्न करता है, तो शीघ्र ही उसके सम्मुख दो छिद्र उपस्थित होते हैं जिसके साथ वह एकात्मता धारण कर लेता है, पुनः इन छिद्रों को जिनसे देखने की क्रिया जीव सम्पन्न करता है, उसे 'नेत्र' कहते हैं। इसी प्रकार जिसके द्वारा वह स्पर्श क्रिया सम्पन्न करता है उसे 'त्वचा' और जिसके द्वारा श्रवण की क्रिया सम्पन्न करता है उसे 'श्रोत्र' कहते हैं। जिससे वह गन्ध लेने की क्रिया सम्पन्न करता है उसे 'घ्राण' और जिससे स्वाद लेने की क्रिया सम्पन्न करता है उसे 'रसना' कहते हैं। इसी प्रकार जब उसका झुकाव कर्म की ओर होता है, तब वह अपनी इच्छा के अनुसार कर्मों को करने लगता है और जिन अवयवों के द्वारा उन कर्मों को सम्पन्न करता है, उन अवयवों से उसकी एकात्मता हो जाती है और कर्म तथा अवयव के अनुसार हम उस (कर्मेन्द्रिय) का नाम लेने लगते हैं। इस प्रकार जीव अपनी इच्छा-शक्ति से विषयों की कल्पना तथा ग्रहण करता है। यह जीव उक्त परिस्थिति में मन, बुद्धि, अहंकार और पञ्चतन्मात्राओं का चोंगा पहन कर विश्व के सामने उपस्थित होता है, तब हम उसे (आठ लक्षणवाला शरीर) पुर्यष्टक

तथा अतिवाहिक देह के नाम से संबोधित करते हैं। यही सूक्ष्मशरीर क्रमशः अपनी कल्पनाओं के अनुसार गर्भाशय के अन्दर भौतिक शरीर को धारण करता है। इस प्रकार यह जीव रेशम के कीड़ों की तरह स्वयं सीमा के अन्दर आबद्ध होता और स्वयं भौतिक शरीर को धारण करता है। यह स्वयं शरीर की कल्पना करता और उसे प्राप्त करता है तथा उसमें आबद्ध हो पुनः पश्चाताप करता है। यह अपनी ही कल्पनाओं से अपने को पाशबद्ध करता और बाद में पिंजरे में पड़े हुए शेर की तरह अपने को निःसहाय अनुभव करता है।

"यथाभावितमत्रार्थं भावितादृश्व रूपतः ।
स एव स्वात्मा सततोऽप्ययं सोऽहमिति स्वयम् ।।
चित्तात्प्रत्ययमाधत्ते स्वप्ने स्वामिव पान्थताम् ।
ताराकारमाकारं भाविदेहाभिधं तथा ।।
भावयत्येतितद्भावं चित्तं चेत्यार्थतामिव ।
प्रेक्षोऽहमिति भावेन द्रष्टुं प्रसरतीव खे ।।
ततोरन्ध्रद्वयेनैव भावि वाह्याभिधं पुनः ।
येन पश्यति तन्नेत्रयुगं नाम्ना भविष्यति ।।
येन स्पृशति सा वै त्वक्यच्छृणोति श्रुतिस्तु सा ।
येन जिघ्रति तद्घ्राणं स स्वमात्मनि पश्यति ।।
तत्तस्य स्वदनं यस्माद्रसना चोल्लसिष्यति ।
स्थितो यस्मिन्भवतीति तावदहश्चादितास्थिता ।।
स्पन्दते यत्स तद्वायुश्चेष्टा कर्मेन्द्रियव्रजत् ।
रूपालोकमनस्कार जातमित्यपि भाषवत् ।।
आतिवाहिक देहात्मा तिष्ठत्यम्बरमम्बरे ।
मनोबुद्धिरहंकार स्तथातन्मात्रपंचकम् ।।
इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः ।
आतिवाहिक देहात्मा चित्तदेहाम्बराकृतिः ।।
स्वकल्पनान्न आकारमणुसंस्थं प्रपश्यति ।
कोशकाकार क्रिमिरिव स्वेच्छयायाति बन्धताम्।।
स्वसंकल्पानुसंधानान् पाशैरिवनयन्वपुः ।
कष्टमस्मिन् स्वयं बन्ध-मेत्यात्मा परितप्यते ।।

स्व संकल्पिततन्मात्र जालाभ्यन्तरवर्ति च।
परां विवशतामेति शृंखलाबद्ध सिंहवत्॥

—योगवाशिष्ठ—उत्पत्ति प्रकरण

योगवाशिष्ठ के उपर्युक्त उद्धरणों से हम देखते हैं कि संसार में जीव या मन की संख्या की कोई सीमा नहीं, क्योंकि संसार के प्रत्येक पदार्थ में उसके सम्बन्ध में कल्पना या चिन्तन करने का केन्द्र वर्तमान है। यह विश्व मन या जीव से परिव्याप्त है। विराट् मन (Cosmic mind) से लाखों और करोड़ों की संख्या में जीव या मन निकलता है। "जिस प्रकार जल-प्रपात (झरने) से असंख्य जल-बूंदों की उत्पत्ति हुई, होती है और होगी, उसी प्रकार उस विराट् मन से असंख्य मन की उत्पत्ति हुई, होती है और होगी। जल के बुलबुले के समान प्रत्येक दिशा में प्रत्येक स्थल पर असंख्य मन उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं।"

"एवं जीवाश्रितो भावा भवभावनयोहिताः।
ब्रह्मणः कल्पिताकाराल्लक्षशोऽप्यथ कोटिशः॥
असंख्याताः पुराजाता जायन्तेवाऽथनेकशः।
उत्पतिष्यन्ति चैवाम्बु कणौघा इव निर्झरात्॥
अनारतं प्रतिदिशं देशे देशे जले स्थले।
जायन्ते वा म्रियन्ते वा बुद्बुदा इव वारिणि॥

योगवाशिष्ठ के ये उद्धरण 'लीब्नीज' के निम्न वाक्यों का स्मरण कराते हैं—
There is a world of created things, of living things of animals, of entilechies, of souls, in the minute particles of matter. Every portion of matter can be conceived as like a garden full of plants, and like a pond full of fish. But every branch of plant, every member of an animal, and every drops of fluid within it is also such a garden or such a pond. And although the ground and the all which lie between the plants and the garden, and the water which is between the fish in the pond, are not themselves plant or fish, they nevertheless contain these usually so small, however, as were imperceptible to us." (*Monadology, Paragraph* 66-98).

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मन की संख्या का इस विश्व में कोई अन्त नहीं है। फिर भी कार्यकारण सम्बन्ध-विभाग के सिद्धान्तानुसार हम इन्हें कुछ समुदायों तथा श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त भी विभाजन

के आधार मिल सकते हैं। वशिष्ठ ने तीन आधारों पर इनके तीन विभाग किये हैं। जो निम्न प्रकार हैं —

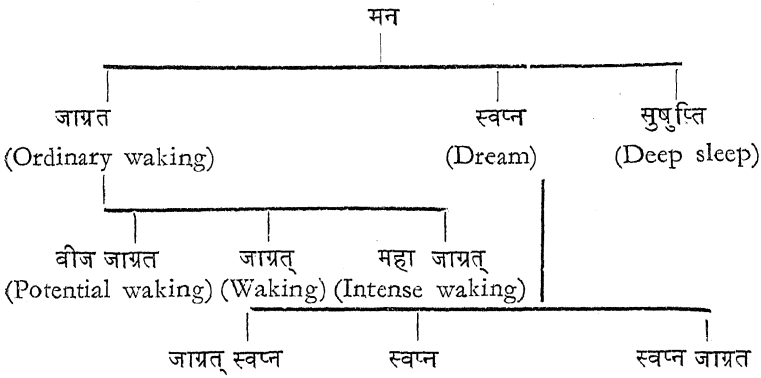

यह विभाजन और भी बुद्धिगम्य हो जाता है, जब हम इन (जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति) को मन की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के रूप में समझने लगते हैं, जिसके द्वारा बाह्य-जगत् (Objective world) एक स्थिर तथा पूर्णरूप से भौतिक प्रतीत होता है। सुषुप्ति (Sleep) सम्भवतः विषयकल्पना की वह अवस्था है जब वह अनिश्चित तथा विभिन्न एवं अप्रतिहत वेग (Continuum) के रूप में आती है, जिसमें कोई निश्चित स्वरूप कभी दृष्टिगोचर नहीं होता। स्वप्न इसकी दूसरी अवस्था का नाम है, जब उक्त अप्रतिहत वेग में विभाजन का अनुभव होने लगता है, परन्तु इतने पर भी उसका रूप बहुत सूक्ष्म तथा अस्पष्ट होता है। इस प्रकार बाह्य-जगत् के अनुभव के साथ इन विभिन्न स्वरूपों में जब निश्चयता, स्थिरता तथा भौतिकता की प्रचण्डता का अनुभव होने लगता है, तब मन के ऐसे अनुभव की अवस्था को 'जाग्रत्' कहते हैं। वशिष्ठ ने उक्त मन की तीनों अवस्थाओं को उनके तरतमांश से पुनः सात विभागों में विभक्त किया है, जैसा कि ऊपर चित्रण किया जा चुका है।

वशिष्ठ का मन सम्बन्धी विचार यहीं समाप्त नहीं होता, अपितु वे एक विराट् मन (Cosmic mind) का भी वर्णन करते हैं। इस विराट् मन की स्थापना के बाद उपर्युक्त मन भी दायरे में आ जाता है, जिसमें मन की विभिन्न अवस्थाएँ आती हैं। अर्थात् जिस प्रकार क्षुद्रमन अपनी विभिन्न अवस्थाओं में (सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्) बाह्य जगत् का अनुभव करता है, उसी प्रकार यह विराट् मन भी ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थों का अपनी विभिन्न अवस्थाओं में अनुभव करता है। इस स्थापना के आधार पर वशिष्ठ इस मन का दूसरा विभाजन करते हैं। मन सात प्रकार के होते हैं। जैसे—

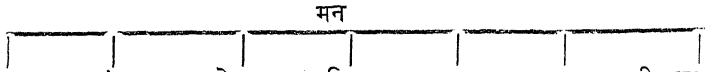

इसके अतिरिक्त भी अनेक भेद मन के वशिष्ठ ने किये हैं जो विभिन्न दृष्टि-कोणों से हैं। परन्तु ब्रह्माण्ड के अन्दर के ये सभी मन के प्रकार वशिष्ठ के अनुसार उस विराट् मन या ब्रह्म से उसी प्रकार निकले हुए हैं, जिस प्रकार क्षुद्र मन की स्वप्नावस्था में संसार के सभी प्राणी निकले हुए प्रतीत होते हैं।

सर्वा एताः समायान्ति ब्रह्मणो भूतजातयः।
किंचित् प्रचलिताः भोगात् पयोराशेरिवोर्मयः॥
स्वतेजः स्पन्दिताभोगाद्दीपादिव मरीचयः।
स्वमरीचिबलोद्भूता ज्वलिताग्नेः कणा इव॥

अर्थात्—सब प्रकार के मन उस विराट् मन या ब्रह्म से ही निकले हुए हैं वस्तुतः सभी पदार्थ उस विराट् मन (ब्रह्म) से ही आविर्भूत होते हैं—जिस प्रकार समुद्र से लहरें, जलते दीप से स्फुलिङ्ग, सूर्य से किरणें, चन्द्र से चन्द्रिका, वृक्ष से पुष्प, स्वर्ण से आभूषण, जलप्रपात से जलधारा और अनन्ताकाश से विशिष्टाकाश इत्यादि निकलते हैं। यही विचार फौसेट के "डिवाइन इमैजिनिङ्ग" नामक पुस्तक में भी उपलब्ध होता है—"Finite sentiments while enjoying truly free creative initiative and being, accordingly relatively independent presuppose, nevertheless, the universal concerning (Brahma of Vahishtha) as their source.

उत्पत्ति और विनाश तथा विकाश और लय का जो नियम विराट् मन (ब्रह्म) से लेकर मन तक लागू होता है, वही नियम ब्रह्म से कीट तक लागू होता है—"यथा सम्पद्यते ब्रह्मा कीटः सम्पद्यते तथा। आब्रह्मकीट संवित्तेः सम्यक् संवेदनात्क्षयः॥" अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्म (विराट् मन) से ब्रह्मा (मन) निकलता है, उसी प्रकार ब्रह्म से कीट भी उत्पन्न होते हैं। सभी जीव (मन) (ब्रह्मा से लेकर कीट तक) उस परमसत्य (Absolute Reality) में सम्यक् ज्ञान के द्वारा लीन हो जाते हैं। योगवाशिष्ठ का अध्ययन इस विचार को सुदृढ़ कर देता है कि वशिष्ठ पूर्णमनोवैज्ञानिक (Pan-psychist) थे। उनका विश्वास था कि विश्व के सभी पदार्थों की उत्पत्ति में सूक्ष्म मन (Subtle mind) का हाथ रहता है।

"एत्तच्चित्तशरीरत्वं विद्धि सर्वगतोदयम्।
वसति त्रसरेण्वन्तर्धीयते गगनोदरे।

लीयतेऽकुर कोशेषु रसीभवति पल्लवे।
उल्लसन्त्यम्बु बीचित्वे प्रनृत्यति शिलोदरे।।
प्रवर्षत्यम्बुदो भूत्वा शिलीभूयावतिष्ठते।
यथा बीजेषु पुष्पादि मृदो राशौ घटो यथा।।
तथान्तः संस्थिता साधो स्थावरेषु स्ववासना।।"

अर्थात्—विश्व के सभी पदार्थों का चित्त शरीर (mental aspect) होता है। यहाँ तक कि त्रसरेणु (धूल के कण) के अन्दर भी मन है, जिससे यह सारा गगन भरा पड़ा है। यह प्रत्येक अंकुरकोश में अंकुरित होता है और कोमल पत्तों में रस का रूप धारण करता है। जलतरङ्गों में यह उल्लसित होता है और पहाड़ों पर नाचता है। यह बूँद होकर बरसता है और एक पत्थर के टुकड़े में छिपा रहता है। जिस प्रकार बीज के अन्दर पुष्प आदि और मिट्टी के ढेर के अन्दर घट आदि अविकसितावस्था में (Inert) रहते हैं, उसी प्रकार यह मन संसार के सभी पदार्थों में स्थित रहता है। ये सभी उद्धरण वशिष्ठ के पूर्ण मनो-वैज्ञानिक (Pan-Psychist) होने के स्पष्ट प्रमाण हैं। फौसेट के World as imagination का निम्न वर्णन ठीक वशिष्ठ के उक्त वर्णन से मिलता है, जैसे—"Nature is a glow with psychical life in every quarter and cranny. It is of one tissue with the psychical reality noticed in ourselves". (Page 162) रायसी ने भी अपने "The World and the Individual" नामक पुस्तक में ऐसा ही विचार प्रकट किया है। वशिष्ठ तो यहाँ तक कहते हैं कि हम अभ्यास द्वारा आत्मा से भी साक्षात्कार कर सकते हैं।

कल्पना (Imagination)—कल्पना उस मानसिक शक्ति का नाम है, जिसके द्वारा प्रत्यक्ष किये गये अनुभव का ज्ञान हमें उस अनुभव की अनुपस्थिति में होता है। विलियम जेम्स के अनुसार जब हमें कोई भी इन्द्रिय-ज्ञान होता है, तो हमारे मस्तिष्क की नाड़ियाँ इस प्रकार प्रभावित हो जाती हैं कि बाह्य पदार्थ के अभाव में हम उस पदार्थ का चित्र देखने लगते हैं। हम अपने संस्कारों के आधार पर ही पुराने अनुभव को मानस-पटल पर चित्रित कर सकते हैं। काल्पनिक पदार्थ कई प्रकार के होते हैं। जिस इन्द्रिय द्वारा किसी प्रत्यक्ष-ज्ञान का अनुभव होता है, उसी इन्द्रिय-ज्ञान से सम्बन्धित कल्पना-पदार्थ भी होता है। किन्तु साधारणतः हमारी कल्पना में अनेक इन्द्रिय-ज्ञान का सम्मिश्रण होता है। जो हम देखते, सुनते, स्पर्श करते और सूँघते हैं अथवा जो ज्ञान हम किसी पदार्थ को इधर-उधर हिला-डुलाकर, उठाकर या छूकर प्राप्त करते हैं, वह सब ज्ञान एक दूसरे में सम्मिश्रित होकर ही पदार्थ-ज्ञान होता है। जब हम इस प्रकार के

पदार्थ-ज्ञान की कल्पना करते हैं, तो उस कल्पना में सब प्रकार का ज्ञान सम्मिश्रित रहता है, किन्तु किसी विशेष प्रकार के ज्ञान की प्रधानता रहती है। कभी-कभी यह भी होता है कि हमें किसी पदार्थ की एक प्रकार की कल्पना तो होती है, किन्तु दूसरे प्रकार की नहीं। यदि हमारी किसी इन्द्रिय में दोष हो, तो हम उस इन्द्रिय के द्वारा होनेवाले पदार्थ-ज्ञान की कल्पना न कर सकेंगे। अन्धे को किसी पदार्थ के रूप-रंग की कल्पना तथा बहरे को शब्द की कल्पना नहीं हो सकती।

मनोविकास में कल्पना का महत्त्व—प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक विकास के लिये कल्पना की वृद्धि होना आवश्यक है। मनुष्यों और पशुओं में एक मुख्य भेद यह है कि पशुओं में कल्पना-शक्ति का प्रायः अभाव होता है। पशु अपने भूतकाल के अनुभवों को थोड़ा-बहुत अवश्य अपने मानस-पटल पर चित्रित कर सकते हैं, किन्तु उनका चित्रण अस्पष्ट होता है। इस कारण उनके जीवन में इस कल्पना का अधिक उपयोग नहीं होता। पशु, भविष्य में होनेवाली घटनाओं के विषय में कुछ सोच ही नहीं सकता। भावी घटनाओं के बारे में सोचने के लिये कल्पना-शक्ति की अभिवृद्धि की आवश्यकता होती है। जो अपने पुराने अनुभवों का भलीभाँति उपयोग करना चाहता है, उसे मानस-पटल पर उन्हें चित्रण करना पड़ता है, तभी उन अनुभवों के आधार पर नई सृष्टि कर सकता है। मनुष्य की कल्पना-शक्ति उसको नई बात सीखने में अधिक सहायता देती है। पशुओं का सीखना प्रयत्न और भूल के तरीके से ही होता है। पशु को यदि किसी नई परिस्थिति में रखा जाय, तो वह यह नहीं विचार कर सकता कि उसे क्या करना चाहिए। वह जब तक एक अन्धे के समान टटोल-टटोल कर अपना मार्ग नहीं खोज लेता, तब तक उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता। किन्तु मनुष्य अपनी कल्पना के आधार पर किसी क्रिया के भावी परिणामों को चित्रित कर लेता है। इस तरह जिन क्रियाओं के परिणाम उसे हानिकर प्रतीत होते हैं, उन्हें वह नहीं करता। मनुष्य प्रयत्न और भूलों के तरीके से ही नहीं सीखता, अपितु विचार और कल्पना के द्वारा भी काम करना सीखता है और उसी के आधार पर उसे अधिक सफलता भी मिलती है। कल्पना के आधार पर मनुष्य वर्षों के बाद होनेवाली भावी घटनाओं का निश्चय कर लेता है। इञ्जिनियर बड़े-बड़े मकान बनाने के पहले उन्हें अपनी कल्पना के द्वारा मानस-पट पर चित्रित कर लेता है। सामाजिक और राजनैतिक नेता कार्य के सुदूर भावी परिणाम को पहले से ही कल्पना के द्वारा चित्रित कर लेते हैं। वास्तव में तीव्र कल्पनावाले सामाजिक तथा राजनैतिक नेता को ही हम दूरदर्शी नेता कह सकते हैं।

कल्पना के आधार पर ही विचारों का विकास होता है। जब मनुष्य में पुराने अनुभवों को कल्पना द्वारा मन में चित्रित करने की शक्ति आ जाती है, तो उसमें

उस अनुभव के मर्म को समझने की शक्ति का भी विकास होता है अर्थात् वह तर्क करने लगता है और पुराने अनुभव के आधार पर जीवन के कुछ मौलिक सिद्धान्त बनाता है। ये सिद्धान्त उसके दूसरे कार्यों को सफल बनाने में सहायक होते हैं। जब-जब हमारी चेतना का विकास होता है, तब-तब हमारे मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ उठने लगती हैं। कल्पना का आधार अतीत अनुभव होता है, पर उसका लक्ष्य भविष्य की सृष्टि का निर्माण होता है। कल्पना और स्मृति में यह भेद है कि जहाँ स्मृति पुराने अनुभवों को ही मन में दुहराती है, वहाँ कल्पना एक नवसृष्टि का निर्माण करती है। यदि इस निर्णय या रचना का कोई लक्ष्य न हो, तो अवश्य ही वह निर्मूल होगी। वास्तव में हमारी यह मानसिक क्रियाएँ लक्ष्यहीन नहीं होतीं। कल्पना का लक्ष्य या तो कल्पना-जगत् की सृष्टि करना अथवा कल्पना में सृजन किये हुए जगत् को वास्तविकता में परिणत करना होता है। अधिकतर हमारी कल्पना दूसरे ही प्रकार की होती है। हाँ, कुछ ऐसी भी कल्पनाएँ अवश्य होती हैं, जिनका लक्ष्य वास्तविकता में परिणत होने पर भी उनको परिणत करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। पर इतना तो निश्चित है कि हम वास्तविक जगत् में ऐसी सृष्टि नहीं कर सकते, जिसकी हमने कल्पना न की हो।

श्रीमती बहन निवेदिता का कथन है कि जिस व्यक्ति ने कल्पना में महल नहीं बनाया, उसे वास्तविक महल की उपलब्धि नहीं होती। इसी प्रकार एक विचारवान् अंग्रेज लेखक का कथन है कि वायुयान की सृष्टि हमारे स्वप्न में उड़ने के अनुभव से हुई। जब स्वप्न में अनुभव किये हुए पदार्थों में इतनी शक्ति है कि वे वास्तविकता में परिणत हो सकते हैं, तो काल्पनिक पदार्थों के वास्तविकता में अवतीर्ण होने में सन्देह ही क्यों होना चाहिए? कल्पना की क्रियाओं का एक प्राकृतिक नियम है कि साधारणतः मनुष्य निरर्थक कल्पना नहीं करता, अर्थात् उसे इस प्रकार की कल्पना प्रायः नहीं आती, जो उसकी पहुँच के बिल्कुल ही बाहर हो। एक घसियारा यह नहीं कल्पना करता कि वह राजा बन जायगा। पर जिस राजा का राज्य छीन लिया जाता है, वह अपने राज्य को पुनः वापस आ जाने की सदा कल्पना करता रहता है। जिस विद्यार्थी में क्लास में प्रथम होने की योग्यता नहीं होती, वह यह कल्पना नहीं कर सकता कि मैं क्लास में सर्वप्रथम आऊँगा।

जो कल्पना बहुत ही स्पष्ट, रोचक तथा स्वभावानुकूल होती है, वह मनुष्य को तदनुकूल कार्य में भी लगा देती है। हमारे कितने ही कार्य ऐसे होते हैं जो विचारों की दृढ़ता के कारण अपने आप ही होने लगते हैं। वास्तव में प्रत्येक कल्पना में कार्यान्वित होने की शक्ति निहित रहती है। उनकी यह शक्ति दूसरी भावनाओं के कारण कार्यान्वित होने नहीं पाती। यदि तत्परता से कोई कल्पना हम अपने मन में लावें, तो कालान्तर में देखेंगे कि हम वास्तविक जगत् में उसी

प्रकार आचरण करने लगे हैं। हमारी कल्पना वास्तविकता में परिणत हो जाती है। मनुष्य का भविष्य तथा उसकी महानता उसकी कल्पनाओं के अध्ययन से ही जानी जाती है।

जिस प्रकार क्रियात्मक जगत् में कल्पना का प्रमुख स्थान है, उसी प्रकार हमारे वास्तविक जगत्-ज्ञान में भी कल्पना की भारी आवश्यकता है। मनोविज्ञान का कथन है कि प्रत्यक्ष-ज्ञान में नव-दशांश अनुमान होता है। हम जिन वस्तुओं को देखते हैं और उनके बारे में हम जो धारणा करते हैं, वह कल्पना के आधार पर ही है। जिस तरह वर्तमान काल का ज्ञान भूत और भविष्य के आधार पर होता है, उसी प्रकार हमारा प्रत्यक्ष-ज्ञान हमारी स्मृति और कल्पना के द्वारा ही होता है। अतएव इस कथन में दृढ़ मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हम वस्तुओं को वैसा नहीं देखते, जैसी वे हैं ; वरन् जैसे हम हैं, वैसा देखते हैं। हमारे काल्पनिक जगत् और वास्तविक जगत् में इतना सम्मिश्रण हो जाता है कि कल्पना के भाग को वास्तविक अनुभव से पृथक् करना साधारण मनुष्य के लिये असम्भव है। जिन व्यक्तियों की काल्पनिक शक्ति प्रबल नहीं होती, वे वास्तविक जगत् का ज्ञान भलीभाँति नहीं प्राप्त कर सकते।

कल्पना के प्रकार—मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना को निम्नलिखित रीति से विभिन्न प्रकारों में विभाजित किया है :—

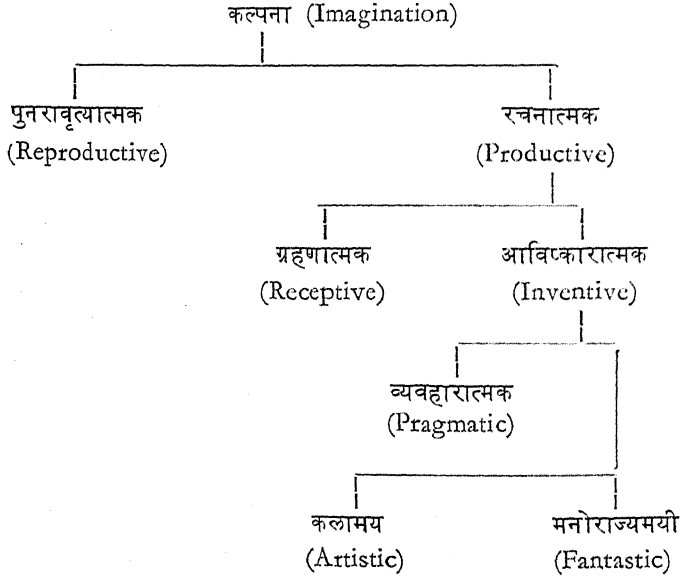

कल्पना शब्द से हमें उन मानसिक क्रिया का बोध होता है, जो प्रत्यक्ष पदार्थ की अनुपस्थिति में मनुष्य के मन में हुआ करती है। अर्थात् किसी भी अनुभव का

पुनः मानस-पटल पर चित्रित होना कल्पना कहा जाता है। कल्पना शब्द से वृहत् अर्थ में स्मृति और रचनात्मक कल्पना दोनों का समावेश होता है, किन्तु संकुचित अर्थ में कल्पना शब्द से उसी क्रिया का बोध होता है, जो पुराने अनुभव के आधार पर नवीन मानसिक रचना के रूप में की जाती है। ऊपर सभी प्रकार की कल्पनाओं का संकेत लिखा गया है।

कल्पना और स्वास्थ्य—कल्पना और स्वास्थ्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वस्थ मनुष्य की कल्पनाएँ सुन्दर और आनन्दमयी होती हैं, अस्वस्थ मनुष्य की कल्पनाएँ बीभत्स और हृदय को पीड़ित करनेवाली होती हैं। प्रत्येक पाठक को अनुभव होगा कि अभद्र कल्पनाएँ मन को घेरे रहती हैं। जब शरीर निर्बल रहता है, तो मन भी निर्बल हो जाता है और जब मन दूषित होता है, तो शरीर भी दूषित हो जाता है। कल्पना मन का धर्म है, अतः दूषित मन से दुष्ट कल्पनाएँ होती हैं, जो शरीर को भी दूषित करती रहती हैं। कभी-कभी भविष्य में आनेवाली बीमारी पहले से ही मनुष्य की कल्पना में आने लगती है। एक बार जब बुरी कल्पना मन में स्थान पा लेती है, तो उसको दूर करना असम्भव-सा हो जाता है। इस तरह कल्पना वास्तविकता में परिणत हो जाती है। इस प्रकार शरीर की अस्वस्थता का प्रभाव मन पर और मन की अस्वस्थता का प्रभाव शरीर पर पड़ता रहता है। यदि मनुष्य की कल्पनाएँ सुनियन्त्रित रहें, तो वह सहस्रों शारीरिक रोगों से सरलता से मुक्त हो सकता है—उसके समीप रोग आ ही नहीं सकता। कितने लोग अपनी दुर्भावनाओं के कारण अनेक भयंकर रोगों के शिकार बन जाते हैं और समय से पूर्व अपनी जीवन-यात्रा को समाप्त कर देते हैं। अतएव सुन्दर कल्पनाओं का अभ्यास डालना जीवन प्रदान करना है। सुन्दर कल्पनाओं से ही शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा होती है।

स्मृति का मनोविकास में स्थान—मानव का जीवन-विकास दो प्रकार की प्रवृत्तियों में होता है—एक तो आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति से और दूसरे अपने अनुभवों को संचित करने की प्रवृत्ति से। मानव का पुराना अनुभव स्मृति के रूप में संचित होता है। इस संचित अनुभव के आधार पर ही वह संसार में उन्नति करता है। मनुष्य के पुराने अनुभव आत्मप्रकाशन में अनेक प्रकार से सहायता पहुँचाते हैं। जो मनुष्य जितना ही अपनी स्मृति से लाभ उठा सकता है, वह उतना ही उन्नतिशील होता है। स्मृति ही कल्पना और विचार का आधार होती है। मनुष्य विचारशील प्राणी कहा गया है, किन्तु स्मृति के अभाव में उसका विचार करना असम्भव है।

स्मृति का आधार—जब हम किसी पदार्थ का अनुभव करते हैं, तो वह अनुभव संस्कार के रूप में हमारे मस्तिष्क में स्थिर हो जाता है। इन संस्कारों

के आधार पर ही हम अनुभवों के चित्र मानस-पटल पर खींच सकते हैं। एक प्रकार से देखा जाय, तो प्रत्येक प्राणी में कुछ-न-कुछ स्मरणशक्ति रहती ही है। किन्तु मनुष्य में यह विशेषता है कि उसकी स्मरणशक्ति दूसरे प्राणियों से बढ़ी-चढ़ी और स्पष्ट होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि मनुष्य की कल्पनाशक्ति प्रवीण होती है और वह अपनी कल्पना को शब्दों द्वारा स्थिर कर सकता है। मनुष्य में भाषा-ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति भी दूसरे प्राणी से अधिक है, जिससे उसका सब प्रकार का ज्ञान बढ़ जाता है। किसी अनुभव को स्मरण करने के लिये हमें तीन बातों की आवश्यकता होती है---(१) अनुभव का मन में स्थिर रहना (Retention), (२) उसका पुनः मानस-पटल पर चित्रित होना (Recall) और (३) उसका अपने पुराने अनुभव के रूप में पहचान में आना (Recognition) अर्थात् धारणा, पुनश्चेतना और पहचान। यहाँ हम स्मृति के इन्हीं तीन अंगों पर संक्षेप में प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

धारणा (Retention)---अनेक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मनुष्य की धारणाशक्ति उसके मस्तिष्क की बनावट पर निर्भर है। जिस प्रकार मनुष्यों के मस्तिष्क की बनावट में भेद है, उसी प्रकार उनकी धारणाशक्ति में भी भेद होता है। ये भेद जन्म से ही होते हैं। इस जन्मजात धारणाशक्ति का बढ़ाया जाना सम्भव नहीं। मनुष्यों के मस्तिष्क में ऐसे भेद भी हैं, जिनके कारण वे किसी अनुभव को देर तक स्मरण किये रहते हैं अथवा तुरन्त भूल जाते हैं। कोई-कोई व्यक्ति किसी नई बात को शीघ्र याद कर लेते हैं, किन्तु वे उतनी ही जल्दी भूल भी जाते हैं और कई याद करने में देर लगाते हैं, पर उनका याद किया हुआ विषय उनकी स्मृति में बहुत दिनों तक बना रहता है। किसी भी संस्कार का स्मृति में स्थिर रहना निम्न चार बातों पर निर्भर करता है---(१) समीपता (Recency), (२) सघनता (Frequency), (३) रोचकता (Interest) और (४) सम्बन्ध (Association)।

पुनश्चेतना (Recall)---हमारी स्मृति पर जो संस्कार अंकित हो जाते हैं, उनका फिर चैतन्य मन में आना 'पुनश्चेतना' कहलाता है। वास्तव में स्मृति का यही प्रधान अङ्ग है। अतएव इसे 'स्मरण' भी कहा जाता है। संस्कारों के पुनश्चेतन होने की शक्ति धारणाशक्ति ही पर निर्भर है। जिस मनुष्य की धारणाशक्ति जितनी बढ़ी-चढ़ी होती है, उतना ही वह पुरानी बात को स्मरण में ला सकता है। जिस संस्कार को हम एक बार अभ्यास करके, उसे कई दूसरे संस्कारों से सम्बद्ध कर मन में दृढ़ कर लेते हैं, वही हमें शीघ्रता के साथ याद आते हैं। किन्तु मन में स्थित सब संस्कारों का पुनश्चेतन होना न सम्भव है और न आवश्यक ही है। मन की कोई भी शक्ति अभ्यास से बढ़ती और

घटती है। संस्कारों की पुनश्चेतना उनकी उत्तेजना पर निर्भर है। जो संस्कार जितना ही दूसरे संस्कारों से अधिक सम्बद्ध रहते हैं, वे उतनी ही सरलता से उत्तेजित किये जा सकते हैं। स्मरण करते समय एक अनुभव यदि दूसरे अनुभव से सम्बद्ध होता है, तो वह दूसरे अनुभव की याद अपने आप दिला देता है। इसी तरह यह दूसरा अनुभव तीसरे को ले आता है और यह क्रम आगे चलता जाता है। हमें यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि यदि किसी प्रकार इन अनुभवों का आपस में सम्बन्ध टूट जाय, तो फिर एक अनुभव दूसरे को याद नहीं करता। सम्बन्धों को स्थिर रखने में आत्मविश्वास बड़ा काम करता है। स्मरण करने के लिए निर्विघ्नता आवश्यक है। संशय एक प्रकार का विघ्न है। जिस प्रकार संशय हमारी दूसरी शक्तियों को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार वह स्मरणशक्ति को भी नष्ट कर देता है।

पहचान (Recognition)—यह स्मृति का तीसरा अंग है। इसका आधार भी पुराने संस्कारों का मन में स्थिर रहना है। जो व्यक्ति हमारे दो-तीन बार के देखे हुए रहते हैं, उन्हें हम तुरन्त पहचान लेते हैं। शिक्षक लोग साधारणतया कहा करते हैं कि मुझे पुराने विद्यार्थियों के नाम स्मरण नहीं, पर उन्हें देखने पर पहचान सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि हमारी पहचानने की शक्ति स्मरणशक्ति से कितनी अधिक है। जैसे डेढ़ वर्ष के बालक की प्रयोग-शब्दावली (Application vocabulary) बीस शब्दों के लगभग होती है, किन्तु उसकी बोध-शब्दावली (Recognition vocabulary) डेढ़ सौ शब्दों के लगभग होती है। जैसे-जैसे मनुष्य की पहचानने की शक्ति, जो अनुभव पर निर्भर है, बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उसकी समझ में विकास होता जाता है। पहचानने की शक्ति और स्मरणशक्ति में पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करने की चेष्टा कई मनोवैज्ञानिकों ने की है। दोनों ही स्मृति के अङ्ग हैं। किन्तु पहचानने में पुराने संस्कारों को उत्तेजित करनेवाला कोई प्रत्यक्ष पदार्थ होता है। स्मरण में इस प्रकार की सुविधा नहीं होती। अतएव किसी वस्तु का पहचानना उसके स्मरण करने की अपेक्षा अधिक सरल है। परन्तु साधारणतया जिस व्यक्ति की जितनी अधिक पहचानने की शक्ति होती है, उतनी ही अधिक उसमें पुराने अनुभवों को पूर्णतया स्मरण करने की भी शक्ति होती है। प्रयोगों द्वारा पता चला है कि किसी भी व्यक्ति को दोनों प्रकार की योग्यताओं में ८२ प्र० श० सहयोग-सम्बन्ध (Co-efficient) होता है।

ध्यान (Attention)—ज्ञानोत्पादन का सब से महत्त्व का साधन ध्यान है। वास्तव में ध्यान और चेतना का क्षेत्र एक ही है, अतएव चेतना द्वारा

जितने कार्य होते हैं, वे सब ध्यान के ही कार्य हैं। इस दृष्टि से ध्यान मनुष्य की सब प्रकार की क्रियाओं, संवेगों और ज्ञान का नियन्त्रक सिद्ध होता है।

ध्यान का स्वरूप—ध्यान चित्त की एकाग्रता को कहते हैं। जब हम किसी वस्तु के ऊपर ध्यान देते हैं, तब उससे असम्बन्धित दूसरी वस्तुओं से उदासीन हो जाते हैं। वे हमारी चेतना के भीतर नहीं रहती। जब हम किसी जगह बैठे रहते हैं, तो अनेक प्रकार की संवेदनाएँ हमारी इन्द्रियों को उत्तेजित करती हैं। किन्तु इन उत्तेजक विषयों में वे सभी पदार्थ हमारे ध्यान को आकृष्ट नहीं करते; बल्कि उन उत्तेजक पदार्थों में से किसी एक को हमारी चेतना चुन लेती है, जिसपर चित्त की एकाग्रता हो जाती है। यह चित्त की एकाग्रता उस पदार्थ पर थोड़ी देर तक रहती है, फिर उस पदार्थ से हटकर दूसरे पर चली जाती है; क्योंकि हमारा मन बहुत चंचल है। जिस प्रकार मधुमक्खी मधु के लिये एक फूल से दूसरे फूल पर हरदम जाया करती है, उसी प्रकार हमारा मन एक विषय से हटकर दूसरे विषय पर जाता रहता है। जो मनुष्य जितनी देर तक एक वस्तु पर ध्यान लगा सकता है, वह उतना ही अपने विचार को विकसित कर सकता है और संसार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करने में सफल हो सकता है।

हमने ध्यान के विषय में यह कहा है कि उसका विषय हरदम बदलता रहता है, इससे यह न समझना चाहिये कि वह एक विषय पर देर तक ठहर ही नहीं सकता। यदि ऐसा हो, तो विचारों और क्रियाओं का विकास ही असम्भव हो जाय। इसलिये किसी विषय या वस्तु पर ध्यान का टिकना उस विषय या वस्तु की उपादेयता पर निर्भर है। जैसे घड़ी में टिक्-टिक् शब्द पर हमारा ध्यान नहीं टिकता, पर किसी के चरित्र पर तथा किसी देश की उपज या वृद्धि पर टिकता है। वास्तव में हमारे ध्यान का मुख्य कार्य अनेक कामों में एकता स्थापित करना है। जैसे किसी मनुष्य के चरित्र का विचार करते समय हम उसके भिन्न-भिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात करते हैं और उसके जीवन के सिद्धान्तों तथा उसकी क्रियाओं में सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। इस तरह हमें एक व्यक्ति के विषय में हजारों बातें सोचनी पड़ती हैं, किन्तु ध्यान के इन हजारों विषयों को हमारा एक लक्ष्य सूत्रीभूत करता है। वास्तव में ध्यान का मुख्य कार्य अनेकता में एकता स्थापित करना है। जो मनुष्य जितना ही इस प्रकार की एकता स्थापित कर सकता है, वह उतना ही मनस्वी कहा जाता है। ऐसी एकता स्थापित करने के लिये मनुष्य को अपनी अनेक प्रवृत्तियों को संयत करके रखना पड़ता है, मन को दूसरी ओर जाने से रोकना पड़ता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने मन को क्षणिक प्रलोभनों से रोक लेता है और विवेक से निश्चित किये हुए विषय पर उसे एकाग्र करने की सदा चेष्टा किया करता है।

ध्यान के प्रकार—मनोवैज्ञानिकों ने ध्यान को कई प्रकार से विभक्त किया है :—

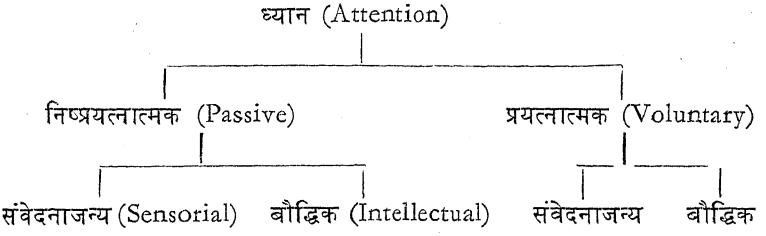

विचार (Thought)—विचार मन की वह क्रिया है, जिसके द्वारा हम अपने पुराने अनुभव के आधार पर किसी नये निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। विचार के लिये दो बातें अत्यन्त आवश्यक हैं—(१) प्रत्यय (Concept) तथा सम्बन्ध-ज्ञान (Association of Ideas) की वृद्धि और (२) रचनात्मक मानसिक क्रिया (Constructive mental activity)। पुराने अनुभव का मन में दुहराया जाना ही विचार नहीं है। यदि विचार का लक्ष्य पुराने अनुभव को दुहराया जाना ही हो, तो उसका कार्य स्मृति से भिन्न नहीं होगा। विचार का लक्ष्य नई बातों को सोचना होता है। मनुष्य जब किसी नई परिस्थिति में पड़ जाता है, तो अपनी समस्या को सुलझाने के लिये पुराने अनुभव को काम में लाता है। किन्तु उसके विचार करने का मुख्य उद्देश्य इस नई परिस्थिति में अपने-आपको सफल बनाना रहता है। इसके लिये नये ज्ञान की आवश्यकता होती है। नया ज्ञान विचार के द्वारा ही प्राप्त होता है।

प्रत्ययन (Conception) **के स्वरूप**—प्रत्यय-ज्ञान के आविर्भाव के लिये अनुभव में आनेवाले पदार्थों के कुछ गुणों को दूसरे गुणों से मिलान तथा अलग करना आवश्यक है। अर्थात् अपने पुराने अनुभव के आधार पर नये अनुभव में आये हुए पदार्थों का नामकरण ही विश्लेषण (Analysis) तथा संश्लेषण (Synthesis) के द्वारा मनुष्य करता है। इस प्रकार अनुभूत पदार्थों के किस गुण को प्रत्यय के आविष्कार में मनुष्य प्रधानता देगा, यह उसके अनुभव तथा उसकी आवश्यकता पर निर्भर है। यदि उसके अनुभव में नारंगी तथा बेर इतने अधिक नहीं आये कि वह उनकी विशेषता पर ध्यान दे और यदि उसका काम बेर कहने से चल जाता है, तो उसे नारंगी का प्रत्यय सीखने की न तो सामग्री है, न आवश्यकता। जैसे एक बालक नारंगी और बेर को देखकर उनके रंग और गोलाई का ध्यान कर दोनों का एक ही नाम रख दे, तो इससे उसके अनुभव के विश्लेषण करने की शक्ति तथा अनेक अनुभवों में सामान्य बात को खोज सकने की शक्ति प्रदर्शित होती है। अनुभव का विश्लेषण करना और उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार सम्बद्ध करना—विचार का प्रधान

कार्य है। यह विचार विकास की सब आवश्यकताओं में पाया जाता है। यह प्रत्ययन (Conception) की क्रिया में स्पष्टतया देखा जाता है।

प्रत्यय के अभाव में किसी वस्तु का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियगोचर पदार्थ संवेदनामात्र (Sensation) रह जाता है तथा प्रत्यक्ष पदार्थ के अभाव में उसके विषय में सोचा नहीं जा सकता। एक प्रत्यय अनेक वस्तुओं को संकेत कर सकता है। यह ज्ञान होते ही मनुष्य की संसार में व्यवहार करने की शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह अब परिस्थितियों का दास न रहकर उनका स्वामी बनने की चेष्टा करने लगता है। मनुष्य और पशु में यदि हम एकमात्र भेद करनेवाला गुण देखना चाहें, तो वह मनुष्य में प्रत्यय-ज्ञान की उपस्थिति और पशुओं में उसका अभाव है। पशुओं में अपने पुराने अनुभव के विषय में विचारने की शक्ति नहीं होती। उनका ज्ञान दृष्टिगोचर विषय तक ही सीमित रहता है। वे प्रत्येक अनुभव के विषय को अलग-अलग देखते हैं। उनमें उनके सामान्य गुणों को जानने की शक्ति इतनी विकसित नहीं होती कि वे प्रत्यक्ष वस्तुओं का वर्गीकरण (Classification) कर सकें। इस वर्गीकरण के लिये भाषा-ज्ञान की आवश्यकता है। पशुओं की भाषा निरर्थक भाषा के समान होती है। उससे वे अपने सुख-दुःखों को अवश्य प्रकट कर लेते हैं, पर उससे उनकी समझ में कोई सहायता नहीं मिलती। बालकों की भाषा भी प्रारम्भ में पशुओं के समान ही निरर्थक होती है, पर उनको उस निरर्थक भाषा से भी समझ में सहायता मिलती है। इसीलिये वे अपने 'चू-च' आदि अस्पष्ट शब्दों का शनैः-शनैः किसी वस्तु-विशेष के साथ सम्बन्ध जोड़कर उसका ज्ञान कर लेते हैं, जिससे उनके मन में प्रत्यय-ज्ञान का आविर्भाव होता है। जैसे-जैसे बालक के भाषा-ज्ञान की वृद्धि होती है, उसके प्रत्यय-ज्ञान की भी वृद्धि होती है। वह संसार के अनेक पदार्थों के सामान्य गुणों और भेदों को समझने लगता है। इस प्रकार बाल्यकाल से लेकर मनुष्य जन्म भर अपने प्रत्यय-ज्ञान की वृद्धि करता रहता है। मनुष्य का भाषा-ज्ञान उसके प्रत्यय-ज्ञान की वृद्धि का सूचक है।

सम्बन्ध-ज्ञान और विशेषण-ज्ञान—मानव के विचार-विकास की तीसरी अवस्था सम्बन्ध और विशेषण-ज्ञान की है। इस अवस्था का श्रीगणेश बाल्यावस्था में ४-५ वर्ष के बीच में होता है। इस अवस्था में पहली अवस्थाओं का भी कार्य होता है, अर्थात् बालक का वस्तु-ज्ञान और क्रिया-ज्ञान भी बढ़ता है। बालक के इस विचार-विकास की अवस्था पहचानने के लिये हम कई प्रकार की परीक्षा कर सकते हैं। जैसे—यदि बालक को कोई चित्र दिखावें, तो वह वस्तु-ज्ञान की अवस्था में वस्तु का ही नाम लेगा, पर क्रिया-ज्ञान की अवस्था में

उनकी क्रियाओं को भी बता देगा। इसी प्रकार तीसरी अवस्था में भी वह वस्तुओं के आपस के सम्बन्ध को तथा उनके गुणों को भी बता देगा। इस ज्ञान के साथ-साथ उसकी भाषा में परिवर्तन पाया जायगा। वस्तु-ज्ञान की अवस्था में भी उसका शब्द-भण्डार संकुचित रहता है। दूसरी अवस्था में उसकी वृद्धि हो जाती है। क्रियापद उसकी भाषा में आ जाते हैं। सम्बन्ध-ज्ञान की अवस्था प्राप्त होते ही उक्त दोनों प्रकार के शब्दों की वृद्धि तो होती ही है, साथ-ही-साथ सम्बन्ध-सूचक और विशेषण-सूचक शब्द भी उसकी भाषा में आ जाते हैं। उसकी स्मृति की परीक्षा करके भी हम पता लगा सकते हैं कि उसके विचार में कितना विकास हुआ है। ज्यों-ज्यों उसके विचार का विकास होता जाता है, वह वस्तुओं के विविध पहलुओं को समझने लगता है और उनके गुण-दोष का विचार करने लगता है। इस प्रकार उसको अपने निश्चय या निर्णय में सहायता मिलती है।

मानसिक रचनात्मक क्रिया—जब मनुष्य के विचार-विकास में आलोचनात्मक निर्णय करने की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, तब वह अपनी आलोचनाओं के आधार पर कुछ नवीन कार्य करने की कल्पना करता है। वह अपने हिताहित का विचार कर अपने सुख-समृद्धि के लिये नई सृष्टि की कल्पना करता है।

मनोविश्लेषण—वैज्ञानिकों ने मन की तुलना समुद्र में तैरते हुए बर्फ के पहाड़ (आइसबर्ग) से की है। जिस तरह आइसबर्ग का अधिकांश भाग पानी के नीचे रहता है और पानी की सतह के ऊपर रहनेवाला भाग सम्पूर्ण आइसबर्ग का थोड़ा ही भाग रहता है, उसी तरह हमारे मन का अधिक हिस्सा इतना छिपा हुआ रहता है कि वह चेतन मन की पहुँच के बाहर होता है।

हमारे समस्त मन का थोड़ा ही हिस्सा चेतन मन है, अधिक भाग अदृश्य तथा अव्यक्त मन है। पर यह अदृश्य मन अक्रिय नहीं है। जिस प्रकार चेतन मन सक्रिय है, उसी प्रकार अदृश्य मन भी है। वास्तव में अदृश्य मन की क्रियाएँ ही चेतन मन की अधिक क्रियाओं का संचालन करती हैं। इस तरह अदृश्य मन और चेतन मन में कार्य-कारण का सम्बन्ध है।

दृश्य और अदृश्य मन का सम्बन्ध नाटचशाला की व्यवस्था से तुलना करके समझाया जा सकता है। जिस प्रकार किसी नाटचशाला में होनेवाले खेल के समस्त पात्र एक साथ ही परदे के सामने नहीं आते, उसी तरह हमारे अदृश्य मन में रहनेवाली समस्त भावनाएँ तथा वासनाएँ व्यक्त मन के समक्ष एक ही साथ नहीं आतीं। परदे के सामने होनेवाली घटनाओं का संचालन परदे के भीतर से होता है, इसी तरह हमारे चेतन मन में होनेवाली घटनाओं का संचालन भी अदृश्य मन से होता है। यहाँ पर मन के तीन भाग स्पष्ट होते हैं, जिस तरह नाटचशाला के तीन विभाग हैं—(१) परदे के सामने आनेवाला

पात्र, (२) परदे के पीछेवाला पात्र (Prompter) और (३) सूत्रधार। इसी तरह (१) चेतन मन, (२) अचेतन मन और (३) नियन्ता—यों मन के तीन विभाग किये जा सकते हैं। नियन्ता ही यह निश्चय करता है कि कौन पात्र कब स्टेज पर आयेगा, उचित-अनुचित का ज्ञान उसे ही रहता है। इसी तरह हमारे मन में भी एक नियन्ता मन है, जो किसी भी इच्छा को व्यक्त चेतना में आने या न आने का निर्णय करता है। इन तीन भागों की कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार से अनेक वैज्ञानिकों ने की है तथा उनके भिन्न-भिन्न नाम भी दिये हैं। किसी ने इन्हें चेतन (Conscious), अर्धचेतन (Sub-conscious) या (Pre-conscious) तथा अचेतन (Unconscious) नाम दिया है, तो किसी ने इन्हें अहंकार (Ego), नैतिक मन (Super-ego) तथा अव्यक्त मन (Id) कहा है।

अव्यक्त मन के कार्य—हम अव्यक्त मन का स्वरूप स्पष्टतः स्वप्नों में देखते हैं। मनोविश्लेषण-विज्ञान के अनुसार स्वप्न हमारी दबी हुई वासनाओं के कार्य हैं। मनोविश्लेषण-विज्ञान का यह मौलिक सिद्धान्त है कि हमारी प्रत्येक वासना चेतन मन में आकर अपनी परितृप्ति की चेष्टा करती है। इस प्रकार हमारी अनेक वासनाएँ जागृत अवस्था में तृप्त हो जाती हैं। वास्तव में मनुष्य जो संसार के अनेक व्यवहारों में लगते हैं, वे इन वासनाओं की तृप्ति के हेतु ही लगते हैं। किन्तु कितनी ही वासनाएँ ऐसी भी हैं, जो हमारी जाग्रत अवस्था में अनुकूल वातावरण प्राप्त न होने के कारण तृप्त नहीं हो पातीं अथवा जो हमारी नैतिक धारणा के प्रतिकूल होने के कारण दमन कर दी जाती हैं। इन वासनाओं का विनाश नहीं होता। वे किसी दूसरे प्रकार से अपनी तृप्ति की चेष्टा करती हैं। स्वप्न-संसार इन वासनाओं का रचा हुआ होता है। स्वप्न मन की अर्धचेतन अवस्था है। जो वासना पूर्ण चेतन अवस्था में तृप्त नहीं हो पाती, वह अर्धचेतन अवस्था में तृप्त होने की चेष्टा करती है। कितने ही स्वप्नों में हम अपने बिछुड़े प्रयोजनों को देखते हैं और कभी जो धन खो गया है, उसे पा जाते हैं। बालकगण स्वप्न में मिठाई खूब खाते हैं और परीक्षा में पास होते हैं। ये सब स्वप्न अवश्य ही मन की अतृप्त अभिलाषाओं की पूर्ति करते हैं। परन्तु हम ऐसे भी स्वप्न देखते हैं, जिनका न तो अर्थ समझते हैं और न जिनका हमारे जाग्रत जीवन से कोई सम्बन्ध ही जान पड़ता है। मनोविश्लेषण-विज्ञान का कथन है कि ऐसे स्वप्न भी हमारी गुप्त वासनाओं की पूर्ति मात्र हैं। ये स्वप्न किन्हीं ऐसी वासनाओं के छिपे रूप हैं, जो हमारी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल हैं।

प्रतिबन्धक व्यवस्था (Censor)—हमारी नैतिक बुद्धि, हमारे चेतन मन और अव्यक्त मन के बीच एक प्रतिबन्ध खड़ा कर देती है। यह एक

प्रकार से सेंसर आफिस का काम करती है। जो वासनाएँ हमारी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल हैं, वे चेतना के समक्ष आने ही नहीं पाती। हमारी जाग्रत अवस्था में यह नैतिक बुद्धि सचेत रहती है और अनैतिक इच्छाओं का दमन किया करती है। पर सुप्त अवस्था में यह नैतिकबुद्धि भी सुप्त हो जाती है और स्वप्न में अर्धचेतन रहती है। ऐसी ही अवस्था में अनैतिक बासनाएँ छिपे रूप से तृप्ति पाने की चेष्टा करती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि स्वप्न एक प्रकार से सांकेतिक रूप से वासनाओं की तृप्ति पाने की चेष्टाओं का परिणाम है। हरएक स्वप्न का कुछ-न-कुछ अर्थ होता है, जो हमारी वासनाओं से सम्बन्ध रखता है, और यदि हम अपने स्वप्नों को भलीभाँति समझ जायँ, तो अवश्य ही उनका सम्बन्ध अपनी वासनाओं से पायँगे। दबी हुई वासनाएँ स्वप्नावस्था में परिवर्तित, संक्षिप्त, सम्मिश्रित और प्रभावित होकर प्रकट होती रहती हैं। स्वप्न में वास्तविक इच्छा का जानना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि प्रकाशित स्वप्न (Manifest dream) वास्तविक स्वप्न (Latent dream) से कभी-कभी बिल्कुल भिन्न होते हैं और प्रायः जितने स्वप्न हम देखते हैं, उतने स्मरण भी नहीं रह पाते, क्योंकि हमारी नैतिक बुद्धि उनकी स्मृति का दमन करती है। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे—"एक नवयुवती को स्वप्न हुआ कि वह स्वप्न में सोने के काम किये हुए जूते पहने हुई है।" स्वप्न जब विश्लेषित किया गया, तो विदित हुआ कि स्वप्न किसी गहरी आन्तरिक इच्छा का सूचक है। युवती अपने दाम्पत्य जीवन से सुखी न थी। वह अपनी सहचरी के दाम्पत्य पर ईर्ष्या करती थी, क्योंकि उक्त सहचरी के पति को पहले उसने अस्वीकार कर तिरस्कृत किया था। एक दिन जब वह उसके घर मेहमान बनकर गई, तो देखा कि उसकी सहचरी सुनहरे जूते पहने हुई है। इससे उसे पूर्व स्मृति की याद आई। वह सोचने लगी कि यदि मेरा ब्याह इसी व्यक्ति से होता, तो मैं भी आज सुनहरे जूते पहने होती। इस प्रकार आन्तरिक अभिलाषा की पूर्ति स्वप्न में हो गई। ऐसे अनेक दृष्टान्त लिखे जा सकते हैं।

आयुर्वेद-शास्त्र में स्वप्न की परिभाषा बहुत ही सुन्दर और व्यापक है, जैसे—"सर्वेन्द्रियव्युपरतौ मनोऽनुपरतं यदा। विषयेभ्यस्तदा स्वप्नं नाना रूपं प्रपश्यति।" (चरक)। अर्थात् जब सब इन्द्रियाँ क्लान्त होकर विषयों से निवृत्त हो जाती हैं, पर मन कर्म पर होता है अर्थात् विषयों से निवृत्त नहीं रहता, उस समय मन के कार्य पर होने से, निद्रितावस्था में भी नाना प्रकार का स्वप्न मनुष्य देखता है। और भी—"नातिप्रसुप्तःपुरुषः सफलानफलानपि। इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा।" (चरक) अर्थात् जब मनुष्य की निद्रा गाढ़ी नहीं होती, तो वह सफल तथा अफल अनेक प्रकार के स्वप्नों को इन्द्रियेश—मन के द्वारा देखता है।

मन दोषपूर्ण होने से स्वप्न दिखाई पड़ते हैं। "मनोवहानां पूर्णत्वात् दोषैरति-बलैस्त्रिभिः। स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे॥" (चरक)। अर्थात् मनोवाही स्रोत जब अतिबली तीनों दोषों से परिपूर्ण होते हैं, तब दारुण समय में दारुण स्वप्न मनुष्य देखता है। इन्द्रियों का विषयों से निवृत्त होना और मन का निद्रितावस्था में भी कार्य पर रहना तथा मनोवाही स्रोतों का बली दोषों से परिपूर्ण होना स्वप्न के कारणों में है। ऐसा उक्त श्लोकों से ज्ञात होता है।

अभी मन के समझाने के लिए जल में पड़े हुए बर्फ के पहाड़ (आइसबर्ग) की उपमा दी गई है और कहा गया है कि मन का भी अधिक हिस्सा उक्त आइसबर्ग की तरह अव्यक्त रहता है। पर वह अव्यक्त मन भी व्यक्त मन के समान ही सक्रिय है। यहीं तक नहीं, बल्कि अव्यक्त मन व्यक्त मन का प्रोम्पटर है। निद्रितावस्था में व्यक्त मन अपने कार्य पर बाह्य विषयों के सम्पर्क के अभाव से नहीं रहता; परन्तु अव्यक्त मन के अन्दर जो वासनाएँ किसी भूत काल में संचित हुई होती हैं, वे उस समय पूरी होती हैं, जैसा कि पहले उदाहरण से स्पष्ट हुआ है।

योगवाशिष्ठ में मन के एक होने पर भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न वृत्तियों से उसे असंख्य कहा है और असंख्य कहकर उनके प्रधान तीन समुदायों का वर्णन किया गया है, जैसे—जाग्रत मन, स्वप्न मन और सुषुप्त मन। इनमें स्वप्न मन का कार्य उपर्युक्त वर्णन में अभिप्रेत है। आयुर्वेद मानव मन या शरीर के किसी भी क्रिया को मन तथा शरीर में होनेवाली विकृतियों का निर्देश कर बतलाता है, अतः उपर्युक्त श्लोक में यह कहा गया है कि मनोवाही स्रोतों में दोषों के भर जाने से जब मनुष्य को गाढ़ी नींद नहीं आती, तब मनुष्य निद्रितावस्था में नाना प्रकार के स्वप्नों को देखता है। इन स्वप्नों के अनेक कारण होते हैं। अतः कारणों के अनुसार इनके प्रकारों का भी वर्णन मिलता है। जैसे—स्वप्न सात प्रकार के होते हैं—"दृष्टं श्रुतानुभुतंच प्रार्थितं कल्पितं तथा। भाविकं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः॥" (चरक)। अर्थात् (१) दृष्ट स्वप्न, (२) श्रुत स्वप्न, (३) अनुभूत स्वप्न, (४) प्रार्थित स्वप्न, (५) कल्पित स्वप्न, (६) भाविक स्वप्न और (७) दोषज स्वप्न। ये सभी स्वप्न किसी कारणवश दबी हुई वासनाओं के ही परिणाम होते हैं।

अर्वाचीन मनोविज्ञान का मनोविश्लेषण भी इसी अर्थ को और अन्य ढङ्ग से प्रतिपादित करता है। जैसा श्रीयुत् मायर ने एक उदाहरण देकर बतलाया है कि—"एक व्यक्ति ने स्वप्न में अपने चाचा को मरते देखा, जिसकी मृत्यु बहुत पहले हो चुकी थी।" यह स्वप्न उसे अनेक बार हो जाया करता था। विश्लेषण करने पर विदित हुआ कि स्वप्न उसे उसी समय होता था,

जब-उसे आर्थिक कष्ट होता था। चाचा की मृत्यु ने उसे एक समय आर्थिक कष्ट से सामयिक छुटकारा दिया था। पर अब वह जब आर्थिक कष्ट में आता था, तो अपने पिता की मृत्यु की बात सोचता था। पिता के साथ उसकी अनबन थी और वह पिता से पृथक् रहता था। यह वासना अव्यक्त मन में होने के कारण आर्थिक संकट के अवसर पर चाचा की मृत्यु के रूप में आ जाया करती थी। यहाँ पिता का स्थान चाचा ने ग्रहण कर लिया। (आयुर्वेद का यह अनुभूत तथा प्रार्थित स्वप्न कहा जा सकता है।) इस मनुष्य के अव्यक्त मन में पिता के मरने की इच्छा होते हुए भी नैतिक बुद्धि के विरुद्ध होने के कारण उसके व्यक्त मन में नहीं आती थी। अतएव यह इच्छा चाचा की मृत्यु के रूप में प्रकाशित हुई। यह स्वप्न का परिवर्तित रूप है।

सांकेतिक चेष्टाएँ (Automatic symptomatic acts)—जिस प्रकार दबी वासनाएँ स्वप्नों व रोगों का कारण होती हैं, उसी तरह वे अनेक सांकेतिक चेष्टाओं का भी कारण होती हैं। होठों का काटना, नाक सिकोड़ना, मुँह मोड़ना, दाँत से नाखून काटना, पैर और जीभ हिलाना आदि चेष्टाएँ ऊपरी दृष्टि से कारणरहित प्रतीत होती हैं, परन्तु ये सब शारीरिक चेष्टाओं के गुप्त कारण होते हैं। ये चेष्टाएँ अनेक दबी हुई इच्छाओं के द्योतक हैं। इनके द्वारा दबी हुई वासनाएँ सांकेतिक रूप से तृप्त होने की चेष्टा करती हैं। सांकेतिक चेष्टाओं की उत्पत्ति शेक्सपियर द्वारा वर्णित लेडी मैक-बेथ की स्वप्न-चेष्टा से भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। लेडी मैक-बेथ अपनी स्वप्नावस्था में अचानक उठ बैठती थी और अपनी दासी को बुलाकर उससे पानी माँगकर हाथ धुलाने को कहती थी। उसे उस अवस्था में अपने हाथ रक्तरञ्जित दिखाई देते थे। दासी इस प्रकार की चेष्टाओं को देखकर चकित हो जाती थी।

वास्तव में लेडी मैक-बेथ ने अपनी अन्तरात्मा की आवाज के प्रतिकूल अपने घर में आये अतिथि राजा डंकन को, जो बड़ा सत्पुरुष था, मारने के लिये अपने पति को प्रोत्साहित किया था। अपने इस कुकर्म से उसे बड़ी आत्मग्लानि थी और उसे वह भूल जाने की चेष्टा करती रहती थी। इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि लेडी मैक-बेथ ने अपने व्यक्त मन से तो इस पाप को भुला दिया, पर वह उसके अव्यक्त मन में वर्तमान रहा। उसे अपनी अर्धचेतना में अपने हाथों पर रक्त के छींटे दिखाई पड़ते थे। व्यक्त मन पाप को स्वीकार नहीं करना चाहता था। वह पाप की अवाञ्छनीय स्मृति को दबाना चाहता था, पर अव्यक्त मन उतनी ही प्रबलता से उसे स्मरण रखने की चेष्टा करता था। इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण उस महिला की असाधारण मानसिक दशा हो गई और उसका पाप सांकेतिक चेष्टाओं के रूप में परिणत हो गया।

कितने ही लोग हाथ मलते रहते हैं, कितने अकारण बगल में झाँका करते हैं, कितने सिर खुजलाते हैं और हाथ धोने की चेष्टाएँ अपनी जागृत अवस्था में करते रहते हैं। लेडी मैक-बेथ जिस प्रकार अपनी स्वप्नावस्था में सांकेतिक चेष्टाएँ करती थी, उसी प्रकार जागृत अवस्था में कितने लोग सांकेतिक चेष्टाएँ करते रहते हैं। इन चेष्टाओं का कारण भी दबी हुई भावनाएँ हैं। इन चेष्टाओं के करते समय व्यक्ति को पता नहीं रहता कि वह कोई असाधारण चेष्टाएँ कर रहा है। वे वास्तव में अर्धचेतन अवस्था में ही होती हैं, उनका ज्ञान चेतन मन को नहीं रहता।

विस्मृति—जिस तरह दबी हुई वासनाएँ स्वप्न और सांकेतिक चेष्टाएँ उत्पन्न करती हैं, उसी तरह वे असाधारण विस्मृति का कारण भी होती हैं। एक महिला अपने पूर्व प्रेम-भाजन के रूप को इतना भूल गई कि वह उसे पहचान भी नहीं सकती थी। इस व्यक्ति ने उस महिला को निराश कर दिया था। जिन घटनाओं से आत्मग्लानि होती है, उन्हें हमारा मन चेतना के समक्ष आने से रोकता है। जिन लोगों को हम नहीं चाहते, उनका नाम भी हमें याद नहीं रहता। हम प्रायः दूसरों से उधार लिया रुपया भूल जाते हैं। उधार ली हुई किताबों का भूल जाना तो साधारण-सी बात है। इसे विषयों की स्मृतिवाले प्रकरण में स्पष्ट किया गया है, वहीं देखें।

विक्षिप्तता—दबी हुई भावना-ग्रन्थियाँ अनेक प्रकार की मानसिक विक्षिप्तता उत्पन्न करती हैं। स्वप्नावस्था में चलना, बकना आदि भी मानसिक विक्षिप्तता ही है। इसका कारण भी भावना-ग्रन्थियाँ हैं। जब किसी व्यक्ति के हृदय पर किसी घटना से विशेष आघात पहुँचता है, तो वह विक्षिप्त हो जाता है। उसके व्यक्त और अव्यक्त मन में एकत्व नहीं रहता। विक्षिप्तता दुःख को चेतना से अलग करने की चेष्टामात्र है। जब कोई मनुष्य किसी ऐसी परिस्थिति में पड़ जाता है जिसमें उसकी आन्तरिक अभिलाषाओं की पूर्ति की कोई सम्भावना नहीं दिखाई देती, तो वह ऐसी अवस्था में बाह्य-जगत् को भूल जाता है और अपने अन्तर्जगत् में ही विचरण करने लगता है।

रोगों की उत्पत्ति—जिस प्रकार दबी हुई वासनाएँ स्वप्न को उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार वे नाना प्रकार की व्याधियाँ भी उत्पन्न करती हैं। डा० फ्रायड तथा अन्य मानसिक चिकित्सा-विशेषज्ञ मधुमेह, चर्मरोग, कुष्ठ, बदहजमी, शूल, लकवा, अपस्मार, अपतन्त्रक, उन्माद आदि रोगों के रोगियों को चित्त-विश्लेषण द्वारा अच्छा किया करते थे। गत महासमर के समय कितने ही सैनिकों को पक्षाघात (लकवा) की बीमारी हो गई थी। वास्तव में ये सैनिक युद्ध के भीषण कार्य से छुटकारा चाहते थे, पर वह सम्भव नहीं था। अतः उनके अव्यक्त मन ने

एक रास्ता निकाला, जिससे उन्हें युद्ध में कार्य करने के लिए कोई बाध्य नहीं कर सकता था। इसी प्रकार एक व्यक्ति अपनी स्त्री से, जिसे वह व्यभिचारिणी समझता था, बचना चाहता था; पर वह अपनी मान-मर्यादा के कारण तलाक नहीं दे सकता था। ऐसी परिस्थिति में उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो गया और वह अन्धा हो गया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

अव्यक्त मन और मनोविकास—चित्त-विश्लेषण या मनोविश्लेषण-विज्ञान का अध्ययन मन की उलझनों को समझने के लिए परम आवश्यक है। इस विषय के अज्ञान से व्यक्ति और समाज का कितना अपकार हो रहा है, यह सर्वविदित है। हम नित्य-प्रति देखते हैं कि प्रत्येक घर तथा समाज में नित्य-प्रति विग्रह की मात्रा बढ़ रही है। इनके कारणों का मनोविश्लेषण द्वारा पता लगाया जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न मनोवेगों को दबाने से अव्यक्त मन में भावना के रूप में जा बैठते हैं और पुनः अनुकूल परिस्थिति को पाकर वे भावनाएँ चेतन-मन की जानकारी के बिना ही भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती रहती हैं।

इसे समझने के लिए यदि हम मनुष्य के शैशवकाल का अध्ययन करें, तो यह स्पष्ट हो जायगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने शैशवकाल में अनेक प्रकार के दुःख और दमन को सहता है। उसकी आन्तरिक भावनाएँ और इच्छाएँ विकास का मार्ग नहीं पातीं। बड़े-बूढ़े सदा उसके स्वाभाविक वृत्तियों का दमन किया करते हैं। फ्रांस के रूसो नामक मनोविज्ञानवेत्ता ने अपनी 'एमिल' नामक पुस्तक में इस प्रकार की चेष्टा का अनौचित्य भलीभाँति बताया है। इसका असर पश्चिम के विद्वानों और शिक्षकों पर पर्याप्त रूप से पड़ा है। इसलिये उनका दृष्टिकोण बालक के स्वभाव की ओर बहुत कुछ बदल गया है। आजकल के किंडरगार्टन, मान्टोसरी शिक्षा-पद्धति तथा डाल्टन प्लैन इसी के परिणाम हैं। भारतवर्ष के नेताओं का भी ध्यान इस ओर आकृष्ट हो रहा है और वे बालकों के शिक्षणार्थ अनेक प्रकार की नई-नई योजनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

देखा जाता है कि अभिभावक तथा शिक्षक बालकों की भावनाओं का आदर नहीं करते। वे यह भी नहीं जानते कि उनकी बचपन की चेष्टाओं और इच्छाओं का बालक के जीवन के विकास में कितना महत्त्व है। जब बालक अनेक प्रकार के खाने की मीठी-मीठी चीजें माँगता है, तो बहुधा हम उसकी इन इच्छाओं का तिरस्कार कर देते हैं। परिणाम यह होता है कि बालक चोरी कर अपनी उन इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयत्न करता है। तब हम यह समझते हैं कि बालक को शैतान ने काबू कर लिया है और फिर उसे दण्ड देने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप बालक डर से अपनी बुरी आदतों को बाह्य रूप से तो छोड़ देता है, पर वास्तव में

उसके चरित्र पर उसका कुछ असर नहीं होता। उसकी आदतें ज्यों-की-त्यों बनी रहती हैं और लुक-छिप कर वह उनकी पूर्ति किया करता है। यदि कभी उसे इस पूर्ति का अवसर नहीं प्राप्त होता, तो उसकी यह भावना उसके अव्यक्त-मन में बद्धमूल हो जाती है, जो आगे चलकर उसके मन पर इतना आघात पहुँचाती है कि उसे विभिन्न मनोविकार हो जाते हैं और उसके विकार का ऊहापोह हमारे लिए सदा रहस्य बना रहता है। यहीं तक नहीं, असंख्य बालकों के व्यक्तित्व की उन्नति इसलिए रुक जाती है कि उनके शिक्षक उनकी आन्तरिक भावनाओं, इच्छाओं और प्राकृतिक आवश्यकताओं को नहीं जानते। हमें ऐसे अनेक बालक दिखाई देते हैं, जिनके चेहरे से बुद्धूपन टपकता है।

इसका कारण उनके प्रति लोगों की उदासीनता का व्यवहार रहा, उनका पालन-पोषण प्रेम से नहीं किया गया, उनको अनेक प्रकार के नैतिक बन्धनों में असमय डालने का प्रयत्न किया गया, जिससे उनकी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाई। इस प्रकार की स्पष्ट घटनाओं का अनेक उल्लेख 'साइको-एनेलिसिस एण्ड एजूकेशन' नामक पुस्तक में मिलते हैं। जैसे—एक बहुत ही योग्य महिला ने अपने आजीविकोपार्जन के लिये १९ वर्ष की उम्र में शिक्षक का कार्य ग्रहण किया। वह अपने घरेलू झगड़ों के कारण घर छोड़कर एक रईस के तीन बालकों की अभिभाविका और शिक्षिका बनी। उन तीन बालकों में से मँझले को शिक्षा देने में उसे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। वह बालक पाठ याद करने में सदा पिछड़ जाता था और देखने में बड़ा बुद्धू मालूम होता था। अतः परिवार में भी उसका उच्च स्थान नहीं था। उसके दोनों भाई हरवक्त उसकी अपेक्षा अधिक सम्मानित होते थे। अभिभाविका ने अपनी सारी शक्ति इसी बालक की शिक्षा और सुधार में लगाई और थोड़े ही समय में बड़ी ही सफलता प्राप्त की। वह लड़का उसे बहुत प्यार करने लगा और अपने सभी भाव उसके समक्ष प्रकट करने में वह बिलकुल नहीं हिचकता था। उसका मन पढ़ाई में खूब लगने लगा और अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा वह अपना पाठ शीघ्र याद करने लगा। अब वह अपने दोनों भाइयों से पढ़ाई में किसी तरह पीछे नहीं रहता था। उसके माता-पिता अब उसे खूब प्यार करने लगे। कुछ दिनों में ही उसका स्थान अपने कुटुम्ब में सर्वप्रथम हो गया। पर इस समय एक नई समस्या उपस्थित हो गई। अब उस अध्यापिका और बालक में मनोमालिन्य तथा संघर्ष पैदा हो गया। कुछ दिनों बाद अध्यापिका को वहाँ की नौकरी छोड़नी पड़ी। इसके कुछ दिनों बाद उस अध्यापिका की परीक्षा एक चित्तविश्लेषक ने की, तो पता लगा कि अपने बचपन में वह अध्यापिका भी उस बालक की तरह ही तिरस्कृत जीवन व्यतीत करती

थी इसीलिए उसके अव्यक्त मन ने उस बालक से अपनी तादात्म्यता कर ली थी। उस बालक को प्यार करने तथा उसके बारे में चिन्ता करने का अर्थ यह था कि उसकी अन्तरात्मा संसार को कहती थी कि मेरे जीवन को सफल बनाने के लिये मुझे इस तरह से रखना चाहिये था। ये सब भावनाएँ अव्यक्त-मन की थीं। अध्यापिका के व्यक्त-मन को इसका कुछ भी भान नहीं था, अतः जब बालक को सफलता प्राप्त हो गई, तो उस तादात्म्य का अन्त हो गया और वह अध्यापिका उसको प्यार न कर अब उससे द्वेष करने लगी।

उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि उत्तम व्यक्तित्व तभी प्राप्त हो सकता है, जब मनुष्य के अव्यक्त और व्यक्त-मन में एकता उत्पन्न हो। अर्थात् मनुष्य के व्यक्त और अव्यक्त भावनाओं में विषमता न हो। दबी हुई वासनाएँ, स्वप्न, अशान्ति, अनेक प्रकार के रोग तथा असामाजिक प्रवृत्ति उत्पन्न कर देती हैं। ये बातें अर्वाचीन मनोविज्ञान सम्बन्धी खोजों से भी विदित हुई हैं। खोज करने से मालूम हुआ है कि मनुष्य की अस्वाभाविक चेष्टाएँ भावनाओं के दबाने से उदित होती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अविचारपूर्ण कठोर दमन से मनुष्य के व्यक्तित्व को बड़ी क्षति होती है।

कभी-कभी दबी हुई वासनाएँ मानसिक विकास का अवरोधक बन जाती हैं। शरीर तो बढ़ जाता है, पर मानसिक स्थिति जैसी की तैसी ही बनी रहती है, अर्थात् बचपन के समान ही रह जाती है। अंग्रेजी साहित्य के प्रमुख लेखक डिकेन्स को बुढ़ापे में भी सोने के आभूषणों का बहुत शौक था। यह उनके बचपन की अपूर्ण अभिलाषाओं की पूर्ति मात्र थी। शैशवकाल में वे बहुत गरीब थे और सोने के आभूषण पहनने की उन्हें बड़ी उत्कण्ठा थी। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

सचेतन और अचेतन के भेद से द्रव्यों के दो भेद

"सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।"

—च० सू० १ ४७

"तत् (द्रव्यं) चेतनावदचेतनं च"। —च० सू० अ० २६

उपस्कार टीका—कार्यद्रव्याणां चेतनाचेतनतया विभागं चेतनाचेतनयोर्लक्षणमाह—सेन्द्रियमित्यादि। निरिन्द्रियमित्यत्र निःशब्दोऽभावे निर्मक्षिकमितिवत्। ×××। यद्यपिचात्मैव चेतनो न शरीरं नापि मनः, यदुक्तं—"चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते" (च० शा० १) इति। तथा सलिलौष्ठ्यवत् संयुक्तसमवायेन शरीराद्यपि चेतनम्। इदमेव चात्मनश्चेतनत्वम् यदीन्द्रिययोगे सति ज्ञानशालित्वं, न केवलस्यात्मनश्चेतनत्वं, यदुक्तं—"आत्मा ज्ञः

करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।" (च० शा० १) इति । अत्र सेन्द्रियत्वेन वृक्षादीनामपि चेतनत्वं बोद्धव्यम् । तथाहि सूर्यभक्तायां यथा-यथा सूर्यो भ्रमति तथा-तथा भ्रमणाद् दृगनुमीयते, तथा लवली मेघस्तनितश्रवणात् फलवती भवति तेन श्रोत्रमनुमीयते, बीजपूरकमपि भृगालादिवसागन्धेनातीव फलवद्भवति तेन घ्राणमनुमीयते, चूतानां च मत्स्यवसासेकात् फलाढ्यतया रसनमनुमीयते, लज्जालोश्च हस्तस्पर्शमात्रेण संकुचितपत्रायाः स्पर्शनानुमानम्, स्मृतिश्चानुमानं दृढति, तथा "वृक्षगुल्मं बहुविधं तत्रैव तृणजातयः । तमसाऽधर्मरूपेणाच्छादिताः कर्महेतुना ॥ अन्तःसंज्ञाभवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥" (मनुस्मृति) । तथा तंत्रकारश्च वानस्पत्यान् कान्प्राणिनो वक्ष्यति, तेनागमसंवलितया युक्त्या चेतना वृक्षाः (च० द०) । इन्द्रियैः सह वर्तमानं सेन्द्रियं द्रव्यं जीवच्छरीररूपंचेतनम् । सेन्द्रियमित्यनेनात्मनः संबन्धोऽपि लभ्यते, इन्द्रियाणां प्रत्यगात्मनो लिङ्गत्वात् । शरीरस्य चैतन्ये आत्मैव हेतुः । कतिधा पुरुषीये च वक्ष्यति—"शरीरं हि गते तस्मिन्छून्यागारामचेतनन् । पंचभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वंगतमुच्यते ॥' (च० शा० १) । आत्मनः साक्षादवचनंत्विह पांचभौतिकद्रव्याधिकारात् । आत्मामनश्चाध्यात्मद्रव्यम् । चेतनमुक्त्वा अचेतनमाह—निरिन्द्रियमिति । न सन्ति इन्द्रियाणि यस्य तन्निरिन्द्रियम् । निरिन्द्रियं द्रव्यं जीवच्छरीरव्यतिरिक्तं अन्यत् सर्वमचेतनम् । तच्च चेतनस्योपकरणम् ॥

अर्थ—सब कार्य-द्रव्य चेतन और अचेतन भेद से दो प्रकार के होते हैं। जो द्रव्य सेन्द्रिय (इन्द्रिय युक्त) होता है, वह चेतन और जो निरिन्द्रिय (इन्द्रिय रहित) होता है, वह अचेतन कहलाता है। जीवित शरीररूप द्रव्य सेन्द्रिय होने से चेतन है। जैसे—जीवित मनुष्यादि प्राणी तथा वृक्षादि उद्भिज्ज। जीवित शरीर को छोड़कर अन्य जितने द्रव्य हैं, वे सब निरिन्द्रिय होने से अचेतन हैं (जीवित दशा में प्राणी और उद्भिज्ज सेन्द्रिय होने से सचेतन हैं, परन्तु अब वे मृत होते हैं, तब आत्मा और इन्द्रियों के सम्बन्ध से रहित होने से अचेतन हो जाते हैं)। जैसे—स्फटिक सुवर्ण आदि पार्थिव-द्रव्य। इस प्रकार चेतन (सेन्द्रिय-सजीव) और अचेतन (निरिन्द्रिय-निर्जीव) भेद से द्रव्य के दो वर्ग-भेद होते हैं।

वक्तव्य—यहाँ 'इन्द्रिय' शब्द से इन्द्रियाँ आत्मा का लिंग (ज्ञापक) होने से तथा इन्द्रियों के द्वारा ही आत्मा का चैतन्य प्रकाशित होता है, इसलिए आत्मा (जीव) का भी ग्रहण होता है। अतः सेन्द्रिय शब्द से सजीव शरीर रूप सेन्द्रिय-द्रव्य (सजीव प्राणी और उद्भिज्ज) यह अर्थ लेना चाहिए। पूर्वोक्त पृथिवी आदि ९ (नौ) कारण-द्रव्यों से ही सभी चेतन तथा अचेतन कार्य-द्रव्य उत्पन्न होते हैं। इनमें पृथिवी, जल, तेज और वायु परमाणु रूप से तथा आकाश व्यापक रूप से जड़ द्रव्यों की उत्पत्ति में उपादान कारण होते हैं और दिक् तथा

काल निमित्त कारण होते हैं। जब उक्त उपादान तथा निमित्त कारणों के साथ आत्मा तथा मन का संयोग होता है, तो चेतन-द्रव्य (प्राणिज और उद्भिज्ज) की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार—

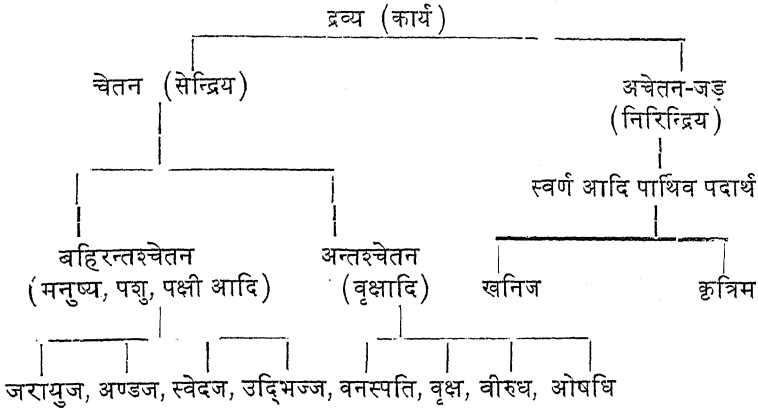

कार्य-द्रव्य चेतन (सेन्द्रिय) और अचेतन-जड़ (निरिन्द्रिय) भेद से दो प्रकार के हुए। पुनः चेतन-द्रव्य के बहिरन्तश्चेतन भेद से दो प्रकार हुए। इनमें मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप आदि बहिरन्तश्चेतन और वृक्षादि अन्तश्चेतन हैं। बहिरन्तश्चेतन की उत्पत्ति चार प्रकार से होती है, अतः इनके पुनः चार भेद—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज किये गये हैं। अन्तश्चेतन भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे वनस्पति, वृक्ष, वीरुध (लता) और ओषधि।

जैन दर्शन के अनुसार

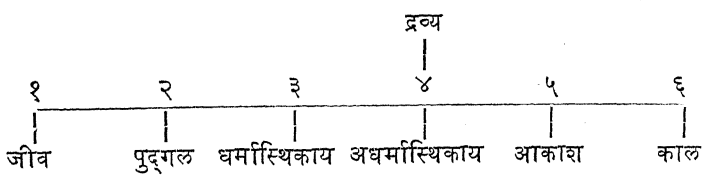

जीव द्रव्य चेतन और अनन्त है। इसके 'संसारी' और 'मुक्त' दो विभाग हैं। इनमें संसारी आवरण युक्त होता है और मुक्त आवरण रहित होता है।

गुणकर्म-विज्ञान

अध्याय २

(पाद २)

गुणलक्षणम्

"समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः।"

—च० सू० १

"द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।"

—वै० द० १।१।१६

"अथ द्रव्याश्रिताज्ञेयाः निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः।"

—कारिकावली

गुणलक्षणमाह—समवायीति। गुणः समवायी द्रव्य समवायी। द्रव्याश्रय्यगुणवानीतिकणादः। द्रव्यसमवायवान्गुणः कारणं भवति। समवायिकारणं द्रव्यमपि इति। अत आह—निश्चेष्टस्त्विति। तुकारो द्रव्यात् व्यवच्छिनत्ति। नास्ति चेष्टा यस्य स निश्चेष्टः, निष्क्रियः, निर्गुणश्चापि। गुणा गुणाश्रया नोक्ताः। इति (चरक सू० २६)। द्रव्यं गुणकर्माश्रयः, गुणस्तु गुणकर्मानाश्रयः इति द्रव्यतो भेदः॥ (उपस्कारटीका—योगेन्द्रनाथ सेन)। द्रव्यमाश्रयितुं शीलमस्येति द्रव्याश्रयी। एतच्च द्रव्येऽपिगतमतआह—अगुणवानिति। तथापि कर्मण्यतिव्याप्तिरित्यत आह—संयोगविभागेष्वकारणम्, तथापि संयोगविभागधर्माधर्मेश्वरज्ञानादीनामसंग्रहःस्यादत उक्तमनपेक्ष इति। अत्रानपेक्ष इत्यनन्तरं गुण इति पूरणीयम्, संयोगविभागेष्वनपेक्षः सन् कारणं यो न भवति स गुण इत्यर्थः। (शंकर मिश्र)। यो द्रव्यमाश्रयति, न गुणवान्, न चानपेक्षः सन् संयोगविभागेषु कारणं भवति सोऽयं गुणः। कश्च संयोगविभागेष्वनपेक्षः कारणं ? कर्म इत्याह। कर्म संयोगविभागौ जनयन्न किञ्चिदपेक्षते, संयोगविभागौत्वपेक्षते किञ्चिदिति। द्रव्यं नाम द्रव्यमाश्रयदपि गुणवदेव भवति नत्वगुणवात् कर्मत्विवत्थंभूतमपि कर्मैव। गुणस्तु द्रव्यमाश्रयति नगुणवान्नो खल्वपि कर्मेति। (चन्द्रकान्तभाष्य)। क्रियाहीनत्वेन कर्तृत्वाभावादप्राधान्येन गौणत्वाच्च तस्य गुण इति संज्ञा।

अर्थ—जो द्रव्य में आधेय रूप (आश्रित) से रहता हो, चेष्टा-रहित हो (चेष्टा-क्रिया रूप जो कर्म उससे भिन्न हो), गुण-रहित हो और स्व-समान

गुण की उत्पत्ति में कारणभूत (असमवायिकारण) हो, उसको 'गुण' कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो द्रव्य में आश्रय करके रहता (द्रव्याश्रयी) हो, गुण-रहित हो, जो कर्म-रहित या कर्म से भिन्न हो और जो स्वसमान गुणान्तर की उत्पत्ति में असमवायिकारण हो, उसे 'गुण' कहते हैं। जो दूसरे का आश्रय होता तथा कर्त्ता है, वह प्रधान होता है और जो अन्याश्रित और उपकरण है, वह अप्रधान या गौण होता है। उक्त गुण अन्याश्रित (द्रव्याश्रित) तथा उपकरण होने के कारण गौण होने से 'गुण' कहे जाते हैं।

वक्तव्य——द्रव्य और गुण का जो परस्पर सम्बन्ध है, उसको समवाय सम्बन्ध कहते हैं। "समवायोऽप्रथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।" (च० सू० १)। अर्थात्——पृथिवीत्यादि द्रव्यों का गुणों के साथ जो अपृथग्भाव (नित्य साथ रहना) है, उसको समवाय सम्बन्ध कहते हैं। गुण, द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है। द्रव्य और गुण के समवाय में द्रव्य आधार रूप से और गुण आधेय रूप से रहता है। 'गुण गुण रहित कहा गया है'——कारण यह कि गुण द्रव्यों में रहते हैं, गुणों में नहीं। गुण को कर्म से भिन्न या कर्म रहित कहा गया है, क्योंकि कर्म भी द्रव्यों का ही आश्रय करके रहते हैं, गुणों में नहीं। गुण को स्वसमान गुणान्तर की उत्पत्ति में असमवायिकरण कहा गया है; क्योंकि वैशेषिक सूत्र में कहा है कि, "द्रव्याणिद्रव्यान्तरमारभन्ते, गुणाश्च गुणान्तरम्" (वै० द० १।१।१०)। यहाँ कविराज गंगाधरसेन ने अपने जल्पकल्पतरु टीका में गुण को स्वसमान गुणान्तर की उत्पत्ति में समवायिकारण माना है——"× × ×। प्रमादिनस्तु वैशेषिके कणादोक्त गुणलक्षणं द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमन्यपेक्षो गुणः" इति गुणलक्षणं दृष्ट्वा गुणकर्मणी असमवायिकारणे भवत इत्याहुः, तेषामयं हि प्रमादः। सूत्रकृत्कणादेन समवायिकारणमिति पूर्वस्मादनुवर्त्य समवायिकारण-पदं 'द्रव्याश्रयी' इत्यादि सूत्रं कृतम्। तेन द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्व-कारणमन्यापेक्षः कारणं गुणः इति गुणलक्षणं पर्यवसितम्। यदि हि गुणो गुणान्तरस्य समवायिकारणं न भवति, कथं तर्हि 'गुणाश्च गुणान्तरमारभन्ते' इति वचनं तत्रैव-कणादेनोक्तं संगच्छते।" (गंगाधरः)

भदन्त नागार्जुन ने अपने रसवैशेषिक-सूत्र में गुण का लक्षण एक और ही प्रकार से किया है, जैसे——"विश्वलक्षणा गुणाः" (र० वै० अ० १ सू० १६८), अर्थात् जिनका लक्षण विश्व याने विकीर्ण भिन्न-भिन्न हों, वे 'गुण' हैं। यह लक्षण कार्य-द्रव्यों के लिये विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि गुण छोड़कर अन्य पदार्थ द्रव्य-रस-विपाक-वीर्य और कर्म इनमें से प्रत्येक का एक-एक लक्षण में अवरोध होता है। जैसे——शब्दादिकों का जो आश्रय हो वह द्रव्य, रसनेन्द्रिय से जिसका ग्रहण हो उसे रस, कर्म-लक्षण वीर्य, परिणाम-लक्षण विपाक——इन

लक्षणों में जैसे समस्त द्रव्य-भेद, रस-भेद, वीर्य-भेद और विपाक-भेद का अवरोध होता है, ऐसा गुण का कोई भी एक लक्षण नहीं है, जिसमें सब गुणों का अन्तर्भाव होता हो। क्योंकि शीतोष्णादि स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य हैं, स्निग्ध और रूक्ष चक्षुर्ग्राह्य और स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य हैं। इस प्रकार सब गुणों का एक ऐसा लक्षण नहीं बन सकता, जिसमें सब गुणों का अन्तर्भाव होता हो। अतः वे विश्व-लक्षण—भिन्न-भिन्न लक्षण वाले हैं और इसीसे उनका लक्षण ऐसा किया गया है।

द्रव्याश्रयी—द्रव्य के आश्रित रहनेवाले का नाम 'द्रव्याश्रयी' है। यदि गुण का इतना ही लक्षण करें, तो कार्य-द्रव्य में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वह भी अपने कारण-द्रव्यों के आश्रित रहता है। अतः इसकी निवृत्ति के लिये 'अगुणवान्, पद का निवेश किया है। द्रव्य का नाम गुणवान् और उससे भिन्न का नाम अगुण-वान् है। 'द्रव्याश्रय्यगुणवान्' केवल यही लक्षण गुण का करें, तो गुणवान् होने के कारण द्रव्य में अतिव्याप्ति न होने पर भी कर्म में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वह भी द्रव्याश्रित तथा अगुणवान् है। इसकी निवृत्ति के लिये "संयोगविभागेष्व-कारणमनपेक्षः" ऐसा लक्षण किया गया है। संयोग तथा विभाग की उत्पत्ति में कर्म अन्य की अपेक्षा नहीं करता पर अनपेक्ष होता हुआ जो कारण नहीं होता, उसे 'गुण' कहते हैं। इसीसे 'संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षः' ऐसा कहा गया है। इसलिये द्रव्याश्रयी, अगुणवान्, संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षः—इन तीनों के मिलने से गुण का यह 'निर्दुष्ट लक्षण निष्पन्न हुआ कि—"द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः" अर्थात् द्रव्य तथा कर्म से भिन्न होते हुए जातिवाले का नाम 'गुण' है। निष्कर्ष यह निकला कि जो द्रव्य के आश्रित द्रव्य तथा कर्म से भिन्न और जातिवाला पदार्थ है, उसको 'गुण' कहते हैं। इसीलिये प्रशस्तपाद ने "गुणत्त्वं जातिमत्त्वं गुणत्त्वं" अर्थात्—गुण जातिवाले का नाम गुण है, ऐसा निर्विवाद लक्षण किया है।

गुण के सम्बन्ध में अर्वाचीन (पाश्चात्य) दार्शनिकों के विचार—प्रसिद्ध दार्शनिक 'लॉक' का कहना है कि मन में रूप आदि का जो बोध होता है, उस बोध को 'प्रत्यय' कहते हैं और वस्तु में उन प्रत्ययों के प्रयोजक जो धर्म हैं, उन्हें 'गुण' कहते हैं, अर्थात् प्रत्यय चित्तगत है और गुण बाह्य-वस्तुगत है। गति, आकार, विस्तार आदि द्रव्य के मुख्य गुण हैं (Primary qualities)। अन्तःकरण में जैसा भाव होता है, वस्तु में भी वह वैसा ही रहता है। परन्तु वर्ण और रस, आदि केवल इन्द्रियों के सम्बन्ध से विदित होते हैं। इस कारण इनको गौण—गुण (Secondary qualities) कहते हैं। (नैयायिकों ने भी इसी प्रकार द्वीन्द्रियग्राह्य और एकेन्द्रियग्राह्य करके गुणों का विभेद किया है।) मुख्य गुणों का प्रायः एक से अधिक इन्द्रियों द्वारा बोध होता है और गौण गुणों का बोध

केवल एक ही इन्द्रिय से होता है। ये गौण-गुण बाह्य-द्रव्य में नहीं रहते। जैसे—सुई चुभोने से जन्तु को दुःख होता है, परन्तु सुई में दुःख नहीं होता, केवल दुःख प्रयोजक तीक्ष्णता, कठिनता आदि गुण होता है, इसी प्रकार रस आदि प्रत्यय या बोध का प्रयोजक गुण रस आदि से भिन्न प्रकार के उन-उन वस्तुओं में भी वर्त्तमान रहता है। जो वस्तु पूर्ण हरी या लाल दीख पड़ती है, वही वस्तु सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र-द्वारा, जब उसके दाने अलग-अलग हो जाते हैं, सफेद मालूम होने लगती हैं। इसीसे वर्ण आदि गुण इन्द्रियाधीन हैं, न कि वस्तु के अधीन, क्योंकि वर्ण आदि गुण यदि वस्तु के अधीन (Objective) होते, तो सदा एक-से अनुभव होते। संख्या, परिमाण आदि मुख्य गुण ही वस्तुतः पदार्थ में रहते हैं। ये जैसे वस्तु में होते हैं, वैसे ही दीख पड़ते हैं। रूप, रस, गन्ध आदि गुणों का आधार मुख्य गुणों में है। किन्तु वे वास्तव में जैसे हमको दिखाई पड़ते हैं, वैसे नहीं हैं। उनका दिखाई पड़ना हमारे मन के आश्रित (Subjective) है। यदि स्वाद का चखनेवाला न हो, तो रस का ज्ञान ही न होगा। वस्तुवादी जो सभी गुणों का बाह्यद्रव्य में रहनेवाले (objective) मानते हैं लोगों ने यह भेद नहीं माना है। वस्तुवादियों का विचार हिन्दू-दर्शनों से मिलता है। गौण-गुणों से समानता रखनेवाले विशेष[1] गुणों का अस्तित्व मन पर निर्भर नहीं है। इन्द्रियों का भूतों से सम्बन्ध होने के कारण वस्तु में रूप, रस आदि गुण प्रतीत होते हैं। अतः ये वस्तु के ही गुण माने गये हैं।

'बर्कले' का कहना है कि द्रव्यों का ज्ञान गुणों के द्वारा ही होता है। हम गुणों से बाहर नहीं जा सकते और पुनः जब द्रव्य में गुण नहीं रहते, तब वह क्या रह जाता है? यदि खट्टिका (खल्ली-चौक) में से सफेदी, आकार, विस्तार, भारीपन, चिकनाहट आदि सब गुण किसी प्रकार से निकाल लिये जायँ, तो क्या रह जायगा? यदि कुछ रह भी जाय, तो उसके भी कुछ गुण होंगे और यदि गुण नहीं हैं तो वह ज्ञान में ही नहीं आ सकती। यह बात असम्भव है कि कोई वस्तु हो और वह ज्ञान में न आ सके। ज्ञान में आना ही वस्तु की सत्ता है। सत्ता ही ज्ञान (Esːet pericipi) है। वस्तु के गुण यदि कहीं अलग-अलग होते, तो हमको यह आवश्यकता प्रतीत होती कि इनका योग करनेवाली इनसे भिन्न कोई वस्तु अवश्य होगी। लेकिन हमको कोई गुण अलग नहीं मिलता। न रंग बिना विस्तार के और न विस्तार बिना रंग और गुरुत्व के दिखाई पड़ता है। बर्कले ने तो इस भौतिक-द्रव्य का भली-भाँति खण्डन किया है। बर्कले से पूछा जा सकता है कि यदि भौतिक द्रव्य नहीं है, तो उसका विचार या प्रत्ययमन में

१—"बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यत्वं विशेषगुणवत्त्वम्। —प्रशस्तपाद

कहाँ से आया ? इसके उत्तर में बर्कले का कथन है कि यह एक मानसिक भूल है कि वास्तव में सामान्यतया जाति-बोध नहीं हो सकता, तो भी प्रत्याहार (Abstraction) द्वारा ऐसे जाति-बोध बनाए जाते हैं। उसका कहना है कि यदि हम किसी सामान्य की कल्पना करना चाहें तो नहीं कर सकते क्योंकि जहाँ पर हम कल्पना करेंगे वहाँ वह कोई न कोई व्यक्ति हो जायगा। जैसे—यदि हम किसी साधारण दावत की कल्पना करें, तो वह किसी न किसी प्रकार की दावत होगी और वहीं पर उसकी व्यक्ति आ जायगी। ऐसे मनुष्य की कोई कल्पना नहीं कर सकता, जिसमें न कोई लम्बाई हो, न खास चौड़ाई हो, न खास रङ्ग हो और न खास रूप हो। जिस साधारण मनुष्य की कल्पना की जायगी, वह किसी न किसी आकार-प्रकार का मनुष्य अवश्य होगा। इसी प्रकार हम गुण रहित भौतिक-द्रव्य की भी कल्पना नहीं कर सकते। किसी ऐसी वस्तु को मानने से भी क्या लाभ जिसकी हम कल्पना ही न कर सकें, जो न हमारे ज्ञान में आ सके और न जिससे कोई काम ही सधे। हमारे सब कार्य और विचार वस्तु के गुणों के आधार पर होते हैं। जब कोई वैज्ञानिक किसी प्रकार का वैज्ञानिक सिद्धान्त निकालता है, तब गुणों के सम्बन्ध में ही निकालता है, भौतिक-द्रव्य के सम्बन्ध में नहीं। उदाहरणार्थ जब किसी वस्तु को गरम किया जाता है, तब उसका विस्तार बढ़ता है। गर्मी और विस्तार दोनों गुण हैं और इन्हीं का सम्बन्ध भी बतलाया जाता है न कि भौतिक-द्रव्य का। बर्कले का मुख्य सिद्धान्त यह है कि मन या विचार से स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं है। गौण गुणों का अस्तित्व लॉक भी मन के आधार पर मानते हैं। मुख्य गुणों को लॉक ने स्वतन्त्र माना है; पर यह स्वतन्त्रता भी परीक्षा के आलोक में नष्ट हो जाती है। जैसे—यदि विस्तार को हम मुख्य मानें, तो उसका परिणाम स्थिर नहीं है। एक ही पदार्थ दूर से बड़ा और नजदीक से छोटा प्रतीत होता है। पुनः वास्तविक विस्तार क्या है ? बर्कले ने अपने दृष्टि-सिद्धान्त (Theory of Vision) के अनुसार दूरी (Distance) के विचार को नेत्र के प्रयत्न सम्बन्धी संवेदना का फल बतलाया है। इसलिये दूरी आदि भी मन से स्वतन्त्र नहीं है। ये सब शारीरिक और ऐन्द्रियक प्रयत्न के संवेदन के फलमात्र हैं।

एफ० एच० बाडले ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ Appearance and reality में कहा है कि यदि हम दृश्य को वास्तविक सत्ता से अलग कर दें, तो उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। वह अपूर्ण रह जायगा और अपूर्णता के कारण उसमें व्यवधान दोष आ जायगा। इन्होंने अपने पुस्तक के पहले भाग में आयाम, विस्तार, अनेकता, गति, परिवर्तन, देश, कालादि द्रव्य, गुणादि द्रव्य-पदार्थों की अपूर्णता और व्याघातकता बतलायी है और दूसरे भाग में वास्तविक सत्ता की

विवेचना की है। इन्होंने पहले वैज्ञानिकों के माने हुए मुख्य और गौण गुणों के भेद की असारता दिखलायी है। इनका कहना है कि जिस आधार पर 'गौण-गुण', गौण सिद्ध किये गये हैं, उसी आधार पर 'मुख्य-गुण' भी गौण सिद्ध किये जा सकते हैं। जैसे—मुख्य गुणों में लोगों ने विस्तार-गुण की प्रधानता मानी है, किन्तु विस्तार रङ्ग से पृथक् नहीं है और जल रङ्ग से अलग नहीं है। रङ्ग गौण है, तब विस्तार को भी उसीके साथ गौणता प्राप्त हो जायगी। इसी प्रकार इन्होंने गुणी और गुण के भेद को भी भ्रमात्मक कहा है।

'गुण' के सम्बन्ध में प्रसिद्ध दार्शनिक 'रीड' ने Intellectual powers नामक पुस्तक में लिखा है कि वस्तु में मुख्य गुणों के अतिरिक्त गौण गुण भी रहते हैं। रूप, रस, गन्ध आदि के संवेदन यह अनुमान कराते हैं कि इनके अनुकूल वस्तु में कोई गुण है, जो इन संवेदनों के कारण हैं। ये गुण और संवेदन एक नहीं हैं। गुण संवेदन के कारण हैं और संवेदन एक प्रकार से उनका प्रतिनिधि है। मुख्य गुणों में इतना अन्तर है कि इनके संवेदन इनसे अधिक समानता रखते हैं। रूप, रस, गन्ध आदि के जो कारण रूप-गुण आदि हैं, वे बिल्कुल अज्ञात हैं। उनकी सत्तामात्र कही जाती है। लम्बाई, चौड़ाई आदि के जो कारण हैं, वे इतने अनिश्चित नहीं हैं और उनके संवेदनों तथा उन गुणों में थोड़ी समानता है; लेकिन वे भी एक नहीं हैं। संवेदन और गुण एक नहीं हो सकते।

गुणसंख्या

"सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः।
गुणाःप्रोक्ताः।।" —च० सू० १

सम्प्रति गुणान्निर्देष्टुमाह—सार्था इत्यादि—अनेन त्रिविधाअपि वैशेषिकाः, सामान्याः, आत्मगुणाश्चोपदिष्टाः। तत्रार्थाः—शब्दः—स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः यदुक्तं—'अर्थाःशब्दादयोज्ञेयागचीरा विषया गुणाः' (च० शा० १) इति। एते च वैशेषिकाः। यत आकाशस्यैव शब्दः प्राधान्येन, वायोरेव स्पर्शः प्राधान्येन, एवमग्न्यादिषु रूपादयः। अन्यगुणानां नान्यत्र दर्शनं भूतान्तरानुप्रवेशात्। वचनं हि—"विष्टं हि अपरं परेण" (न्या० द०-३-१-२६) इति। गुर्वादयस्तु—गुरु-लघु-शीतोष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, स्थूल-सूक्ष्म, सान्द्र-द्रवा विंशतिः। एते च सामान्य गुणाः पृथिव्यादीनां साधारणत्वात्। एते यज्जःपुरुषीये प्राय आयुर्वेदीययुक्तत्वात् परादिभ्यः पृथक् पठिताः।

बुद्धिः ज्ञानम्; अनेन च स्मृति-चेतना-धृत्यहंकारादीनां बुद्धिविशेषाणां ग्रहणम्। प्रयत्नो अन्ते येषां निर्देशे ते प्रयत्नान्ताः; एतेन च इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख

प्रयत्नानां ग्रहणम् । वचनं हि—"इच्छा द्वेषःसुखदुःख प्रयत्नश्चेतना धृतिः । बुद्धिः स्मृत्यहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः ।।" (च० शा० १) इति । एते चात्मगुणाः । इह चेतनादीनां बुद्धिग्रहणेनैव ग्रहणम् । शरीरे तु चेतनादीनामपि पृथगात्मगमकत्वेन पृथक् पाठः । एतच्च तत्रैव व्याकरणीयम् । परादयो यथा—"परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च । विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च । संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः प्रोक्ताः परादयः ।।" (च० सू० ३६) इति । एते च सामान्य गुणा अपि नात्युपयुक्तत्वात् तथा बुद्धिः प्राधान्यात् चान्ते प्रोक्ताः । प्रोक्ता इति प्रकर्षेण विशेषगुणत्वादिनोक्ताः । (चक्रदत्त) । गुणानाह—सार्था इत्यादि । अर्थैः सहवर्त्तमाना सार्थाः ×××। अर्थाः इन्द्रियाणामर्थाः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः ××× । मनसश्च अर्थः चिन्त्यादि तथा च—"चिन्त्यंविचार्यमूह्यं च ध्येयंसंकल्पमेव च । यत्किन्चिञ्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्" (च० शा० १) ।। इति । ×××× । कणादेनाप्युक्तं रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखेच्छाद्वेषौप्रयत्नाश्च गुणाः ।।" (वै० द० १।१।६) । इति (योगेन्द्र-उपस्कार) । गुर्वादय इति एते आविष्कृत तया एव यज्जःपुरुषीये उक्ताः, तेन गुणानामसंख्येयत्वादन्येऽपि ज्ञेयाः । अतएव प्रमेहे श्लेष्मगुणेषु अच्छत्वादयो गुणाः पठ्यन्ते । एते च द्रव्याश्रिता वैद्य नये गुणत्वेन परिभाष्यन्ते ।

(शिवदास सेन)

अर्थ—श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) (चरक सूत्र स्थान यज्जःपुरुषीयाध्याय में कहे हुए), गुरु आदि बीस गुण (गुरु-लघु, शीतोष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छल, श्लक्ष्ण-खर, स्थूल-सूक्ष्म, सान्द्र-द्रव), बुद्धि इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, परत्त्व, अपरत्त्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास ये इकतालीस गुण हैं ।

वक्तव्य—उपर्युक्त गुणों में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये पाँच गुण 'वैशेषिक गुण' कहलाते हैं; क्योंकि शब्दादि क्रम से आकाशादि पाँच भूतों के एक-एक विशेष गुण हैं। एक के गुण जो दूसरे में देखे जाते हैं, वे भूतान्तरानुप्रवेश से होते हैं। गुर्वादि द्रवान्त २० गुण 'सामान्य गुण' कहलाते हैं। (कविराज गंगाधर ने इन्हें 'शारीर-गुण' कहा है।) क्योंकि ये पृथिव्यादि पंचमहाभूतों में सामान्यतया रहते हैं। बुद्धि शब्द से स्मृति, चेतना, धृति, अहंकार आदि बुद्धि-विशेषों का भी ग्रहण होता है। बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न, ये छः 'आत्मगुण' हैं। परत्वादि दस भी 'सामान्य गुण' हैं, परन्तु गुर्वादि की अपेक्षा आयुर्वेद में कम उपयुक्त होने से अन्त में कहे गए हैं। कविराज योगेन्द्रनाथ सेनजी ने

पाँच इन्द्रियों के पाँच विषयों के साथ छठे 'मन' के अर्थ—चिन्त्य, विचार्य आदि का भी अर्थों में ग्रहण किया है; क्योंकि "मनो मनोऽर्थोबुद्धिरात्मा च इत्यध्यात्म द्रव्यगुण संग्रहः" (च० सू० ८) इस सूत्र में मन के अर्थों का भी अध्यात्म गुणों में उल्लेख किया है। इस प्रकार गुणों की संख्या ४६ होती है।

भदन्त नागार्जुन ने रसवैशेषिक-सूत्र में "शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-विशद-पिच्छिल-गुरु-लघु-मृदु-तीक्ष्ण-गुणाः कर्मण्याः" (वै० द० ३), अर्थात् शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-विशद-पिच्छिल-गुरु-लघु-मृदु और तीक्ष्ण इन दस गुणों को कर्मण्य (चिकित्साकर्म में विशेष योग्यता रखनेवाले) गुण कहा है। चरक-सुश्रुत आदि में अष्टविध वीर्यवादियों ने नागार्जुनोक्त कर्मण्यगुणों को वीर्य माना है। अष्टाङ्गहृदय में २० गुणों का निम्न प्रकार से वर्णन मिलता है :—

"गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र मृदु-स्थिराः।
गुणाः ससूक्ष्म विशदा विंशतिः सविपर्ययाः।"

—अ० हृ० सू०

इन्द्रिय–अर्थ विषय के पर्य्याय

"अर्थाः शब्दादयो ज्ञेयाः गोचरा विषया गुणाः॥"

—च० शा० १

अर्थानाह—अर्था इति। अर्थाः शब्दादयो ज्ञेयाः। ये च शब्दादयः पञ्चभूतगुणतया प्रागुक्ताः। ते हि इन्द्रियाणामर्थाः। तदुक्तं—"गन्ध रसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादि गुणास्तदर्थाः।" इति (न्या द० १।१।१४) गोचरा विषया इति पर्य्यायौ॥" (उपस्कार)

अर्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये जो आकाशादि पञ्चमहाभूतों के गुण कहे गये हैं, वे ही श्रोत्रादि इन्त्रियों के अर्थ हैं। अर्थात् आकाश का गुण—शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का, वायु का गुण स्पर्श त्वगिन्द्रिय का, तेज का गुण रूप चक्षुरिन्द्रिय का, जल का गुण रस रसनेन्द्रिय का और पृथिवी का गुण गन्ध घ्राणेन्द्रिय का अर्थ या विषय है।

शब्दादि गुणों (विषयों) का साधर्म्य-वैधर्म्य निरूपण

"रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याश्रितत्त्वं निर्गुणत्त्वं निष्क्रियत्त्वं च।" —प्रशस्तपाद

"रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-परत्वापरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-वेगा मूर्त्तगुणाः। बुद्धि सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्मधर्मभावनाशब्दा अमूर्त्तगुणाः॥ संख्यापरिमाणपृथक्त्व-संयोगविभागा उभयगुणाः॥" —प्रशस्तपाद

गुणों के साधर्म्य-वैधर्म्य का निरूपण करते हैं—रूपादि सभी गुणों में गुणजाति का सम्बन्ध (गुणत्त्वाभिसम्बन्ध) और दूसरे में आश्रित होने (अन्याश्रितत्व) और अप्रधान होने के कारण गौण होने से गुण कहा जाना, द्रव्य में आश्रित होकर रहना (द्रव्याश्रितत्व), निर्गुणत्व (इनके अन्दर अन्य गुणों का न होना) और निष्क्रियत्व (कर्तृत्व का न होना—क्रियाहीनत्व) सामान्य रूप से हैं। अतः ये उनके साधर्म्य कहे गये हैं। गुण के पदार्थान्तर होने पर भी द्रव्य से पृथक् उसकी कहीं सत्ता नहीं है, इसीसे उसे 'द्रव्याश्रयी' कहते हैं। गुण, गुण का आश्रय नहीं होता, अतः उसे 'निर्गुण' कहा है। उसके अन्दर क्रिया के अभाव होने से कर्तृत्वाभाव भी है, अतः वह अप्रधान या गौण होने से 'गुण' कहा जाता है। इन गुणों में अर्थात् ऊपर कहे हुए रूपादि गुणों में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग ये दस 'मूर्त्तगुण' कहे जाते हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द ये दस 'अमूर्त्त' गुण कहे जाते हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वियोग ये पाँच 'उभय गुण' अर्थात् मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों हैं। इनमें संयोग, विभाग, द्वित्व और द्विपृथक्त्व आदि गुण अनेक में रहनेवाले होने से 'अनेकाश्रित' कहे गये हैं। शेष दो-एक द्रव्यवृत्ति वाले हैं। इन गुणों में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध 'बाह्यगुण' कहे जाते हैं और ये एक-एक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग ये दो इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये अन्तरिन्द्रिय (मन) द्वारा ग्राह्य हैं। गुरुत्व, धर्म, अधर्म और भावना ये अतीन्द्रिय हैं। अपाकज रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, एकत्व, पृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग ये कारण गुण पूर्वक हैं, अर्थात् जो अपाकज रूप-रसादि कारण द्रव्य में होते हैं, वे ही रूप-रसादि कार्य द्रव्य में भी होते हैं। क्योंकि वैशेषिक के मत से गुण गुण के प्रति असमवायिकारण होता है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भवना, शब्द, संख्या, परिमाण, उत्तर-संयोग-नैमित्तिक द्रवत्व, परत्व, अपरत्व, अपाकज ये संयोग से उत्पन्न होनेवाले (संयोगज) गुण हैं। संयोग, विभाग और वेग कर्मज (कर्म से उत्पन्न होनेवाले) गुण हैं। शब्द और उत्तर विभाग विभागज (विभाग से उत्पन्न होनेवाले) हैं। परत्व, अपरत्व, द्वित्व, द्विपृथक्त्व आदि अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होनेवाले हैं। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये असमान अर्थात् अपने से भिन्न जातिवाले गुण को उत्पन्न करनेवाले हैं। संयोग, विभाग, संख्या, गुरुत्व, द्रवत्व, उष्णस्पर्श-ज्ञान, धर्म, अधर्म, संस्कार ये समान तथा असमान दोनों जातिवाले गुण को उत्पन्न करनेवाले हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भावना और शब्द ये अपने आश्रय में समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। अतः ये स्वाश्रय

समवेतारम्भक' अर्थात् जिसमें रहते हैं उसके गुण को उत्पन्न करनेवाले होते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, स्नेह, प्रयत्न ये परत्र अर्थात् जिसमें नहीं रहते, उसके गुण के आरम्भक हैं। संयोग, विभाग, संख्या, एकत्व, पृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, धर्म और अधर्म ये दोनों के अर्थात् स्वाश्रय के तथा परत्र के गुणों के आरम्भक हैं। गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संयोग विशेष ये सब क्रिया के हेतु हैं। रूप, रस, गन्ध, अनुष्ण-स्पर्श, संख्या, परिमाण, एकत्व, पृथक्त्व, स्नेह और शब्द इनमें असमवायिकारण है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, इनमें निमित्तकारण है। संयोग, विभाग, उष्णस्पर्श, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग इनमें उभयकारण (असमवायि और निमित्तकारण) है। परत्व-अपरत्व, द्वित्व-द्विपृथक्त्व आदि में कारणत्व नहीं है। संयोग-विभाग शब्द-आत्म-विशेष गुणों में प्रदेश वृत्तित्व अर्थात् एकदेश व्यापित्व (अव्याप्त वृत्तित्व) है। शेष रूपादि गुणों में आश्रय व्यापित्व अर्थात् व्याप्त त्तित्व है, तात्पर्य यह है कि ये अपने आश्रय में व्याप्त रहते हैं। अपाकज रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-परिमाण-एकत्व-पृथक्त्व-सांसिद्धिक द्रवत्व-गुरुत्व और स्नेह ये सब द्रव्यों में होते हैं और शेष सब द्रव्यों में नहीं होते। रूप आदि सभी गुणों की संज्ञा प्रत्येक के अपर-सामान्य-सम्बन्ध से होती है। उक्त चौबीस गुणों में से स्पर्श आदि आठ (स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व, संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व) तथा वेग नामक संस्कार ये नौ गुण 'वायु' में रहते हैं। उक्त नौ गुण तथा रूप और द्रवत्व ये ग्यारह गुण 'तेज' में रहते हैं। उक्त नौ तथा द्रवत्व-गुरुत्व-रूप-रस एवं स्नेह ये चौदह गुण 'जल' में रहते हैं। स्नेह को छोड़कर गन्ध-सहित चौदह गुण 'पृथिवी' में रहते हैं। बुद्धि आदि छः, संख्या आदि पाँच, भावना, धर्म तथा अधर्म ये चौदह 'जीवात्मा' में पाये जाते हैं। संख्या आदि पाँच काल तथा दिशा में भी पाये जाते हैं। उक्त पाँचों तथा शब्द ये छः आकाश में; संख्या आदि पाँच, बुद्धि, इच्छा तथा प्रयत्न ये आठ ईश्वर (परमात्मा) में और संख्या आदि पाँच, परत्व, अपरत्व तथा वेग, ये आठ गुण 'मन' में पाये जाते हैं।

"वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दशम्।
दिक्कालयोः पंच षडेवाम्बरे महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च ॥"

रूप-निरूपण

"तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्। पृथिव्युदक-ज्वलन-वृत्ति-द्रव्याद्युपलम्भकं नयन सहकारि शुक्लाद्यनेक प्रकारं सलिलादि परमाणुषु नित्यं पार्थिव परमाणुष्वग्नि-

संयोग विरोधि सर्वकार्य द्रव्येषु कारण गुण पूर्वकमाश्रय विनाशादेव विनश्यतीति ।।"

——प्रशस्तपाद

अर्थ——जो चक्षुमात्र से ग्राह्यगुण है, वह 'रूप' है। यह पृथिवी, उदक और अग्नि में रहता है। द्रव्यादि का उपलम्भक है, अर्थात् जिस द्रव्य में यह रहता है, उस द्रव्यगत गुण, कर्म और सामान्य (जाति) का बोधक होता है। नयन की सहायता से (नयन सहकारी) इसका ज्ञान होता है। यह शुक्ल आदि (नील, लोहित, हरित, कपिश, चित्र) अनेक प्रकार का होता है। सलिल (जल) आदि के परमाणुओं में यह नित्य है और पृथिवी के परमाणुओं में अग्नि-संयोग का विरोधी है। सभी कार्य द्रव्यों में कारण गुण के अनुसार (पूर्वक) रहता है। आश्रय के विनाश से इसका भी नाश हो जाता है।

वक्तव्य——"चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्", अर्थात् चक्षुः-इन्द्रिय से जिस गुण का ग्रहण होता है, उसको 'रूप' कहते हैं। "येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तैनैव तद् गता जातिस्तदभावश्च", अर्थात् जिस इन्द्रिय से जिस (धर्मी) का ग्रहण होता है, उसी इन्द्रिय से उसमें रहनेवाली जाति तथा स्वकीय अभाव का भी ग्रहण होता है, ऐसा नियम है। इस नियम के अनुसार रूप गुण वृत्ति 'रूपत्व' जाति तथा 'रूपाभाव' भी चक्षुर्मात्र ग्राह्य है, अतः उनमें अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'गुण' शब्द का निवेश किया गया है। यदि 'गुणोरूपं' केवल इतना ही लक्षण करें, तो रस आदि गुणों में अति व्याप्ति होती है, अतः इसके वारणार्थ 'चक्षुर्मात्रग्राह्यः' इस पद का सन्निवेश किया गया है। यदि 'चक्षुर्ग्राह्योगुणो रूपं' केवल इतना लक्षण करें, तो संख्या, संयोग आदि गुणों में अतिव्याप्ति होती है, अतः 'मात्र' शब्द का निवेश किया गया है। संख्या आदि गुण चक्षुर्मात्र ग्राह्य नहीं, किन्तु चक्षु तथा त्वक् दोनों से ग्राह्य हैं। मात्र शब्द से केवल चक्षु अभिप्रेत होता है, अतः अतिव्याप्ति नहीं होती। यहाँ एक और शंका उपस्थित करते हैं, वह यह कि अतीन्द्रिय द्वयणुक आदि पदार्थगत 'रूप' में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है, क्योंकि वह गुण होने पर भी चक्षुर्मात्र ग्राह्य नहीं है। परन्तु यह शंका इसलिये नहीं उठ सकती कि ग्राह्य शब्द का यहाँ अर्थ ग्रहण योग्य है। अतीन्द्रिय पदार्थ-गत 'रूप' भी ग्रहण योग्य है, परन्तु केवल अपने आश्रय में महत्त्व परिमाण के न होने से उनका ग्रहण नहीं होता, इसलिये अव्याप्ति नहीं। इसे यों कह सकते हैं कि "चक्षुर्मात्रग्राह्यगुणवृत्तिजातिमत्त्वम्", अर्थात् केवल चक्षु-इन्द्रिय से ग्रहण होनेवाले गुण में होनेवाली रूपत्व जातिवाले को 'रूप' कहते हैं, यह उक्त लक्षण का अर्थ विवक्षित है, क्योंकि रूपत्व जातिवाले सभी रूप हैं, अतः कहीं भी अव्याप्ति नहीं। रूप नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार का होता है। जल तथा तेज के परमाणुओं में नित्य और पृथिवी के परमाणुओं में अनित्य है।

रस-निरूपण

"रसनार्थोरसस्तस्य द्रव्यमापःक्षितिस्तथा ।
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाःखादयस्त्रयः ॥"

——चरक सू० १-६३

"रसो रसनाग्राह्यः। पृथिव्युदक वृत्तिः, जीवनपुष्टिबलारोग्यनिमित्तम्, रसन सहकारी, मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायभेदभिन्नः। अस्यापि नित्यानित्यत्वान्निष्पत्तयो रूपवत् ॥" ——प्रशस्तपाद

अर्थ——रसनेन्द्रिय (जिह्वा) से जिस विषय (गुण) का ग्रहण होता है, उसको 'रस' कहते हैं। जल और पृथिवी उसके आधार कारण हैं। रस की उत्पत्ति और उसके मधुर आदि भेद में आकाश, वायु और तेज ये तीन निमित्त कारण हैं (चरक)। रसनेन्द्रिय से ग्रहण होनेवाले गुण को 'रस' कहते हैं। वह पृथिवी और जल में रहता है। वह जीवन, पुष्टि, बल और आरोग्य को देनेवाला है। रसना (जिह्वा) की सहायता से उसका ज्ञान होता है। मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय भेद से वह विभक्त है। वह भी रूप के समान ही नित्य तथा अनित्य दो प्रकार का होता है।

वक्तव्य——"रसनाग्राह्योगुणोरसः" अर्थात् रसना (जिह्वा) इन्द्रिय से ग्रहण होनेवाले गुण का नाम 'रस' है। इस लक्षण में 'रसत्व' जाति में अति व्याप्ति के वारणार्थ 'गुण' पद का तथा रूपादि गुणों में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'रसनाग्राह्य' पद दिया गया है। यह रस पृथिवी तथा जल दोनों द्रव्यों में रहता है शेष में नहीं। मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय भेद से रस ६ प्रकार के होते हैं। इनमें जल में केवल मधुर और पृथिवी में उक्त सभी रस होते हैं। 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः'——जिसका जिह्वेन्द्रिय द्वारा आस्वादन (स्वादग्रहण) होता है उसको 'रस' कहते हैं। जल नैसर्गिकरीत्या रसवाला होने से वही रस का मुख्य आधार-कारण (उत्पत्ति कारण) है और पृथिवी जल के अनुप्रवेश से रसवती होने से गौण आधार-कारण है। रस की अभिव्यक्ति में जल और पृथिवी आधार-कारण है। इससे सिद्ध होता है कि अभिव्यक्त होता हुआ रस; जल और पृथिवी में ही अभिव्यक्त होता है। 'निर्वृत्तौ च' इस वाक्य में 'च' से मधुरादि विशेष में भी जल और पृथिवी निमित्त-कारण है, जैसा कि आगे कहा गया है कि 'सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः' अर्थात् जल और पृथिवी की अधिकता से मधु-रस होता है। 'विशेषे च' यहाँ 'च'कार से अभिव्यक्ति में भी आकाश, वायु और अग्नि कारण है, यह बताया गया है। जैसे कि चरक सूत्र २६ वें अध्याय में कहा गया है——

"तास्त्वन्तरीक्षाद्भ्रश्यमानाभ्रष्टाश्च - पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता जङ्गम-स्थावराणां भूतानां मूर्त्तीरभिप्रीणयन्ति, यासु षड्भिर्मूर्च्छन्ति रसाः"।

अर्थात्––वह जल अन्तरीक्ष से पृथिवी पर गिर कर पञ्चमहाभूतों के गुणों से समन्वित हो जङ्गम और स्थावर सब मूर्त्त द्रव्यों का पोषण करता है, जिसके अन्दर छः रस बनते हैं।

"रसास्तावत् षट्––मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः"

––च० वि० अ० १

रसाः स्वाद्वम्ललवणाः तिक्तोष्णकषायकाः ।
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः ॥

––अ० हृ० सू० १

मधुर-अम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय ये छः रस हैं जो द्रव्यों को आश्रय करके रहते हैं। इनमें अन्त से पूर्व-पूर्व रस अधिक बल देनेवाला है, जैसे––कषाय से कटु, कटु से तिक्त, तिक्त से लवण, लवण से अम्ल और अम्ल से मधुर विशेष बल देनेवाला है। (इसका विशेष विवेचन द्रव्यगुण-विज्ञान में देखें)।

गन्ध-निरूपण

"गन्धो घ्राणग्राह्यः। पृथिवीवृत्तिः घ्राण सहकारी सुरभिरसुरभिश्च। अस्यापि पूर्ववदुत्पत्त्यादयो व्याख्याताः।" ––प्रशस्तपाद

अर्थ––घ्राणेन्द्रिय (नाक) से ग्रहण होनेवाले गुण को 'गन्ध' कहते हैं। यह गुण पृथिवी में रहता है और नाक की सहायता से इसका बोध होता है। यह सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध)––भेद से दो प्रकार का होता है। इसकी उत्पत्ति भी पूर्ववत् रस के समान ही है।

वक्तव्य––'घ्राणग्राह्योगुणो गन्धः' अर्थात् जिस गुण का घ्राणेन्द्रिय (नाक) से ग्रहण होता है उसको 'गन्ध' कहते हैं। गन्धत्व जाति में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'गुण' पद का तथा रूपादि गुणों में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'घ्राणग्राह्य' पद दिया गया है। 'गन्ध-गुण' केवल पृथिवी-द्रव्य में रहता है और सुरभि तथा असुरभि के भेद से दो प्रकार का होता है।

स्पर्श-निरूपण

"स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः। क्षित्युदकज्वलनपवन वृत्तिः, त्वग्सहकारी, रूपानुविधायी, शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात्-त्रिविधः। अस्यापि नित्यानित्यत्व निष्पत्तयः पूर्ववत्।" ––प्रशस्तपाद

अर्थ––स्पर्श-गुण त्वगिन्द्रिय (त्वचा) ग्राह्य है। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु में यह गुण रहता है। त्वग् (त्वचा) से इसका बोध होता है।

यह रूपानुविधायी है। शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत भेद से यह तीन प्रकार का होता है। इसका नित्यत्व और अनित्यत्व तथा उत्पत्ति रस के समान ही है।

वक्तव्य—'त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्योगुणः स्पर्शः' अर्थात् केवल त्वगिन्द्रिय (त्वचा) से जिस गुण का ग्रहण होता है उसको 'स्पर्श' कहते हैं। संख्या-संयोग आदि गुणों में अतिव्याप्ति वारणार्थ 'मात्र' पद तथा स्पर्शत्व जाति में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'गुण' पद का एवं रूपादिगुणों में अतिव्याप्ति वारणार्थ 'त्वगिन्द्रिय मात्रग्राह्य' पद का सन्निवेश किया गया है। उक्त स्पर्श-गुण पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्यों में रहता है, शेष में नहीं। इसके शीत, उष्ण तथा अनुष्णाशीत ये तीन भेद हैं। जल में शीत, तेज में उष्ण तथा पृथिवी और वायु में अनुष्णाशीत-स्पर्श होता है।

शब्द-निरूपण

"शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः क्षणिकः। कार्यकारणोभयविरोधी संयोगविभाग शब्दजः प्रदेशवृत्तिः। सामानासामानजातीयकारणः। स द्विविधः—वर्णलक्षणो ध्वनिलक्षणश्च। तत्र अकारादि-वर्णलक्षणः, शङ्खादिनिमित्तो ध्वनिलक्षणश्च। तत्र वर्णलक्षणस्योत्पत्तिः—आत्ममनसःसंयोगात् स्मृत्यपेक्षाद्वर्णोच्चारणेच्छा, तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्मवायुसंयोगाद्वायौ कर्म जायते, स चोर्ध्वगच्छन् कण्ठादीनभिहन्ति, ततः स्थानवायुसंयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगात् वर्णोत्पत्तिः। अवर्णलक्षणोऽपि भेरीदण्डसंयोगापेक्षाद्भेर्याकाशसंयोगादुत्पद्यते। वेणुपर्वविभागात् वेण्वाकाशविभागाच्च शब्दाच्चसंयोगविभगनिष्पन्नाद् वीची-सन्तानवच्छब्दसन्तान इत्येवं सन्तानेन श्रोत्रप्रदेशमागतस्य ग्रहणं नास्ति परि-शेषात् सन्तानसिद्धिरिति॥ —प्रशस्तपाद

"श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाश देशः शब्दः"

—महाभाष्य

अर्थात्—शब्द आकाश का गुण है। यह श्रोत्रेन्द्रिय (कान) द्वारा ग्रहण होता और क्षणिक है। कार्य-कारण दोनों का विरोधी है। संयोग और विभाग एवं शब्द से उत्पन्न होनेवाला है। एक देश में रहनेवाला अर्थात् अव्याप्य वृत्तिवाला है। समान तथा असमान जाति का कारण है। शब्द दो प्रकार का होता है। वर्णलक्षणात्मक और ध्वनिलक्षणात्मक। इनमें अकारादि वर्ण लक्षणवाला और शंखादि से उत्पन्न ध्वनि लक्षणवाला है। वर्ण-लक्षण शब्द की उत्पत्ति—आत्मा और मन के संयोग से तथा स्मृति की अपेक्षा से वर्णो-च्चारण की इच्छा होती है। उसके बाद प्रयत्न प्रारम्भ होता है। इस प्रयत्न की अपेक्षा से आत्मा और वायु का संयोग होने से वायु में कर्म की उत्पत्ति

होती है। तब वायु ऊपर की ओर जाता हुआ कण्ठ आदि (स्वरयन्त्र) प्रदेश को आहत करता है जिसके फलस्वरूप स्थानीय वायु के संयोग से वर्णोत्पत्ति होती है। अवर्ण (ध्वनि) लक्षणवाला शब्द भी भेरी (वाद्ययन्त्र) और दण्ड के संयोग से एवं भेरी-आकाश के संयोग से उत्पन्न होता है। वेणुपर्व के विभाग से तथा वेणु-आकाश के विभाग से शब्द की उत्पत्ति होती है। संयोग तथा विभाग से उत्पन्न हुआ शब्द (स्वयं श्रोत्र-प्रदेश में नहीं जाता और न श्रोत्र ही शब्द के पास आता है, तो श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द-ग्रहण कैसे होता है, इस शंका का निवारण करते हैं) वीचीतरंगन्याय से शब्द श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता है। (प्रशस्तपाद)। शब्द उसे कहते हैं—जो कान से सुना जाय और बुद्धि जिसका अच्छी तरह ग्रहण करे तथा वाणी द्वारा बोलने से जो जाना जाय और आकाश जिसका स्थान हो। (म० भा०)।

वक्तव्य—"संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः" अर्थात् संयोग, विभाग और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। भेरी-दण्ड आदि के संयोग, वेणु-पर्व (बाँस की गाँठ) आदि का विभाग तथा वीचीतरंग-न्याय द्वारा शब्द से शब्द की उत्पत्ति कहा गया है। तात्पर्य यह कि प्रथम शब्द की उत्पत्ति संयोग तथा विभाग से होती है और दूसरे तथा तीसरे शब्दों की उत्पत्ति वीचीतरंग-न्याय से होती है। एक तरंग से दूसरे की, दूसरे से तीसरे की तथा तीसरे से चौथे की उत्पत्ति क्रम (इस प्रकार उत्तरोत्तर तरंग से तरंग की उत्पत्ति) को "वीचीतरंग-न्याय" कहते हैं। वर्णात्मक तथा ध्वन्यात्मक भेद से शब्द दो प्रकार के होते हैं। जिनमें शिक्षा में[1] वर्णित उरःकण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु आदि स्थानों से उत्पन्न होनेवाले अकारादि शब्दों को 'वर्णात्मक' तथा भेरी, मृदंग आदि में दण्ड आदि के संयोग से उत्पन्न होनेवाले को 'ध्वन्यात्मक' कहा है। वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति का कारण संयोग या शब्दोत्तर शब्द और ध्वन्यात्मक शब्द की उत्पत्ति का हेतु संयोग-विभाग तथा शब्दोत्तर शब्द है।

"आत्मबुद्धचा समेत्यार्थान्मनोयुङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसिचरन्मद्रं जनयते स्वरम्॥"

अर्थात्—जब आत्मा को किसी विषय का कथन करने की इच्छा होती है, तब वह बुद्धि के साथ मिल कर मन को प्रेरित करता है। तब आत्मा के प्रयत्न से

१—अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरःकण्ठःशिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च॥ —शिक्षा०

प्रेरित हुआ मन कायाग्नि के साथ आहत होता है। इस आघात से प्रेरित होकर वायु उरःप्रदेश में संचार करता हुआ मन्दस्वर को उत्पन्न करता है। अर्थात् वायु (उदान-वायु) का कण्ठ-तालु आदि स्थानों के साथ अभिघाताख्य संयोग से वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति होती है। यहाँ अभिघाताख्य संयोग निमित्त-कारण, कण्ठ-तालु आदि का आकाश से संयोग असमवायि-कारण तथा आकाश (शब्द की उत्पत्ति में) समवायिकारण है। प्रशस्तपाद ने—"आत्मा-मनसः संयोगात् स्मृत्यपेक्षाद्वर्णोच्चारणेच्छा" ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम अनुभव किये हुए वर्ण की स्मृति द्वारा आत्मा तथा मन के परस्पर संयोग होने से वर्णोच्चारण की इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा से आत्मा में प्रयत्न और प्रयत्न से आत्मा और वायु का परस्पर संयोग होने से तत्तत्स्थानीय (उरःप्रदेशीय) वायु में कर्म उत्पन्न होता है। तदनन्तर वायु में कर्म उत्पन्न हो जाने से, वायु ऊपर की ओर जाती हुई कण्ठ, तालु आदि स्थानों से टकराती है, इन स्थानों का स्थानीय आकाश के साथ संयोग होने से तथा इन स्थानों का वायु से आहत होने से वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार ध्वन्यात्मक शब्द के प्रति भेरी-दण्ड संयोग निमित्तकारण, भेरी-आकाश-संयोग असमवायि-कारण और आकाश समवायि-कारण है। जैसे भेरी-दण्ड संयोगजन्य शब्द और दण्ड आदि का परस्पर कार्य-कारण भाव है वैसे ही शंखजन्य शब्द में भी समझना चाहिये, अर्थात् शंखजन्य शब्द का शंख-मुख-संयोग निमित्त-कारण शंख तथा आकाश का परस्पर संयोग असमवायि-कारण और आकाश समवायि-कारण है।

इसी प्रकार विभाग जन्य शब्द में वेणु तथा ग्रन्थि (पर्व) का विभाग निमित्त-कारण, वेणु आकाश का संयोग असमवायिकारण तथा आकाश समवायिकारण है। और जहाँ दूर देश में उत्पन्न हुआ शब्द वीचीतरंग-न्याय से श्रोत्र देश में प्राप्त होता है, वहाँ शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। "नाप्राप्य प्रकाश कारित्वमिन्द्रियाणाम्" अर्थात् विषय-प्रदेश में प्राप्त न होने पर इन्द्रियों से वस्तु का प्रकाश नहीं होता, किन्तु विषय-प्रदेश में प्राप्त होने पर सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के प्रकाशन में समर्थ होती हैं, अन्यथा नहीं। इस नियमा-नुसार भेरी आदि देश में उत्पन्न हुए शब्द का श्रोत्र से ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि क्रिया रहित होने से आकाश रूप श्रोत्र में भेरी आदि देश पर्यन्त गमनात्मक कर्म नहीं हो सकता, इसलिये 'वीचीतरंगन्याय' द्वारा भेरी-दण्ड-संयोगजन्य शब्द की श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा प्राप्ति होने से उसका प्रत्यक्ष होता है और पूर्व तरंग से उत्तरोत्तर तरंग की भाँति एक बार भेरी-दण्ड के संयोग से उत्पन्न हुए शब्द द्वारा उत्तरोत्तर शब्द की उत्पत्ति होती है। इसमें पवनादि निमित्त कारण है और पूर्व-पूर्व शब्द उत्तरोत्तर शब्द का असमवायि-कारण है तथा आकाश समवायि-कारण है।

यहाँ एक और बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ किसी एक देश में उत्पन्न हुआ शब्द दश दिशाओं में फैल जाता है वहाँ केवल 'वीचीतरंग-न्याय' से शब्द की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु 'कदम्बमुकुलन्याय' से होती है। अर्थात् जैसे कदम्ब पुष्प के विकास के समय में उसकी मुकुल (कलि-केशर) दसों दिशाओं में एक बार ही विकसित हो जाते हैं वैसे ही भेरी आदि देश में उत्पन्न हुआ शब्द एक काल में ही दसों दिशाओं में फैल जाता है और उसके अनन्तर 'वीचीतरंगन्याय' से दसों दिशाओं में पूर्व-पूर्व शब्द से उत्तरोत्तर शब्द की उत्पत्ति होती है।

गुरुत्व-निरूपण

"गुरुत्वं जलभूम्योः पतनकर्मकारणम्। अप्रत्यक्षं पतनकर्मानुमेयं संयोग-प्रयत्न-संस्कारविरोधि। अस्य चाबादिपरमाणुरूपादिवन्नित्यानित्यत्व निष्पत्तयः॥"

—प्रशस्तपाद

अर्थात्—जल और भूमि के पतन-कर्म का कारण 'गुरुत्व' है। यह अप्रत्यक्ष गुण है जो पतन-कर्म के द्वारा अनुमान से जाना जाता है। यह संयोग, प्रयत्न तथा संस्कार का विरोधी है। जिस प्रकार जल आदि के परमाणु के रूप नित्य और अनित्य होते हैं उसी प्रकार गुरुत्व भी नित्य और अनित्य होते हैं। अर्थात् परमाणुरूप में नित्य और कार्यरूप में (आश्रय के नाश से नाश होनेवाला) अनित्य है।

वक्तव्य—"आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वम्" अर्थात् फल का जो वृक्ष से प्रथम पतन होता है उसके असमवायि-कारण गुण का नाम 'गुरुत्व' है। तात्पर्य यह कि भारी वस्तु जो ऊपर से नीचे गिरती है, उसके गिरने को 'पतन' कहते हैं और वह वस्तु नीचे एक ही पतन से नहीं गिरती किन्तु मध्य में अनेक पतन होते हैं; उन पतनों के मध्य में जो प्रथम पतन है वह गुरुत्व से और द्वितीयादि पतन वेग से उत्पन्न होते हैं, इसलिये गुरुत्व का यह लक्षण निष्पन्न हुआ कि जो गुण प्रथम पतन का असमवायित्व कारण है वह 'गुरुत्व' है। यह गुण पृथिवी और जल दोनों में रहते हैं। गुरुत्व गुण अप्रत्यक्ष है। हम इसे देख नहीं सकते। कोई इसे स्पर्शेन्द्रिय ग्राह्य मानते हैं। परन्तु किसी द्रव्य के गुरुत्व का ज्ञान हमें तभी होता है जब हम उसमें पतन कर्म देखते हैं। जैसे वृक्ष से फल को गिरते हुए देखकर हम समझते हैं कि फल में गुरुत्व होने से पतन कर्म हुआ है, अतः पतन कर्म को देख कर पतन कर्म के कारण 'गुरुत्व' का अनुमान करते हैं। जिस प्रकार जल और पृथिवी के परमाणुओं के रूप नित्य तथा अनित्य होते हैं उसी प्रकार इनके परमाणुओं के गुरुत्व भी नित्य तथा अनित्य होते हैं।

"संयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम्" (वै० द० ५।१।७) अर्थात् संयोग के न रहने से गुरुत्व से (वस्तु का) पतन होता है। जब पतन के प्रतिबन्धक संयोग का अभाव हो जाता है तब भारी वस्तु ऊपर से नीचे की ओर आ जाती है। इस पतन में 'प्रतिबन्धक रहित गुरुत्व असमवायि-कारण है अर्थात्—ऊपर से आने-वाली वस्तु के नीचे की ओर संयोग को उत्पन्न करनेवाली क्रिया का नाम 'पतन' है, वह क्रिया गुरुत्ववाले लोष्ठादि द्रव्यों में होती है, अन्य में नहीं। गुरुत्व-वाले द्रव्य के पतन का प्रतिबन्धक जो संयोग, उसके अभाव से वस्तु का पतन होता है। उक्त संयोग होने पर पतन नहीं होता; जैसा कि वृक्षवर्ति फल आदि में देखा जाता है कि जब तक फल का शाखा के साथ सम्बन्ध (संयोग) है तब तक वह नीचे नहीं आता (गिरता)। इससे सिद्ध है कि संयोग के अभाव से (गुरुत्ववाले) फल का पतन होता है। इसमें फलवर्ती गुरुत्व असमवायि-कारण और फल समवायि-कारण तथा संयोगाभाव निमित्त कारण है। इसी से उक्त सूत्र में प्रशस्तपाद ने गुरुत्व को संयोग-विरोधी कहा है।

"संस्काराभावे गुरुत्वात्पतनम्" (वै० द० ५।१।१८) अर्थात्—संस्कार के विनाश होने पर गुरुत्व से (बाण का) पतन होता है। अनेक कर्मों को उत्पन्न करने से क्षीण-शक्ति (निर्बल हुआ वेग) नामक संस्कार स्वयं नष्ट हो जाता है और उक्त संस्कार के नष्ट हो जाने के कारण प्रतिबन्ध शून्य हुए 'गुरुत्व' से पुनः बाण का स्व-लक्ष्य किंवा भूमि आदि पर पतन होता है। भाव यह है कि कर्म-प्रवाह को उत्पन्न करनेवाले वेग नामक संस्कार की शक्ति का अपक्षय (ह्रास न हो किन्तु वह सर्वदा एक रस) बनी रहे, तो बाण आदि का पतन नहीं हो सकता, परन्तु उत्तरोत्तर गमनात्मक कर्मों को उत्पन्न करने से वेग नामक संस्कार की शक्ति का निरन्तर ह्रास होता जाता है और ज्यों-ज्यों उसकी शक्ति का ह्रास होता है त्यों-त्यों वह अपने कर्म को भी मन्द, मन्दतर आदि भेद से विलक्षण-विलक्षण उत्पन्न करता है, जैसा कि नये वृक्ष का फल-रूप-कार्य उत्तम तथा पुराने का अधम देखा जाता है। और उक्त संस्कार की शक्ति का सर्वथा ह्रास होने के अनन्तर उसका भी विनाश हो जाता है। इस प्रकार वेग नामक संस्कार के नाश होने से निरावलम्ब हुए बाण का गुरुत्व रूप कारण से पतन होता है। यही रीति लोष्ठादि द्रव्यों को भी जाननी चाहिये। तात्पर्य यह है कि फेंकी हुई वस्तु का पतन गुरुत्व से होता है। परन्तु वह तब तक अपने पतन रूप कार्य को नहीं उत्पन्न कर सकता जब तक वेग नामक संस्कार से प्रतिबद्ध है। इसीसे प्रशस्तपाद ने गुरुत्व को संस्कार-विरोधी कहा है।

"अपां संयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम्" (वै० द० ५।२।३) अर्थात् संयोग के अभाव होने पर गुरुत्व से जल का पतन होता है। तात्पर्य यह कि प्रतिबन्धक

संयोग के अभाव होने से गुरुत्व के कारण मेघमण्डलवर्ती जलों का अधःपतन होता है। अर्थात् जब अनुकूल वायु के संयोग द्वारा कर्म की उत्पत्ति से पतन के प्रतिबन्धक मेघ संयोग का जल के साथ अभाव होता है तब प्रतिबन्धक शून्य स्ववर्ति गुरुत्व से जल का वर्षा रूप में पतन होता है। उक्त पतन में जल समवायि-कारण, गुरुत्व असमवायि-कारण और प्रतिबन्धक संयोग का अभाव निमित्त-कारण है।

वक्तव्य—'गुरु' और 'लघु' ये दोनों सापेक्ष्यगुण होने और गुरुत्व के निरूपण से लघुत्व का भी निरूपण समझना चाहिये। इसी गुरु-लघु का वर्णन सर्वत्र एक साथ किया गया है, जैसे—"गौरवं पार्थिवमाप्यं च। लाघवमन्यदीयम्॥" अर्थात्—गुरु-गुण पृथिवी और जल के गुणों की अधिकतावाला है और लघु-गुण उससे अन्य वायु, आकाश और अग्नि के गुणों की अधिकतावाला है।

स्नेह-निरूपण

"स्नेहोऽपां विशेष गुणः। संग्रहमृजादि हेतुः। अस्यापि गुरुत्ववन्नित्यानित्यत्व निष्पत्तयः।" —प्रशस्तपाद

अर्थात्—स्नेह जल का विशेष गुण है। पिण्डीभाव के हेतु का नाम 'स्नेह' है तथा (वस्तु में) मृदुता आदि भी स्नेह के कारण ही होती है। स्नेह भी गुरुत्व के समान नित्य और अनित्य है।

वक्तव्य—"संग्रहहेतुर्गुणः स्नेहः" अर्थात् एकत्र या पिण्डीभाव के हेतु गुण को 'स्नेह-गुण' कहते हैं। चिकनापन का नाम स्नेह है। आटे आदि का पिण्ड जो जल डालकर बनाया जाता है उसको पिण्डीभाव कहते हैं। यह पिण्डीभाव जलगत स्नेह से होता है। पृथिवी में जो इसकी प्रतीति होती है वह जल के सम्बन्ध से ही होती है स्वतः नहीं।

वक्तव्य—स्निग्ध और रूक्ष दोनों सापेक्ष्य गुण हैं, अतः स्नेह के निरूपण से रूक्ष का भी निरूपण समझ लेना चाहिये।

"रूक्ष वैशद्ये पार्थिव वायव्ये॥" —र० वै० ३

अर्थात्—रूक्ष और विशद गुण पृथिवी और वायु के गुणवाले होते हैं।

द्रवत्व-निरूपण

"द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम्। त्रिद्रव्यवृत्तिः। तत्तु द्विविधं—सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च। सांसिद्धिकमपां विशेषगुणः। नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः सामान्य गुणः। सांसिद्धिकस्य गुरुत्वन्नित्यान्नित्वनिष्पत्तयः संघात दर्शनात् सांसिद्धिकमयुक्तमिति चेन्न दिव्येन तेजसा संयुक्तानामाप्यानां परमाणूनां परस्पर संयोगो द्रव्यारम्भकः संघाताख्यः, तेन परमाणुद्रवत्व प्रतिबन्धात् कार्ये महिकरकदौ द्रवत्वानुत्पत्तिः। नैमित्तिकं च पृथिवीतेजसोरग्नि संयोगजम्॥

कथं सर्पिर्जतुमधुच्छिष्टादीनां कारणेषु परमाणुष्वग्निसंयोगाद्वेगापेक्षात् कर्मोत्पत्तौ तज्जेभ्यो विभागेभ्यो द्रव्यारम्भक संयोगविनाशात् कार्यद्रव्यनिवृत्तावग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षात् स्वतन्त्रेषु परमाणुषु द्रवत्वमुत्पद्यते, ततस्तेषु भोगिनामदृष्टापेक्षादात्मगुण संयोगात् कर्मोत्पत्तौ तज्जेभ्यः संयोगेभ्यः द्व्यणुकादि प्रक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते, तस्मिंश्च रूपाद्युत्पत्तिसमकालं कारणगुणप्रक्रमेण द्रवत्वमुत्पद्यत इति । ——प्रशस्तपाद

अर्थात्——स्यन्दन (बहना) कर्म के कारण (असमवायि-कारण) को द्रवत्त्व कहते हैं। यह तीन द्रव्यों (जल, तेज, पृथिवी) में रहता है और दो प्रकार का होता है——(१) सांसिद्धिक तथा (२) नैमित्तिक। सांसिद्धिक द्रवत्व (गुण) जल का विशेष गुण है। नैमित्तिक द्रवत्व (गुण) पृथिवी और तेज का सामान्य गुण है सांसिद्धिक द्रवत्व गुरुत्व के समान नित्य (परमाणु में) और अनित्य (कार्य द्रव में) होता है। जल के, हिमकरक (बर्फ तथा ओले) आदि के काठिन्य को देख कर सांसिद्धिक द्रवत्व को यदि अयुक्तियुक्त कहें तो ठीक नहीं, क्योंकि सर्वत्र जल में द्रवत्व देखा जाता है अतः द्रवत्व तो निश्चित रूप से जल का सांसिद्धिक गुण है ; परंतु बर्फ और ओले आदि में जो द्रवत्व का अभाव मालूम होता है उसमें दिव्य तेज से जल के परमाणुओं का परस्पर संयोग होकर द्रव्यारम्भक संघाताख्य गुण उत्पन्न होता है, इसलिये परमाणु द्रवत्व के प्रतिबन्धक दिव्य तेज से परमाणुओं के संयोग के कारण हिमकरकादि में द्रवत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती और पृथिवी तथा तेज में नैमित्तिक द्रवत्व गुण तो अग्नि संयोग से उत्पन्न होता है। यह किस प्रकार होता है इसे स्पष्ट करते हैं कि——घृत, लाक्षा और मोम आदि के कारण परमाणुओं में अग्नि-संयोग एवं संस्कार से द्रव्यारम्भक संयोग का विनाश होने से तथा उसके द्वारा उत्पन्न विभाग से उत्पन्न कार्य में द्रवत्व होता है। कार्य-द्रव्य में द्रवत्व अग्निगत उष्णता के कारण स्वतंत्र परमाणुओं में उत्पन्न होता है।

वक्तव्य——"आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्" अर्थात्——प्रथम स्यन्दन (बहने) के असमवायि-कारण-गुण का नाम 'द्रवत्व' है। या यों कहें कि द्रवीभूत वस्तु के प्रथम बहन का जो असमवायि-कारण है उसको 'द्रवत्व' कहते हैं। यह सांसिद्धिक तथा नैमित्तिक भेद से दो प्रकार का होता है। स्वतः सिद्ध का नाम 'सांसिद्धिक' और (तेजो रूप) निमित्त के सम्बंध से उत्पन्न होनेवाले का नाम 'नैमित्तिक' है। जल में द्रवत्व गुण सांसिद्धिक और पृथिवी तथा तेज में नैमित्तिक है। तेज से तात्पर्य तैजस-द्रव्य (सुवर्णादि धातुओं) का है।

"द्रवत्वात्स्यन्दनम्" (वै० द० ५।२।४) अर्थात्——जल के बहने में द्रवत्व हेतु है। बहने को स्यन्दन कहते हैं। वर्षा के अनन्तर पृथिवी पर प्रवाह रूप

हुए जल के स्यन्दन अर्थात् नीचे की ओर अभिसर्पणात्मक कर्म की उत्पत्ति में द्रवत्व (द्रवीभाव) कारण है। उक्त कर्म में जल समवायि-कारण, द्रवत्व असमवायि-कारण और गुरुत्व निमित्त-कारण है। "अपांसंघातोविलयनञ्च तेजः संयोगात्" (वै० द० ५।२।९) अर्थात्—तेज के संयोग से जल का संघात तथा विलयन होता है। ओला तथा बर्फ आदि रूप में जल के दृढ़तर संयोग का नाम 'संघात' है और संघात को त्याग कर पहले रूप में होने का नाम 'विलयन' (पिघलना) है। यद्यपि जल में सांसिद्धिक द्रवत्व गुण है अर्थात्—जल का द्रवीभूत होना स्वाभाविक धर्म है तथापि उसके संघात तथा विलयन में विलक्षण तेजः संयोग कारण है। तात्पर्य यह है कि अधिक बल वाले दिव्य तेज का संयोग अन्तरीक्षस्थ जल में सामान्य रूप से वर्तमान अनुद्भूत रूपवाले तैजस द्रव्य को बाहर निकाल देता है और उसके बाहर निकल जाने पर शीघ्र ही जलवर्ती सांसिद्धिक द्रवत्व का प्रतिबन्ध हो जाता है तथा उसके प्रतिबन्ध द्वारा जल-परमाणुओं का परस्पर संघात होने से ओले आदि की उत्पत्ति होती है। यह विजातीय वायु के संयोग तथा गुरुत्व से वर्षा द्वारा भूमि पर गिर पड़ता है और पुनः अदिव्य (भौम) तेजःसंयोग द्वारा द्रवत्व के प्रतिबन्धक के निवृत्ति होने से पिघलने (द्रव होने) लगता है। (हिम—बर्फ को और करक—ओला को कहते हैं)

नोट—द्रव और सान्द्र सापेक्ष्य गुण है अतः द्रव के निरूपण से सान्द्र का भी निरूपण समझना चाहिये।

गुर्वादि बीस गुण (गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, सूक्ष्म-स्थूल, सान्द्र-द्रव) सामान्य गुण कहे जाते हैं। आयुर्वेद-शास्त्र में विशेषकर इन गुणों का विवेचन चिकित्सा कार्य के लिये किया गया है। इन गुणों में शीतोष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, विशद-पिच्छिल, गुरु-लघु, मृदु-तीक्ष्ण इन गुणों को रस-वशेषिक में कर्मण्य गुण कहा है। इसीसे चरक, सुश्रुत आदि संहिताग्रन्थों में, नागार्जुन के इन कर्मण्य गुणों को वीर्य भी कहा गया है। यह अष्टविध वीर्यवादियों का मत है। आयुर्वेद में इन गुणों का अस्तित्व निम्न प्रकार से वर्णित है—(रस वैशेषिक)—

"गौरवं पार्थिवमाप्यञ्च।" अर्थात् गुरु-गुण पार्थिव और आप्य है, क्योंकि गुरु-गुण पृथिवी और जल में होता है। "लाघवमन्यदीयम्" अर्थात् लघु-गुण अन्य तीनों में—वायु, आकाश तथा अग्नि में पाया जाता है। "शीतस्निग्ध-गुरुपिच्छिलास्तत्राप्याः" अर्थात् शीत, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल गुण आप्य है। ये गुण जल में पाये जाते हैं। जहाँ कहीं भी शैत्य, स्निग्धता, गुरुत्व तथा पैच्छिल्य का अनुभव हो वहाँ जल की स्थिति समझ लेनी चाहिये, क्योंकि ये गुण जल के सांसिद्धिक गुण हैं। जल स्वभाव से ही शीत, स्निग्ध, गुरु और पिच्छिल होता है।

"तैजसमौष्ण्यंतैक्ष्ण्यं च" (र० वै० अ० ३) अर्थात्—उष्ण और तीक्ष्ण गुण आग्नेय होता है। अग्नि में उष्णता तथा तीक्ष्णता होती है। तात्पर्य यह कि जिस द्रव्य में उष्णता तथा तीक्ष्णता हो उसमें अग्नि की स्थिति समझनी चाहिये, क्योंकि उष्ण तथा तीक्ष्ण गुण—अग्नि का स्वाभाविक गुण है। "रौक्ष्य वैशद्ये पार्थिव वायव्ये च।" (र० वै० अ० ३) अर्थात्—रूक्ष और विशद गुण पार्थिव और वायव्य है। रूक्ष तथा विशद-गुण पृथिवी और वायु में रहते हैं।

"मार्दवमान्तरीक्षमाप्यञ्च" (र० वै० अ० ३) अर्थात्—मृदु-गुण आकाश और जल में रहता है। "कठिनत्त्वं" अर्थात्—काठिन्य पृथिवी का गुण है। जहाँ-जहाँ काठिन्य हो वहाँ-वहाँ पृथिवी की स्थिति समझनी चाहिये। "तैजसं श्लक्ष्णत्त्वं नाम" अर्थात् तैजस का श्लक्ष्ण-गुण है। जहाँ श्लक्ष्ण गुण हो वहाँ अग्नि के कारण समझना चाहिये, क्योंकि श्लक्ष्ण गुण अग्नि की अधिकता वाला होता है। जैसे घिसा हुआ मणि आदि स्नेह के बिना भी चिक्कन होता है। इसी को महाभाष्य में "मृष्मणीनां स्पर्शः, स खुल भास्वरसामान्यादग्निनोत्पद्यते" ऐसा कहा है। "कर्कशत्त्वं वायव्यम्" (र० वै० अ० २) अर्थात् कर्कश (खर) गुण वायव्य—वायु में होता है। इसी से भाष्यकार ने कहा है "वायुः शोषणात्मकत्त्वात् व्यूहकरणाच्च पद्मनालादिषु कर्कश हेतुर्भवति" (भाष्य)। स्थिर-गुण वात का स्तम्भन करनेवाला, सर-गुण वायु को प्रवृत्त करानेवाला, मन्द-गुण कालकोप करानेवाला, सूक्ष्म-गुण सूक्ष्म-स्रोतों में प्रवेश करनेवाला और स्थूल-गुण स्रोतों में अवरोध करनेवाला होता है। (इनका विशेष वर्णन यादवजी कृत 'द्रव्यगुण-विज्ञान' में देखें)।

बुद्धि-निरूपण

"सर्व व्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः" अर्थात्—यह घट है यह पट है इत्यादि सम्पूर्ण व्यवहारों के हेतु-ज्ञान का नाम 'बुद्धि' है। ज्ञान, उपलब्धि, प्रत्यय तथा बुद्धि ये चार पर्याय शब्द हैं। अनुभूति तथा स्मृति के भेद से बुद्धि दो प्रकार की होती है। अनुभव तथा अनुभूति के स्मृति तथा स्मरण ये दोनों पर्याय शब्द हैं। "संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः" अर्थात् संस्कारमात्र से जो ज्ञान होता है उसे 'स्मृति' कहते हैं, या यों कहें कि पूर्व अनुभव किये हुए पदार्थ का जो कालान्तर में संस्कारवश ज्ञान होता है उसका नाम 'स्मृति' है। भावित-स्मर्तव्य और अभावित-स्मर्तव्य के भेद से स्मृति भी दो प्रकार की होती है। स्वप्नावस्था में होनेवाले ज्ञान का नाम 'भावित-स्मर्तव्य' और जागृतावस्था में होनेवाले स्मरण का नाम 'अभावित स्मर्तव्य' है। उक्त स्मृति से जो भिन्न ज्ञान है उसे 'अनुभूति' कहते हैं। यह अनुभूति 'विद्या' और 'अविद्या' भेद से दो प्रकार की होती है।

'तद्वतितत्प्रकारकानुभूतिर्विद्या' अर्थात् जो वस्तु जैसी हो वैसा ही ज्ञान होना 'विद्या' तथा इसके विपरीत ज्ञान होना 'अविद्या' है। तात्पर्य यह है कि यथार्थ ज्ञान का नाम विद्या है। प्रत्यक्षा, लैङ्गिकी तथा शाब्दी के भेद से यह विद्या तीन प्रकार की होती है। इसीको प्रत्यक्षज्ञान, अनुमितिज्ञान तथा शब्दज्ञान भी कहते हैं। विद्या की भाँति संशय तथा विपर्यय भेद से अविद्या भी दो प्रकार की होती है। "एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्ध नाना धर्म प्रकारकं ज्ञानं संशयः" अर्थात्—एक धर्मी में उसके विरुद्ध नाना धर्मों को बतानेवाले ज्ञान का नाम 'संशय' है। "तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं विपर्ययः" अर्थात् जो धर्म जहाँ न हो वहाँ उसका ज्ञान होना विपर्यय है। इसीको वैशेषिक तथा नैयायिकों ने 'अन्यथाख्याति' कहा है।

सुख-निरूपण

"अनुग्रहलक्षणं सुखम्।" "धर्मजन्यमनुकूलवेदनीयं गुणः सुखम्।"

—प्रशस्तपाद

अर्थात्—धर्मजन्य तथा 'यह मुझे हो' इस प्रकार अनुकूल-ज्ञान विषय का जो गुण है उसे 'सुख' कहते हैं। जो धर्म से उत्पन्न होता है और परम प्रेम का विषय गुण है उसका नाम 'सुख' है।

दुःख-निरूपण

"उपघातलक्षणं दुःखम्।" "अधर्मजन्यं प्रतिकूलवेदनीयं गुणो दुःखम्।"

—प्रशस्तपाद

अर्थात्—अधर्मजन्य और 'यह मुझे न हो' इस प्रकार के प्रतिकूल-ज्ञान विषयक, जो गुण उसको दुःख कहते हैं। जो अधर्म से उत्पन्न होता है तथा परम द्वेष का विषय है उसे दुःख कहते हैं।

इच्छा-निरूपण

"स्वार्थं परार्थं वाऽप्राप्त प्रार्थनेच्छा।" अर्थात्—अपने तथा दूसरों के लिये अप्राप्त अर्थ की चाहना का नाम 'इच्छा' है। आत्मा तथा मन के संयोग से सुख और स्मृति की अपेक्षा से यह उत्पन्न होती है। प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म का यह हेतु है। काम, अभिलाषा, राग, संकल्प, कारुण्य, वैराग्य, उपधा और भाव आदि इच्छा के भेद हैं। मैथुनेच्छा को काम, अभ्यवहारेच्छा को अभिलाषा, बार-बार विषयानुरंजनेच्छा को राग, अनासन्न क्रिया की इच्छा को संकल्प, अपने स्वार्थ को छोड़कर पर दुःख को दूर करने की इच्छा को कारुण्य, दोषों को देखकर विषय-त्याग की इच्छा को वैराग्य, दूसरे को ठगने की इच्छा को 'उपधा' और

अन्तर्निगूढ़ इच्छा को 'भाव' कहते हैं। चिकीर्षा, जिहीर्षा आदि क्रियाओं के भेद से भी इच्छा के भेद होते हैं।

द्वेष-निरूपण

"प्रज्वलनात्मको द्वेषः। यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते स द्वेषः।" —प्रशस्तपाद

अर्थात्—जिसके होने से अपने आपको प्रज्वलित के समान अनुभव हो उसे 'द्वेष' कहते हैं। यह दुःख तथा दुःखदस्मृति के कारण आत्मा और मन के संयोग होने पर उत्पन्न होता है। यह भी प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म का हेतु है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा और अमर्ष ये द्वेष के भेद हैं।

प्रयत्न-निरूपण

"प्रयत्नःसंरम्भ उत्साह इति पर्यायाः। स द्विविधः जीवनपूर्वक ; इच्छा-द्वेषपूर्वकश्च।"

"कृतिः प्रयत्नः"।

वस्तु के सम्पादनार्थ चेष्टा का नाम प्रयत्न है। प्रयत्न, संरम्भ, उत्साह ये पर्याय-शब्द हैं। प्रयत्न दो प्रकार का होता है—(१) जीवन पूर्वक और (२) इच्छा-द्वेष पूर्वक प्रयत्न। इनमें जीवन पूर्वक प्रयत्न वह है जो शयन-काल में प्राण-अपान आदि (श्वास-प्रश्वास आदि) का प्रेरक है और जाग्रत् अवस्था में मन का इंद्रियों के साथ संयोग कराने में हेतु है। धर्माधर्म की अपेक्षा से जब आत्मा और मन का संयोग होता है तब जीवन पूर्वक प्रयत्न की उत्पत्ति होती है। दूसरा अर्थात् इच्छा-द्वेष पूर्वक प्रयत्न तो हित और अहित की प्राप्ति एवं परिहार में समर्थ होनेवाले व्यापार का हेतु और शरीर विधारक है। यह आत्मा और मन के संयोग होने पर इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होता है।

धर्म-निरूपण

"धर्मःपुरुषगुणः"। "विहित कर्मजन्यो गुणो धर्मः।" —प्रशस्तपाद,वै०द०

अर्थात्—धर्म पुरुष का गुण है। वेद-विहित कर्मों के अनुष्ठान से जो पुण्य उत्पन्न होता है उस गुण का नाम धर्म है। यह कर्त्ता के प्रिय (सुख) हित तथा मोक्ष का साधन है।

अधर्म-निरूपण

"अधर्मोऽप्यात्मगुणः।" "निषिद्धकर्मजन्यो गुणोऽधर्मः।" —प्रशस्तपाद

अर्थात्—अधर्म भी आत्म-गुण है परन्तु यह कर्त्ता के अहित (दुःख) और प्रत्यवाय का साधन है। वेद-निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से जो पाप उत्पन्न होता है उस गुण का नाम 'अधर्म' है।

परत्वापरत्व-निरूपण

"परत्वमपरत्वं च परापराभिधान प्रत्ययनिमित्तम् । तत्तु द्विविधं दिक्कृतं कालकृतं च । तत्र दिक्कृतं दिग्विशेष प्रत्यायकम् ।। कालकृतं च वयोभेद प्रत्यायकम् ।" ——प्रशस्तपाद

अर्थात्——परत्त्व और अपरत्त्व-पराभिधान, अपराभिधान तथा परप्रत्यय एवं अपरप्रत्यय के कारण हैं। ये दो प्रकार के होते हैं——दिक्कृत् और कालकृत्। इनमें दिक्कृत् दिग्विशेष के और कालकृत् वयोभेद के बोधक हैं। "देश-काल-वयो-मान-पाक-वीर्य-रसादिषु परापरत्वे।" (च० सू० अ० २६)।

वक्तव्य——देश, काल, वय, मान (परिमाण), पाक (विपाक), वीर्य, रस आदि में परत्व और अपरत्व व्यवहार के हेतुभूत जो गुण हैं उनको परत्व और अपरत्व कहा जाता है। परत्व अर्थात् उत्कृष्टत्व और अपरत्व अर्थात् अवरत्व, निकृष्टत्व, जैसे—देश में मरु देश पर-उत्कृष्ट, अनूप-अपर-निकृष्ट ; काल में विसर्ग-पर, आदान-अपर, वय में तरुणावस्था पर, अन्य अपर, शरीर के मान के स्थान में जो प्रकृतमान कहा गया है वह-पर अन्य अपर, विपाक, वीर्य और रसों में जिनके लिये जो उपयोगी है वह-पर, अन्य अपर इत्यादि। वैशेषिक दर्शन में 'वह विप्रकृष्ट——दूर है, 'यह सन्निकृष्ट——समीप है', ऐसा प्रयोग जिन गुणों के कारण होता है, उनको क्रमशः 'परत्व' और 'अपरत्व' कहते हैं। उनके मत में दैशिक और कालिक दो प्रकार का परत्व और अपरत्व होता है। जिसका देश अर्थात् स्थान से सम्बंध हो उसको दैशिक और जिसका काल अर्थात् समय से सम्बंध हो उसको कालिक कहते हैं। जैसे——दूरदेशीय, निकटदेशीय, दूरकालीन, समीप-कालीन इत्यादि परत्वापरत्व के अर्थ में व्यवहृत होते हैं। आयुर्वेदाचार्यों ने सन्निकृष्ट याने उपयोगिता में समीप (प्रधान-उत्कृष्ट) और विप्रकृष्ट याने उपयोगिता में दूर (अप्रधान-निकृष्ट) ऐसा अर्थ कर देश, काल, वय, मान, विपाक, वीर्य, रस आदि में परत्वापरत्व सम्बन्ध बताया है।

युक्ति-निरूपण

"युक्तिश्च योजना या तु युज्यते।" ——च० सू० अ० २६

"या कल्पना यौगिकी भवति सा तु युक्तिरुच्यते। अयौगिकं तु कल्पनाऽपि सती युक्तिर्नोच्यते, पुत्रोऽपुत्रवत्।"

युक्ति-योजना——दोष, देश, प्रकृति, काल आदि को देख करके की हुई (औषधि आदि की) सम्यक् योजना-कल्पना को 'युक्ति' कहते हैं। यदि यह कल्पना अयौगिकी (अयुक्त) हो तो कल्पना के होने पर भी युक्ति नहीं कहलाती।

संख्या-निरूपण

"संख्या स्याद् गणितम् ।" —च० सू० अ० २६
"एकत्वादिव्यवहार हेतुः संख्या ।" —वै० द०

गणना के व्यवहार के हेतु एक, दो, तीन आदि को संख्या कहते हैं ।

"एकं दशशतं चैव सहस्रमयुतं तथा ।
लक्षं च नियुतंचैव कोटिरर्बुदमेव च ।।
वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शंखःपद्मश्चसागरः ।
अन्त्यं मध्यं परार्धं च दशवृद्ध्यायथाक्रमम् ।।"

इकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार, दसहजार, लाख, दसलाख, करोड़, दसकरोड़, अरब, दश अरब, वृन्द, दशवृन्द, खर्व, दशखर्व, निखर्व, दशनिखर्व, शंख, दशशंख, पद्म, दशपद्म, सागर, दशसागर, अन्त्य, दशअन्त्य, मध्य, दशमध्य, परार्ध, दश परार्द्ध । इस प्रकार यथाक्रम दश-दश बढ़ा कर परार्ध पर्यन्त संख्या है । उक्त संख्या के मध्य, "एक" संख्या जीव, ईश्वर तथा प्रकृति इन तीन नित्य पदार्थों में नित्य तथा अन्य अनित्य पदार्थों में अनित्य है । और दो से लेकर परार्ध पर्यन्त जितनी संख्या है वह सब बुद्धिजन्योपयोगी होने से सर्वत्र अनित्य है ।

अपेक्षाबुद्धि—"अयमेकोऽयमेकइत्याकारबुद्धिरपेक्षाबुद्धिः" अर्थात्—यह एक है, इस प्रकार के पृथक्-पृथक् ज्ञान का नाम 'अपेक्षाबुद्धि' है ।

संयोग-निरूपण

"योगः सह संयोग उच्यते ।
द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैक कर्मजोऽनित्य एव च ।" —च० सू० अ० २६
"संयुक्त व्यवहार हेतुः संयोगः ।" —वै० द०

दो या अधिक द्रव्यों का योग होना—साथ मिलना संयोग कहलाता है । यह संयोग द्वन्द्वकर्म (दो के कर्म-चेष्टा) से, सर्वकर्म (अनेकों के कर्म) से, या एक के कर्म से होता है और यह अनित्य है । जैसे लड़ते हुए दो मेढ़ों का संयोग 'द्वन्द्वकर्मज' दो की चेष्टा से होनेवाला संयोग है । एक पात्र में डाले हुए उर्दों का संयोग 'सर्वकर्मज' है, क्योंकि अनेक उर्दों का एक साथ मिलना होता है । वृक्ष और काक का संयोग एक कर्मज है क्योंकि यह अकेले काक की चेष्टा से होता है । विभाग से संयोग का नाश होता है । इसलिये संयोग अनित्य है ।

वक्तव्य—दो वस्तुएँ परस्पर जुड़ी हुई हैं, इस व्यवहार के हेतु-गुण को संयोग कहते हैं । यह सब द्रव्यों में रहता है । संयोग—दो वस्तुओं का बाह्य संबंध है । जो पदार्थ पहले से सम्बद्ध नहीं थे, उनका समय-विशेष में साथ मिल जाना

'संयोग' कहलाता है। "अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः।" वैशेषिक वाले 'अन्यतरकर्मज', 'उभयकर्मज' और 'संयोगज' ये तीन प्रकार के संयोग मानते हैं। अन्यतरकर्मज (एककर्मज) और उभयकर्मज (द्वन्द्वकर्मज) का उदाहरण मूल में दिया हुआ है। हाथ और शाखा के संयोग से शरीर और वृक्ष का जो संयोग होता है उसे 'संयोगज संयोग' कहते हैं। उर्द का ऊपर जो उदाहरण दिया गया है, वह ठीक नहीं; क्योंकि उर्द अचेतन द्रव्य है, अतः उनमें कर्म की कल्पना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती। यदि मेले आदि की भीड़ में परस्पर संलग्न होकर जमा हुए मनुष्यों का उदाहरण देते तो उपयुक्त होता। क्योंकि मनुष्य सचेतन है, अतः उनका संयोग सर्वकर्मज का ठीक उदाहरण बन सकता है।

विभाग-निरूपण

"विभागस्तु विभक्तिःस्याद्वियोगो भागशो ग्रहः।"

—च० सू० अ० २६

"संयोगनाशको गुणो विभागः।" —वै० द०

विभक्त होना—संयोग का वियोग होना और विभक्ततया ग्रहण होना, इसे 'विभाग' कहते हैं। जिसके द्वारा संयोग का नाश होता है उस गुण को 'विभाग' कहते हैं। यह भी संयोग की तरह 'द्वन्द्वकर्मज', 'सर्वकर्मज' और 'एककर्मज'—इस तरह तीन प्रकार का होता है। संयोग से विभाग का नाश होता है, इसलिये यह भी अनित्य है। वैशेषिकवाले विभाग के भी 'अन्यतरकर्मज', 'उभयकर्मज' और 'विभागज'—ऐसे तीन विभाग मानते हैं। जहाँ एक विभाग हो जाने से दूसरा विभाग भी हो जाता हो उसे विभागज विभाग कहते हैं; जैसे—किसी शाखा से पत्ता गिरने पर शाखा के साथ-साथ वृक्ष से भी विभाग हो जाता है।

पृथक्त्व-निरूपण

"पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता।"

—च० सू० अ० २६

"पृथक् व्यवहारासाधारण कारणं पृथक्त्वम्" —वै० द०

यह 'पट' 'घट' से पृथक् है। इस प्रकार की बुद्धि जिससे उत्पन्न होती है, उसे पृथक्त्व कहते हैं। अथवा पृथक्-पृथक् व्यवहार के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहते हैं। जैसे यह इससे पृथक्—जुदा है, इस व्यवहार के असाधारण कारण गुण-विशेष का नाम पृथक्त्व है। यह सब द्रव्यों में रहता है। पृथक्त्व तीन प्रकार का होता है। (१) असंयोग लक्षण—जिनका कभी भी संयोग न हो;

जैसे---मेरु और हिमाचल का पृथक्त्व, (२) वैलक्षण्य रूप---विशिष्ट लक्षणयुक्त विजातीय द्रव्यों का पृथक्त्व, जैसे---गाय, भैंस, सूअर आदि, (३) अनेकता रूप---समजातियों का भी एक दूसरे से पृथक्त्व; जैसे---अनेक उड़दों का सजातीय होने पर भी एक दूसरे से पृथक्त्व ।

परिमाण-निरूपण

"परिमाणं पुनर्मानम् ।" ---च० सू० अ० २६

"मानव्यवहारासाधारणकारणं परिमाणम् ।" ---वै० द०

माप या तोल से जो मान किया जाता है उस मान-व्यवहार का हेतुभूत जो गुण वह 'परिमाण' कहलाता है । छोटा, बड़ा, लम्बा, चौड़ा इस प्रकार के व्यवहार का जो असाधारण कारण गुण है उसको 'परिमाण' कहते हैं । यह सब द्रव्यों में रहता है और इसके अणु, महत्, ह्रस्व तथा दीर्घ ये चार भेद हैं ।

संस्कार-निरूपण

"संस्कारः करणं मतम् ।" ---च० सू० अ० २६

"सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवृत्ति गुणत्व व्याप्य जातिमान् संस्कारः ।" ---वै० द०

"संस्कारस्त्रिविधः---वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च ।" ---प्रशस्तपाद

मर्दन, भावना, रंधन आदि अनेक प्रकार की क्रियाओं द्वारा किसी वस्तु में गुणान्तराधान करने को 'संस्कार' कहते हैं । आयुर्वेदोक्त संस्कार वैशेषिक संस्कार से भिन्न है । वैशेषिक में संस्कार के तीन भेद बतलाये गये हैं---(१) वेगाख्य, (२) भावनाख्य और (३) स्थितिस्थापकाख्य । मूर्तिमान् द्रव्यों में (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा मन) कारण-विशेष से जो गति-प्रवाह उत्पन्न होता है, उसको 'वेग' नामक संस्कार कहते हैं । पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण या प्रत्यभिज्ञा (पहचान) जिस संस्कार द्वारा होता है, उसको "भावनाख्य संस्कार" कहते हैं । जिस गुण के कारण पदार्थों के अवयव स्थानच्युत हो जाने पर पुनः अपने स्वाभाविक स्थान में आ जाएँ, उसे "स्थितिस्थापकाख्य संस्कार" कहते हैं । जैसे---वृक्ष की शाखा को पकड़ कर झुका दीजिये तो वह नीचे आ जायगी; किन्तु उसे छोड़ देने पर वह तुरन्त ही अपने स्थान पर चली जायेगी ।

अभ्यास-निरूपण

"भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया ।"

---च० सू० अ० २६

जिसे भावाभ्यसन (पदार्थों का बारम्बार अभ्यास करना—पुनः-पुनः सेवन करना), शीलन (एक ही पदार्थ का अनुशीलन करना) और सततक्रिया (एक ही क्रिया को बारम्बार करना) कहा जाता है, वह 'अभ्यास' है।

नोट—इस प्रकार परादि दस गुण, जिनके यथावत् ज्ञान के बिना चिकित्सा-कार्य ठीक नहीं हो सकता है उनके लक्षण कहे गये हैं।

गुण सदा किसी द्रव्य में रहता है, जैसे—

द्रव्य	विशेष गुण	सामान्य गुण		
१ पृथिवी	गन्ध	रस, रूप, स्पर्श	संयोग विभाग	संख्या परिमाण पृथक्त्व
२ जल	रस	रस, रूप, स्पर्श, द्रवता, स्निग्धता		
३ अग्नि	रूप	रूप, स्पर्श		
४ वायु	स्पर्श	स्पर्श		
५ आकाश	शब्द	शब्द		
६ काल			परत्व, अपरत्व	
७ दिशा			परत्व, अपरत्व	
८ आत्मा			परत्व, अपरत्व	

कणाद ने सिर्फ ११ गुण माने थे—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व। किन्तु बाद के आचार्यों ने १३ गुण और बढ़ा दिये—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, लघुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट और शब्द। इनमें द्रवत्व, स्नेह और शब्द को कणाद ने जल और आकाश के गुणों में गिना है।

कर्म-लक्षण

"संयोगे च वियोगे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।
कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यद्—अपेक्षते ॥"

—च० सू० अ० १

"एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्।"

—वै० द० १।१।१७

अर्थ—जो एक द्रव्याश्रित गुण से रहित संयोग तथा विभाग के उत्पन्न करने में अपने से उत्तरभावी किसी भावपदार्थ की अपेक्षा न करता हुआ कारण है, उसे 'कर्म' कहते हैं।

वक्तव्य—जो संयोग तथा विभाग की भाँति दो द्रव्यों के आश्रित न रहकर एक द्रव्य के ही आश्रित रहता है, उसका नाम 'एकद्रव्य' है। जिसमें कोई गुण नहीं रहता, उसका नाम 'अगुण' है तथा जो संयोग-विभाग के उत्पन्न करने में अपनी उत्पत्ति के अनन्तर उत्पन्न होनेवाले भावपदार्थ की अपेक्षा नहीं करता, उसका नाम 'संयोगविभागेष्वनपेक्षकारण' है। इन तीनों केमिल ने से कर्म का यह लक्षण निष्पन्न होता है कि वह द्रव्यों के परस्पर संयोग तथा विभाग को उत्पन्न करता है तथा उसके उत्पन्न करने में समवायि-द्रव्य तथा पूर्ण संयोग नाश की अपेक्षा करता हुआ भी अपनी उत्पत्ति से पीछे उत्पन्न होनेवाले किसी भावपदार्थ की अपेक्षा नहीं करता और सर्वदा नियम से एक द्रव्य के आश्रय में रहता तथा स्वयं किसी गुण का आश्रय नहीं होता, उसको 'कर्म' कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि कर्म सदा द्रव्य में ही होता है अन्य में नहीं। जिस द्रव्य में वह उत्पन्न होता है उस द्रव्य का पूर्वदेश से विभाग करके उत्तरदेश के साथ संयोग को उत्पन्न करता है। उक्त संयोग तथा विभाग का समवायि-कारण 'द्रव्य' और निमित्त कारण 'कर्म' है। वह कर्म उक्त संयोग-विभाग के उत्पन्न करने में समवायि-कारण द्रव्य की सहायता लेता हुआ भी किसी अन्य की सहायता नहीं लेता, अतएव उसे संयोग-विभाग को उत्पन्न करने में अनपेक्ष कारण कहा गया है। कर्म-निरूपण करते हुए चरक संहिता में कहा है—"प्रयत्नादिकर्मचेष्टितमुच्यते" (च० सू० १), अर्थात्—ऐसी चेष्टा जो प्रयत्न—जीवनयोनि-प्रवृत्ति और निवृत्ति आदि के कारण हैं उसे 'कर्म' कहते हैं। गुण के समान ही कर्म द्रव्य में आश्रित रहनेवाला धर्म है। कर्म का अर्थ है क्रिया या गति। 'क्रि विक्षेपे' धातु में 'मनिन्' प्रत्यय लगाने से कर्मन् शब्द बनता है, जिसके प्रथम वचन का रूप 'कर्म' होता है (क्रि मनिन् क्रियायाम्—श० स्तो०)। द्रव्य, कर्म का आश्रय हो सकता है, पर कर्म, द्रव्य का आश्रित-विशेष धर्म है। कर्म गुण से भी भिन्न है। गुण द्रव्य का सिद्ध धर्म है, अर्थात् वह अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, पर कर्म अभी साध्यावस्था में है। उसके स्वरूप का अंतिम निश्चय नहीं हो सका है। वह वस्तुओं के संयोग-विभाग का स्वतंत्र कारण है। कर्म की मूर्त द्रव्यों में ही वृत्ति रहती है। अल्प परिमाणवाले द्रव्य ही मूर्त माने जाते हैं। "इयत्तावच्छिन्न परिमाण योगित्वं मूर्तत्त्वम्" (सप्तपदार्थी)। व्यापी—विभु-द्रव्य मूर्त नहीं हो सकता—"सकल मूर्तसंयोगित्वं विभुत्त्वम्" (सप्तपदार्थी)। इस प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन इन्हीं पाँच मूर्त द्रव्यों में कर्म की वृत्ति रहती है। विभु द्रव्य जैसे—आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा में कर्म की कथमपि सम्भावना नहीं है। गुण और कर्म दोनों ही द्रव्य में आश्रित होकर रहते हैं, परन्तु गुण द्रव्य के अन्दर निश्चेष्ट होकर या चेष्टा रूप जो कर्म है.

उससे भिन्न होकर रहता है। जैसे–मनुष्य के शरीर का गुरुत्व एक गुण है पर उसका गिर पड़ना (पतन) एक घटना या कर्म है। इसीसे कर्म का लक्षण––"कर्मत्वं च क्रियामात्र वृत्तिसत्ता साक्षाद्व्याप्य जातिमत्त्वम्" अर्थात् जो क्रियामात्र में रहने-वाली सत्ता साक्षात् व्याप्य जातिवाली है वह कर्म है, ऐसा किया है। कर्म दो तरह के होते हैं––(१) **लौकिक** और (२) **आध्यात्मिक**। **लौकिक कर्म**–– द्रव्याश्रित संयोग-विभाग में अनपेक्ष कारण होता है, जैसे––(१) उत्क्षेपण (ऊपर की ओर गति), (२) अपक्षेपण (नीचे की ओर गति), (३) आकुंचन (सिकुड़ना), (४) प्रसारण (सर्वत्र फैलना), (५) गमन (सामने की गति)। **आध्यात्मिक कर्म** और सद्वृत्तादि विहित मङ्गल-स्वस्त्ययन आदि का अनुष्ठान––जो स्वस्थातुर है, हित के लिये होता है।

कर्म के भेद

"उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुंचनं तथा।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पंच च॥
भ्रमणं रेचनं स्पन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेवलभ्यते॥"

––कारिकावली

उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन ये पाँच कर्म के भेद हैं। भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तिर्यग्गमन आदि गमन कर्म से समझना चाहिये।

उत्क्षेपण––ऊपर की ओर गति करना। शरीरावयवों में तथा उसके सम्बन्ध में जो ऊपर के प्रदेशों से संयोग का कारण और नीचे के भाग तथा प्रदेशों से विभाग के कारण रूप जो कर्म उत्पन्न होता है, उसे 'उत्क्षेपण' कहते हैं। जैसे––हाथ तथा हाथ से सम्बद्ध मूसल आदि का ऊपर की ओर उठाना या फेंकना।

अपक्षेपण––नीचे की ओर गति करना। उत्क्षेपण के विपरीत गति को अपक्षेपण कहते हैं, अर्थात् अधोदेश आदि से संयोग का कारण ऊर्ध्वदेश से विभाग का कारण रूप कर्म 'अपक्षेपण' है।

आकुंचन, सिकुड़ना––किसी ऋजु––सीधे द्रव्य के अग्रभाग का उस प्रदेश से विभाग और मूल प्रदेश से संयोगरूप सिकुड़ने के कर्म को 'आकुंचन' कहते हैं।

प्रसारण, फैलना––आकुंचन के विपरीत अर्थात् अग्रभाग का मूल प्रदेश से विभाग और अन्य प्रदेश से संयोगरूप कर्म सब दिशाओं में फैलने को 'प्रसारण' कहते हैं।

गमन––जिसके संयोग-विभाग के कारणरूप कर्म की दिशा तथा प्रदेश अनियत हो, उसे 'गमन' कहते हैं। गमन-कार्य के अन्दर भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्वज्वलन तथा तिर्यग्गमन आदि सभी कर्म आ जाते हैं।

सामान्य-विशेष-विज्ञान

अध्याय २

(पाद ३)

सामान्य-निरूपण

"सामान्यमेकत्त्वकरम्" तुल्यार्थता हि सामान्यम्। ——च० सू० अ० १
"अनुवृत्ति प्रत्ययहेतु एकमनेकसमवेतं च सामान्यम्।" "तदेकत्त्वकरं वृद्धिकरं सादृश्यं च॥" ——सप्तपदार्थी
"नित्यत्त्वेसत्यनेकसमवेतत्त्वम्।" ——विश्वनाथ
"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्" ——च० सू० अ० १

सामान्यं——"यदनेकासु भिन्नदेशकलासु गवादिव्यक्तिषु" "अयं गौरयं गौ" इत्यादि प्रकारा एकाकाराबुद्धिस्तत्सामान्यम्। न हि भिन्नासु व्यक्तिषु अभिन्नं सामान्यमेकरूपं विनाऽभ्रान्ता एकाकारा बुद्धिर्भवतीतिभावः। यथापि च "अयं पाचकोऽयं पाचकः" इति तथा "अयं शुक्लोऽयं शुक्लः" इति प्रभृतिषु-क्रियागुणादिसामान्यादेकरूपाबुद्धिस्तत्रापि सामान्यमेकक्रियागुणादिगतमेकरूपा-ध्यवसाये हेतुः। न ह्येकस्मिन् पाचके या क्रिया सा पाचकान्तरेऽपि किं तर्हि तज्जातीया। अतः क्रियासामान्यं तत्राप्येकत्वाध्यवसाये कारणम्।
——चक्रपाणि

अर्थ——सामान्य एकत्व करनेवाला है। तुल्यार्थता ही सामान्य है। भिन्न-भिन्न देश और समय में अनेक गवादि व्यक्तियों में "यह गौ है, यह गौ है" इस प्रकार की एकता बुद्धि को उत्पन्न करानेवाला जो पदार्थ है, वह सामान्य है; क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में अभिन्न, सामान्य तथा एकरूप जबतक न हो तब तक भ्रमरहित——एकाकार बुद्धि नहीं होती। जैसे——"यह पाचक है, यह पाचक है" ऐसी बुद्धि तथा "यह शुक्ल है, यह शुक्ल है" इस प्रकार की बुद्धि उस व्यक्ति में क्रिया-गुणादि के सामान्य के कारण ही उत्पन्न होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि एक पाचक में जो क्रिया है, वही दूसरे पाचक में भी है; किन्तु एक जातीय क्रिया है, अतः क्रिया सामान्य से वहाँ एकाकार बुद्धि उत्पन्न हुई है। स्वविषय के सब वस्तुओं में रहनेवाला, आत्मस्वरूपानुगम प्रत्यय का उत्पादक अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण सामान्य होता है। सामान्य नित्य एक तथा अनेक में

अनुगत, समवाय-सम्बन्ध से रहता है। यह एकत्व, वृद्धि तथा सादृश्य को उत्पन्न करनेवाला है।

वक्तव्य—अनेक द्रव्यों में रहनेवाला नित्य पदार्थ सामान्य है, जैसे पृथिवीत्व (पृथिवीपन) अनेक पार्थिव द्रव्यों में और गोत्व (गायपन) अनेक गौओं में रहनेवाला नित्य पदार्थ है। गायें लाखों आज, पहले और आगे भी नष्ट होती रहेंगी किन्तु गोत्व नष्ट नहीं होगा। आज की सारी गायों में जिस तरह गोत्व मौजूद है, उसी तरह पहले भी था और आगे की गायों में भी रहेगा। इस प्रकार गोत्व (सामान्य) नित्य है। "समानां भावः सामान्यम्", अर्थात् सम पदार्थों के भाव को ही सामान्य कहते हैं। द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों पदार्थों में जो द्रव्य, गुण और कर्म है, वह इस प्रकार की प्रतीति होती है कि उसका नाम 'अनुगतवुद्धि', 'अनुवृत्तिप्रत्यय' है। इस अनुगतवुद्धि तथा अनुवृत्तिप्रत्यय के हेतु को सामान्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रदार्थों में जो समान प्रकार की वुद्धि होती है, उसको अनुगतवुद्धि कहते हैं। द्रव्य, गुण तथा कर्म ये तीनों पदार्थ परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, परन्तु इनमें 'द्रव्यसत्, गुणः सत् और कर्म सत्' इस प्रकार की समानरूप से अनुगत बुद्धि पाई जाती है और जो-जो वुद्धि होती है वह विना किसी कारण के नहीं हो सकती, क्योंकि वह जन्य होने से कारणवाली है, जैसा कि 'घटबुद्धि' घटरूप कारणवाली है और पटवुद्धि पटरूप कारणवाली है। वुद्धि में आत्म-मनः संयोगादि साधारण कारण और विषय असाधारण कारण है। "द्रव्य-सत्" इत्यादि वुद्धि भी अन्य घटपटादि वुद्धियों की भाँति कारणवाली अवश्य होनी चाहिये। द्रव्य, गुण तथा कर्म ये तीनों परस्पर विलक्षण होने से उक्त वुद्धि के कारण नहीं हो सकते और अन्य कोई कारण उपलब्ध नहीं होता, परिशेष से जो इस वुद्धि का सत्तारूप कारण सिद्ध होता है उसको सामान्य कहते हैं।

सामान्य के भेद

"सामान्यं द्विविधंप्रोक्तं परंचापरमेव च ।
द्रव्यादि त्रिक् वृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ।।
परभिन्ना तु या जातिः सैवा परतयोच्यते ।
द्रव्यत्वादिक् जातिस्तु परापरतयोच्यते ।।
व्यापकत्वात्परापि स्याद् व्याप्यत्वादपरापि च ।।"

—कारिकावली १-८

व्यापकता की दृष्टि से सामान्य दो प्रकार का होता है—(१) **परसामान्य** और (२) **अपरसामान्य**। द्रव्यादि तीन में रहनेवाली सत्ता को 'परसामान्य' और

पर से भिन्न जाति को 'अपरसामान्य' कहते हैं। द्रव्यादिक जाति तो परापर सामान्य व्यापक होने से 'पर' और व्याप्य होने से 'अपर' भी है।

वक्तव्य—जब हम द्रव्यों के बहुत्व का प्रतिपादन करते हैं, तो यह निर्विवाद है कि उन द्रव्यों में परस्पर कोई सम्बन्ध होना चाहिये। वे द्रव्य परस्पर साम्य होने से ही द्रव्य कहलाते हैं और कुछ विभिन्नता के कारण उनमें परस्पर पार्थक्य भी है। जब हम किसी एक गुण को अनेक द्रव्यों में पाते हैं, तो उसे 'सामान्य' कहते हैं। कणाद ने सामान्य को बुद्ध्यपेक्ष (Conceptual product) अर्थात् अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होनेवाला पदार्थ कहा है। परन्तु प्रशस्तपाद ने इसे नित्य, एक तथा अनेक द्रव्य, गुण और कर्म में रहनेवाला पदार्थ कहा है। संयोग और द्वित्व भी अनेक द्रव्यों में समवेत हैं, पर वे नित्य नहीं हैं। इसी प्रकार आकाश नित्य होने पर भी अनेक में समवेत नहीं है। अभाव भी नित्य और अनेक वस्तुओं का गुण है, पर उनमें समवेत नहीं है, अर्थात् उपादान कारण नहीं है। इसी प्रकार विशेष भी सामान्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी परिस्थिति में वह अपने स्वभाव से वञ्चित हो जायगा और सदा सामान्य के साथ भ्रमावह होगा। समवाय को सामान्य के साथ नहीं मिला सकते, क्योंकि ऐसा करने से समवाय का भी समवाय होने लगेगा और फिर अनन्त-समवाय की कल्पना होने से अनवस्था-दोष हो जायगा। अतः सामान्य, जिससे हम भिन्न-भिन्न द्रव्यों को भी एक जाति में गणना करते हैं, एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यह नित्य (Eternal) एक और अनेकानुगत है। यह अपनी जाति के सब विषयों में रहनेवाला (स्व-विषय सर्वगतं), अभिन्न रूपवाला (अभिन्नात्मकं), अनुवृत्तिप्रत्यय का कारण (अनुवृत्ति प्रत्यय-कारणं) है। द्रव्य, गुण तथा कर्म के अन्दर सामान्य है, पर सामान्य, विशेष समवाय और अभाव के अन्दर सामान्य नहीं है। सामान्य दूसरे सामान्य में नहीं रह सकता। वृक्षत्व और घटत्व ये परस्पर सामान्य हैं, अतः इनमें कोई दूसरा सामान्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा करने से अनवस्था-दोष उत्पन्न हो जायगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि परसामान्य, और अपरसामान्य के भेद से सामान्य दो प्रकार का होता है। सब से अधिक व्यक्तियों में रहनेवाली जाति को 'परसामान्य' और सब से कम व्यक्तियों में रहनेवाली जाति को 'अपरसामान्य' कहते हैं। जो दोनों के बीच में रहनेवाली जाति है, वह 'परापरसामान्य' कहलाती है। जैसे द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में पदार्थत्व जाति 'परसामान्य' है, इसे 'सत्ता' भी कहते हैं, क्योंकि इसके अन्दर अन्य सभी सामान्य आ जाते हैं। द्रव्यत्व तथा घटत्व आदि इसके उदाहरण हैं। ये पर, अपर तथा परापरसामान्य सदा सापेक्ष होते हैं। चरक-संहिता में उक्त

सामान्य की व्याख्या करते समय टीका में चक्रपाणि ने–"अन्ये तु व्याख्यानयन्ति" इस पद के साथ सामान्य के 'द्रव्यगोचर', 'गुणगोचर' तथा 'कर्मगोचर' भेद का उद्धरण दिया है और "सामान्यमेकत्वकरम्" इसको गुण-सामान्य कहा है। इसका उदाहरण भी दिया है––"पयःशुक्रयोर्भिन्नजातीययोरपि मधुरत्वादि सामान्यं तत्रैकतां करोति" अर्थात् शुक्र से भिन्न होने पर भी दूध माधुर्य-गुण से शुक्र को बढ़ाता है या एकता को उत्पन्न करता है। 'तुल्यार्थता' आदि सामान्य की परिभाषा को कर्म-सामान्य की परिभाषा कहा है। इसके उदाहरण में बताया है कि आस्यारूप (बैठे रहना) कर्म, श्लेष्म के समान न होने पर भी कफ को बढ़ाता है। द्रव्य-सामान्य की परिभाषा "सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्" सब भावों की वृद्धि का कारण सामान्य है––ऐसा कहा है। परन्तु भट्टार हरिचन्द्र ने इसका खण्डन इस युक्ति के साथ किया है कि उक्त तीनों प्रकार का सामान्य "सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्" इस परिभाषा से ही गृहीत हो जाता है, अतः उक्त सामान्य के भेद अयुक्तियुक्त हैं। वस्तुतः निम्न तीन सामान्य के भेद हो सकते हैं, जैसे––(१) अत्यन्तसामान्य, (२) मध्यसामान्य और (३) एकदेशसामान्य। इनमें 'सर्वदा' इत्यादिवाला अत्यन्तसामान्य, 'एकत्वकरमित्यादि' मध्यसामान्य और 'तुल्यार्थताहीत्यादि' एकदेशसामान्य है। चक्रपाणि ने उक्त त्रैविध्य कथन को विशेष प्रयोजनवाले नहीं होने से विशेष श्रद्धायोग्य नहीं है ऐसा प्रतिपादन किया है और कहा है कि कितने आचार्य सामान्य के दो प्रकार मानते हैं––उभयवृत्ति तथा एकवृत्ति जैसे––"मांसं मांसवर्धकं"। इनमें उभयवृत्तिसामान्य है, क्योंकि मांसत्व पोष्य तथा पोषक दोनों में होने से 'उभयवृत्तिसामान्य' है।

एक वृत्तिसामान्य का उदाहरण है––"घृतमग्निकरं" इत्यादि। अर्थात् घृत-सेवन से अग्नि बढ़ती है। यहाँ घृत अग्नि के समान नहीं है, फिर भी प्रभाव से अग्नि को बढ़ाता है, अतः वृद्धिकर होने से सामान्य के उदाहरण में कहा गया है। घृत में घृतत्व वृद्धिकर हैं, अतः एकवृत्तिसामान्य रूप कहा गया है। इसी प्रकार धावनादि से वायु की वृद्धि तथा स्वप्न से कफ की वृद्धि आदि एकवृत्तिसामान्य के उदाहरण हैं। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि समान तथा असमान दोनों प्रकार के द्रव्य वृद्धि के कारण हो सकते हैं। सामान्य होने से ही वृद्धि होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है। प्रशस्तपाद ने अपरसामान्य की व्याख्या करते समय स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि "अपरं द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्वादि अनुवृत्तिव्यावृत्ति हेतुत्वात् सामान्यं विशेषं च भवति" अर्थात् द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व अनुवृत्ति एवं व्यावृत्ति हेतु से अपरसामान्य तथा विशेष होता है। जैसे द्रव्यत्व पृथिव्यादि द्रव्यों में परस्पर आविष्ट होने से अनुवृत्ति हेतु के कारण

सामान्य है और गुणकर्म से पृथक् होने के कारण व्यावृत्ति हेतु से विशेष है, उसी प्रकार गुणत्व परस्पर रूपादि में आविष्ट होने के कारण अनुवृत्ति हेतु से सामान्य तथा द्रव्य कर्म से व्यावृत्ति हेतु के कारण विशेष है। कर्मत्वं भी उत्क्षेपणवृत्ति कर्मों में परस्पर आविष्ट होने से अनुवृत्ति हेतु के कारण सामान्य और द्रव्यगुण के व्यावृत्ति हेतु के कारण विशेष है। इस प्रकार पृथिवीत्व, रूपत्व, उत्क्षेपणत्व-प्राणिगत और अप्राणिगत गोत्वादि, घटत्व-पटत्व आदि अनुवृत्ति एवं व्यावृत्ति हेतु से क्रमशः सामान्य और विशेष भाव हुआ करते हैं।

चक्रपाणि इस सम्बन्ध में कहते हैं—"यत्तूच्यते कर्मसामान्यं नेह तन्त्रे वृद्धि-कारणमस्ति। यतो न धावनेन वायुः समान इति। अतएवाचार्येण द्रव्य-सामान्यमुक्तं 'मांसमाप्यायते मांसेन' इत्यादिना तथा "सामान्यगुणानामाहार-विकाराणामुपयोगः" इत्यादिना गुणसामान्यमुक्तम्। नैवं कर्मसामान्यमुक्तम्।" अर्थात्—यह जो कहा गया है कि इस (आयुर्वेद-शास्त्र) में कर्मसामान्य वृद्धि का कारण नहीं है क्योंकि धावन (दौड़ लगाने) से वायु की कोई समानता नहीं है; इसीलिये आचार्यों ने 'मांस से मांस की वृद्धि होती है' यह द्रव्यसामान्य का उदाहरण दिया है और 'सामान्य गुणों के आहार-विहार का उपयोग' इत्यादि गुण-सामान्य को भी कहा है। परन्तु इस प्रकार कर्म सामान्य का जिक्र नहीं किया है। कहीं-कहीं "यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदा सेव्यम्" अर्थात् जो जिस धातु को बढ़ाने-वाला हो उसका सेवन करना चाहिये इत्यादि जो कर्म के समर्थक वचन मिलते हैं, उनमें सामान्य का उपग्रह नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर भी द्रव्य-प्रभाव के कारण ही वृद्धि देखी जाती है और इसीसे कर्मों के सामान्य का उपग्रह किया जाता है। इसमें कर्म सामान्य का अभाव वृद्धि का कारण नहीं है, क्योंकि देखा जाता है कि क्रियाशील वायु की क्रियायुक्त शारीरिक व्यायाम से वृद्धि और निष्क्रिय-अव्यायाम से ह्रास होता है। अतः कर्मसामान्य भी होता है।

जहाँ इस प्रकार से कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित न किया जा सके, वहाँ प्रभाव मान लेना चाहिये। "मांसं—मांसं वर्धयति सामान्यात् विशेषाच्च वातं क्षपयति" इस स्थान पर एक शङ्का उपस्थित करते हैं कि एक ही पदार्थ सामान्य तथा विशेष कैसे हो सकता है? क्योंकि एक ही मनुष्य एक समय में दो काम नहीं कर सकता। इसका समाधान यों करते हैं कि जिस प्रकार शब्द एक समय में ही अनेक शब्दों को उत्पन्न करता है तथा अग्नि—प्रकाश और दाह एक ही साथ उत्पन्न करती है, उसी प्रकार मांस अपने समान गुणवाले मांस की वृद्धि तथा विपरीत गुणवाले वात का शमन करता है। इसीलिये शास्त्रकार ने द्रव्य-गुण-वर्णन में स्पष्ट रूप से कहा है—'तस्माद् भेषजं सम्यगवचार्यमाणं युगपत् ऊनातिरिक्तानां धातूनां—

साम्यकरं भवति । अधिकमपकर्षति । न्यूनमाप्यायति इति।" अर्थात्—ठीक-ठीक व्यवहार की हुई औषधि कम-वेश हुए धातुओं को साम्यावस्था में लाती है अर्थात् अधिक को कम करती है और कम को बढ़ाती है। यह जो कहते हैं कि गरमी के दिनों में मधुर आदि रसों के सेवन से भी कफ की वृद्धि नहीं देखी जाती, अतः क्षीयमाण धातुओं की वृद्धि में समान गुणवाला आहार आदि वृद्धि का कारण नहीं है, ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि ग्रीष्मकाल की गर्मी धातु (कफ) की वृद्धि में प्रतिबन्धक होती है, इसलिये कफ धातु की वृद्धि नहीं होती। इसीसे "असति च विरोधके सामान्यं वृद्धिकारणमिति सिद्धान्तः"—विरोधक के न होने पर सामान्य वृद्धि का कारण होता है, ऐसा सिद्धान्त बना है।

"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धि कारणम्"—इसका अर्थ यह है कि द्रव्य सामान्य-द्रव्यरूप को बढ़ानेवाला होता है, गुण सामान्य-गुण रूप को बढ़ाता है। जैसे—सेवन किया हुआ द्रव्य शरीर के धातुओं को बढ़ाता है और उस द्रव्य के मधुर आदि गुण धातु के मधुरादि गुण को बढ़ाते हैं। पार्थिवादि द्रव्य शरीर के पार्थिवादि धातुओं को बढ़ाते हैं और गुर्वादि (द्रव्यगत) गुण धातु के गुरुत्वादि को बढ़ाते हैं।

विशेष के लक्षण

"ह्रासहेतुर्विशेषश्च।" —च० सू० १

"विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्।" "विशेषस्तु विपर्ययः।" —च० सू० १

"व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुरनेकः प्रतिद्रव्यसमवेतो विशेषः स ह्रासहेतुः, पृथक्त्वकृत् वैसादृश्यञ्च।" —सप्तपदार्थी

अर्थ—ह्रास का हेतु विशेष है। विशेष पृथक्त्व करनेवाला है। सामान्य का ठीक उल्टा विशेष है। व्यावृत्ति प्रत्यय का हेतु, प्रति द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से स्थित, वह ह्रास का हेतु, पृथक्त्व करने वाला तथा वैसादृश्य उत्पन्न करनेवाला है। तात्पर्य यह कि परमाणुओं में (पृथिवी आदि के) जो एक दूसरे से भेद का कारण है, उसे 'विशेष' कहते हैं। यह नित्य द्रव्यों में रहता है और स्वयं भी नित्य है। इसी विशेष प्रतिपादन के कारण कणाद-दर्शन का नाम वैशेषिक दर्शन पड़ा।

वक्तव्य—विशेष की कल्पना सामान्य की कल्पना से ठीक विपरीत है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के एकश्रेणीबद्ध होने का कारण यदि सामान्य है तो इसके उल्टे एक श्रेणी के समान गुण धारण करनेवाले व्यक्तियों के पारस्परिक विभेद की सत्ता सिद्ध करनेवाला पदार्थ 'विशेष' है। पृथिवी का एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न क्यों है ? एक आत्मा दूसरे आत्मा से और एक मन दूसरे मन से भिन्न

किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है ? इस पार्थक्य की कल्पना के लिये इन द्रव्यों में 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना की गई। विशेष नित्य द्रव्यों में—जैसे पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु में तथा आकाश, काल, दिक्, मन और आत्मा में निवास करता है। विशेष की सत्ता न मानने पर सब आत्मा और सब मन एक ही समान होने से पारस्परिक विशेषता का अभाव दृष्टिगोचर होता तथा समस्त मनुष्यों में एक मनुष्यत्व सामान्य के होने से व्यक्तित्व की स्थिति असिद्ध ही रहती। इसीलिये सावयव द्रव्यों के लिये नहीं प्रत्युत् नित्य द्रव्यों की पृथक्ता के हेतु 'विशेष' पदार्थ का अङ्गीकार करना न्यायसंगत है। नित्य द्रव्यों में रहने के कारण विशेष भी नित्य है और आश्रयभूत द्रव्यों की अनन्तता के कारण विशेष भी अनन्त है। विशेष स्वतः व्यावर्तक होते हैं अर्थात् एक विशेष से दूसरे विशेष का भेदक स्वयं विशेष ही है। ऐसा नहीं होने से अनवस्था दोष होने का भय होता है।

"सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्ष्यम्।" —वै० द० १।२।३

सामान्य तथा (उसका अवानन्तर भेद) विशेष, इन दोनों में (अनुगत या अनुवृत्ति बुद्धि तथा व्यावृत्तिबुद्धि) बुद्धि की अपेक्षा है, अर्थात् इनका ज्ञान अपेक्षाबुद्धि से होता है।

वक्तव्य—जिस प्रकार अनुगत बुद्धि के बल से सामान्य संज्ञक सत्ता की सिद्धि होती है, उसी प्रकार व्यावृत्त बुद्धि से द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व रूप-विशेष की भी सिद्धि होती है; क्योंकि वह भी अनुगत बुद्धि की भाँति किसी असाधारण विषय के बिना नहीं हो सकता। उसका असाधारण विषय द्रव्यादि तीन प्रत्यक्ष है। प्रशस्तपाद ने सामान्य का स्वरूप इस प्रकार निरूपण किया है—"स्वविषय सर्वगतमभिन्नात्मकमनेकवृत्ति एकद्विबहुष्वात्मस्वरूपानुगमप्रत्ययकारि स्वरूपाभेदनाधारेषु प्रबन्धेन वर्तमानमनुवृत्तिप्रत्ययकारणम्।" जिन व्यक्तियों में सामान्य रहता है उसका नाम स्व विषय है उसमें समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाले तथा अनुगत प्रतीति के हेतु का नाम 'सामान्य' है। जैसे—परस्पर अत्यन्त भिन्न चर्म, वस्त्र, कम्बल आदि द्रव्यों में 'नीलं चर्म' तथा 'नीलं कम्बलं' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति का हेतु नील गुण है, वैसे ही अत्यन्त विभिन्न तीनों द्रव्यादि में 'द्रव्यं सत्' इत्यादि अनुगत प्रतीति का हेतु सत्ता लक्षण 'सामान्य' है।

उक्त सामान्य पदार्थ सत्ता तथा विशेष भेद से दो प्रकार का है। द्रव्यादि तीनों में रहने वाले सामान्य का नाम "सत्ता" है। सत्ता, भाव तथा परसामान्य ये पर्यायवाची शब्द हैं। जिससे कई पदार्थों में अनुगत तथा व्यावृत्ति बुद्धि पाई जाय उसको 'विशेष' कहते हैं। विशेष, अपरसामान्य तथा जाति ये पर्याय शब्द हैं। द्रव्य-गुण-कर्म इन तीनों में व्यापक होने से सत्ता, 'परसामान्य' और सत्ता की

अपेक्षा व्याप्य तथा प्रत्येक द्रव्यादि में रहने से द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व को विशेष–'अपरसामान्य' कहा गया है। सत्ता की अपेक्षा से व्याप्य तथा पृथिवीत्व आदि की अपेक्षा व्यापक होने के कारण इसको 'परापर जाति' भी कहते हैं। इसी प्रकार पृथिवीत्वादिक भी घटत्वादि की अपेक्षा व्यापक तथा द्रव्यादि की अपेक्षा व्याप्य है, इसलिये परापर जाति के अन्तर्गत माने जाते हैं। परन्तु द्रव्यादि पदार्थों के मध्य आकाश, काल तथा दिक् में आकाशत्व, कालत्व और दिक्त्व तथा सामान्य-विशेष-समवाय और अभाव में सामान्यत्व, विशेषत्व-समवायत्व और अभावत्व जाति नहीं है, क्योंकि आकाशत्व, कालत्व तथा दिक्त्व ये तीनों अनेक व्यक्तिवृत्तित्त्व नहीं हैं और सामान्यत्वादि के जाति होने में बाधक सद्भाव पाया जाता है। जाति-बाधकों का संग्रह उदयनाचार्य ने इस प्रकार किया है––

"व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोथानवस्थितिः ।
रूपाहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥"

––किरणावली

व्यक्ति का अभेद, तुल्यत्व, संकर, अनवस्थिति, रूपहानि और असम्बन्ध ये ६ जाति के बाधक हैं। स्वाश्रयभूत व्यक्ति (जो धर्म एक व्यक्ति में रहता हो) की एकता का नाम 'व्यक्ति का अभेद' है। यह जाति नहीं हो सकता, जैसे कि आकाशत्व, कालत्व और दिक्त्व। एक अधिकरण में रहनेवाले का नाम 'तुल्यत्व' है, जैसे घटत्व तथा कलशत्व, ये दोनों एक घट रूप व्यक्ति में रहने से तुल्य हैं, अतः दोनों जाति नहीं ; किन्तु इनमें घटत्व और कलशत्व एक ही जाति है। जिन दो धर्मों का एक दूसरे के अत्यन्ताभाव के साथ समानाधिकरण है, उनके एक व्यक्ति में इकट्ठे रहने का नाम 'संकर' है। जैसे––भूतत्व तथा मूर्तत्व ये दो धर्म हैं। पृथिवी आदि पाँच द्रव्यों में भूतत्व तथा पृथिवी, जल, तेज और वायु तथा मन इनमें मूर्तत्व रहता है। इन दोनों धर्मों के मध्य भूतत्वात्यन्ताभाव के साथ मूर्तत्व का मन में और मूर्तत्वात्यन्ताभाव के साथ भूतत्व का आकाश में समानाधिकरण है ; क्योंकि मन में मूर्तत्व है, भूतत्व नहीं और आकाश में भूतत्व है, मूर्तत्व नहीं और दोनों का पृथिवी, जल, तेज और वायु में समावेश स्पष्ट है, क्योंकि ये चारों भूत तथा मूर्त हैं। इसलिये इनमें रहनेवाले उक्त दोनों जाति नहीं हैं। अपने व्यावर्तक स्वरूप की हानि का नाम 'रूपहानि' है। विशेष पदार्थ अपने स्वरूप से व्यावर्तक अर्थात् अपने तथा अपने आश्रय को भिन्न करनेवाला है। यदि उनमें 'विशेषत्व' जाति मानी जाय तो उसको उक्त जाति के द्वारा ही व्यावर्तक मानना पड़ेगा, क्योंकि जाति का आश्रय पदार्थ जाति द्वारा ही व्यावर्तक होता है, ऐसा नियम है। जो जाति द्वारा व्यावर्तक है उसको रूपद्वारा व्यावर्तक

नहीं मान सकते और न उसके मानने में कोई लाभ ही है। परन्तु विशेष पदार्थ को स्वरूप से व्यावर्तक माना है, इसलिये सामान्य की भाँति विशेष पदार्थ में जाति नहीं है। समवाय के अभाव का नाम 'असम्बन्ध' है। जाति व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से रहती है। यदि समवाय में समवायत्व जाति मानी जाय तो उसके समवाय में रहने के लिये अन्य समवाय मानना पड़ेगा, परन्तु समवाय में समवाय का रहना असम्भव है, क्योंकि अपने में आप नहीं रह सकता। इसलिये जाति में नियामक समवाय-सम्बन्ध का अभाव होने से समवाय में समवायत्व जाति नहीं होती। इसी प्रकार अभाव में भी अभावत्व जाति नहीं, ऐसा समझना चाहिये।

किसी गुण को हम सामान्य तभी कह सकते हैं जब उसे अनेक व्यक्ति में समवेत पाते हैं और जब वही गुण विषयों तथा व्यक्तियों का पार्थक्य करनेवाला होता है। तब उसे विशेष कहते हैं। जैसे—घटत्व, जब अनेक विषयों में पाते हैं तो उसे सामान्य कहते हैं और वही घटत्व जब दूसरे पदार्थ से (पटत्व से) पार्थक्य निर्देश करता है तो विशेष कहलाता है। वस्तुतः किसी गुण की संज्ञा सामान्य तथा विशेष बुद्धि विश्लेषण से होती है। जैसे—पृथिवी आदि पाँच महाभूतों का द्रव्यत्व सामान्य द्रव्य के वर्ग में गिनते हैं और इनके अन्दर भिन्न-भिन्न पृथिवीत्व आदि गुणों के होने से उन्हें पृथक् कहते हैं।

समवाय-विज्ञान

अध्याय २

(पाद ४)

समवाय-निरूपण

समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः ।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः ॥

—च० सू० अ० १

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः ।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥

—कारिकावली १-१२

"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः।"

—प्रशस्तपाद

"इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः।" —वै० द० ७।२।२४

अर्थ—भूमि आदि आधारद्रव्यों के साथ गुर्वादि आधेय गुणों का जो अपृथग्भाव (अलग न रहने का) सम्बन्ध है, उसको समवाय कहते हैं। वह नित्य है और जहाँ भी द्रव्य है, वहाँ नियत रूप से गुण वर्तमान है। (चरक)। कपाल आदि में घटादि का, द्रव्यों में गुण और कर्म का, अवयव और अवयवी का, जाति और व्यक्ति का, गुण और गुणी का, क्रिया और क्रियावान् का, नित्य द्रव्य और विशेष का जो सम्बन्ध है, उसे 'समवाय' कहते हैं। (कारिकावली)। अयुत सिद्धों का आधाराधेय भूतों का जो सम्बन्ध इह प्रत्यय का हेतु है, वह समवाय है। (प्रशस्तपाद)। 'इसमें यह है' इस प्रकार की बुद्धि जिसके कारण अवयव-अवयवी में होती है, उसका नाम 'समवाय' है।

वक्तव्य—वस्तुओं के बीच के नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। द्रव्य के साथ उसके गुण और कर्म, समवाय-सम्बन्ध से स्थित हैं। पृथिवी में गन्ध और जल में रस समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। सामान्य (गोत्व आदि) भी द्रव्य, गुण, कर्म में समवाय (नित्य) सम्बन्ध से रहता है। समवाय भाव पदार्थों का अन्तिम पदार्थ है। कोई भी वस्तु किसी वस्तु के साथ विना किसी सम्बन्ध के नहीं रह सकती। वैशेषिकों के मन्तव्यानुसार यह सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—

(१) **संयोग** और (२) **समवाय**। संयोग-सम्बन्ध——उन वस्तुओं में होता है, जो संयोग के बिना भी अपनी पृथक् सत्ता धारण कर सकती हैं। यह सम्बन्ध अनित्य होता है। यह कतिपय क्षण ही अपनी सत्ता बनाये रख सकती है। अतः युतसिद्ध वस्तुओं के कतिपय क्षणस्थायी बाह्य सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। पर 'समवाय-सम्बन्ध' इससे नितान्त भिन्न है। यह वस्तुद्वय में रहनेवाला नित्य सम्बन्ध है। अंगी-अंग में, गुण-गुणवान् में, क्रिया-क्रियावान् में, जाति-व्यक्ति में तथा नित्य-द्रव्य और विशेष में यह निवास करता है। ऊपर वैशेषिक सूत्र में आये पद कार्यकारण से अवयवावयवी, जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् तथा नित्य-द्रव्य और विशेष अभिप्रेत हैं। अवयवावयवी आदि में जिस सम्बन्ध के कारण अवयवों में अवयवी, व्यक्ति में जाति, गुणी में गुण, क्रियावान् में क्रिया तथा नित्य-द्रव्यों में विशेष पदार्थ है, इस प्रकार की बुद्धि होती है, उसका नाम 'समवाय-सम्बन्ध' है ; अर्थात् जैसे——ये दोनों संयुक्त हैं, इस प्रकार संयुक्त व्यवहार के हेतु सम्बन्ध का नाम 'संयोग' है, वैसे ही 'इह इदं', इसमें यह है, इस प्रकार के व्यवहार का हेतु जो सम्बन्ध है, उसका नाम 'समवाय' है। 'इह इदं' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, उसे 'इह प्रत्यय' कहते हैं। अयुत सिद्धों का अर्थात् अलग न रहनेवाले पदार्थों का एवं आधाराधेयभूत द्रव्यों का जो सम्बन्ध होता है, वह इह प्रत्यय का हेतु होता है और इह प्रत्यय का हेतु 'समवाय' है, क्योंकि वह (समवाय-सम्बन्ध) अवयव तथा अवयवी, जाति तथा व्यक्ति, गुण तथा गुणी, क्रिया तथा क्रियावान् और नित्य-द्रव्य तथा विशेष पदार्थों का होता है और इसका नियामक उक्त प्रकार (इह इदं) का प्रत्यय है।

कणाद——कारण और कार्य में जो नित्य सम्बन्ध होता है, उसे 'समवाय' कहते हैं। **प्रशस्तपाद**——द्रव्यों के अन्दर अलग न हो सकनेवाले (inseparable) आधाराधेय भाव से स्थित सम्बन्ध इह प्रत्यय का हेतु होता है, और उसे 'समवाय' कहते हैं।

"स च द्रव्यादिभ्यः पदार्थान्तरं भावलक्षणभेदात्।" ——प्रशस्तपाद

"द्रव्यत्व गुणत्व प्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः।" ——वै० द० ७।२।२५

वह (समवाय) द्रव्यादि (द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष) से अतिरिक्त पदार्थ है, क्योंकि इसमें भाव (सत्ता) के समान ही भेदक लक्षण हैं, अर्थात् जिस प्रकार भाव (सत्ता) द्रव्यादि (द्रव्य-गुण-कर्म) में रहने पर भी अपने आश्रय से भिन्न होता है, उसी प्रकार 'समवाय' भी अपने आश्रय से इह प्रत्यय का कारण बन कर भिन्न होता है। जैसे सत्ता में द्रव्यत्व तथा गुणत्व का अभाव है, वैसे ही 'समवाय' में भी द्रव्यत्व और गुणत्व का अभाव है। अर्थात् जिस प्रकार सत्ता नामक परसामान्य द्रव्य, गुण तथा कर्म तीनों से भिन्न पदार्थ हैं, वैसे ही

'समवाय' भी उक्त तीनों से भिन्न पदार्थ है, क्योंकि वह द्रव्यादि की अपेक्षा उक्त विलक्षण बुद्धि का हेतु है। "तत्त्वं च" (वै० द० ७।२।२६) और सत्ता रूप परसामान्य की भाँति वह एक है। अर्थात् जैसे सत्ता नामक परसामान्य एक है, वैसे ही 'समवाय-सम्बन्ध' भी एक है, क्योंकि सत्ता की भाँति समवाय के साधक 'इह इदं' लिङ्ग का सर्वत्र अभेद तथा भेद के साधक लिङ्ग का अभाव पाया जाता है। यहाँ इतना विशेष स्मरण रहे कि यद्यपि समवाय-सम्बन्ध एक है, तथापि प्रतियोगी के भेद से उसका भेद हो जाता है, इसलिये वायु में स्पर्श समवाय के होने पर भी 'रूपवान् वायुः' अर्थात् वायु रूपवाला है, इस प्रकार रूप-बुद्धि नहीं होती, क्योंकि समवाय के एक होने पर उसके प्रतियोगी रूपादि का भेद है। इसीसे प्रशस्तपाद ने कहा है—"न च संयोगवन्नानात्वं भावलिङ्गाविशेषात् विशेषलिङ्गाभावाच्च, तस्माद् भाववत्सर्वत्रैकः समवाय इति" अर्थात् संयोग के समान समवाय अनेक नहीं है क्योंकि वह भाव के समान ही लक्षणोंवाला है और उसमें विशेष के लक्षण नहीं है, इसलिये भाव (सत्ता) के समान ही समवाय सर्वत्र एक है।

यह (समवाय) नित्य है, संयोग के समान अनित्य नहीं है। जिस प्रकार भाव (सत्ता) अपने आश्रय के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता (जैसे मनुष्य के मरने पर भी मनुष्यत्व नहीं मरता) उसी प्रकार समवाय भी कभी नष्ट नहीं होता, पृथिवी आदि द्रव्यों में गन्धादि गुण समवाय-सम्बन्ध से स्थित रहते हैं; अतः जहाँ भी पृथिवी आदि द्रव्य होंगे, वहाँ गन्धादि गुण भी नियत रूप से होंगे। गन्धादि के विना पृथिवी आदि और पृथिवी आदि के बिना गन्धादि गुण पृथक् नहीं रह सकते। अतः इन अयुत सिद्धों का आधाराधेय रूप से जो सम्बन्ध है, वह नित्य सम्बन्ध है, अर्थात् जहाँ-जहाँ पृथिवी आदि द्रव्य हैं, वहाँ-वहाँ उनके नियत गन्धादि गुण भी हैं। दूसरा लक्षण इसके नित्य होने का यह है कि वह सत्ता की तरह ही अकारण है, अर्थात् उसका कोई उत्पादक नहीं है। प्रशस्तपाद ने इसीसे कहा है—

"सम्बन्ध्यनित्यत्वेऽपि न संयोगवदनित्यत्वं भाववदकारणत्वात्।"

अर्थात्—सम्बन्धी के अनित्य होने पर भी संयोग के समान अनित्य नहीं है, क्योंकि भाव (सत्ता) के समान ही यह अकारण है, अर्थात् इसका कोई उत्पादक नहीं है।

यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि समग्र वस्त्र अपने अवयवभूत तन्तुओं में रहता है। लालिमा गुलाब के फूल में, लेखन-क्रिया लेखक में, मनुष्यता मनुष्यनामधारी व्यक्तियों में तथा विशेष-आत्मा और परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में निवास करता है। पर इन दोनों का सम्बन्ध समवाय के द्वारा ही सम्पन्न होता है। समवाय

की विशेषता इसकी नित्यता है। संयोग तो क्षणिक सम्बन्ध है, पर समवाय की दशा ऐसी नहीं है। ऊपर जिन दो वस्तुओं का वर्णन किया गया है, उनकी पारस्परिक स्थिति का निर्वाह करने के लिये समवाय-सम्बन्ध को मानना पड़ता है। अतः इन परस्पर नित्य सम्बद्ध (अयुतसिद्ध) वस्तुओं का सम्बन्ध 'समवाय' है। जब तक उक्त पदार्थों की सत्ता बनी हुई है, तब तक इस सम्बन्ध की सत्ता मानी ही जायगी। 'समवाय' की कल्पना इस न्याय-वैशेषिक-सिद्धान्त के लिये नितान्त आवश्यक तथा उपादेय है, क्योंकि इसीके आधार पर इनके कार्य-कारण के विषय की विशिष्ट कल्पना अवलम्बित है।

तत्त्व-विज्ञान

अध्याय ३

अथ पदार्थविज्ञाने तत्त्व-विज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेयादयो महर्षयः ।

तत्त्वनिरूपण

स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे ।
आस्ते सामान्यकल्पेन ततनात् व्याप्तृभावतः ।।
तत्तत्त्वं क्रमशः पृथिवी प्रधानं पुंशिवादयः ।।

——तत्त्वालोक

भावार्थ——स्वकीय कार्य में, धर्म समुदाय में या स्वसमान गुणवाले वस्तु में सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को 'तत्त्व' कहते हैं ।

वक्तव्य——'तत्त्व' शब्द 'तनुविस्तारे' धातु से बना हुआ है। (तत्त्व नं० तन—क्विप् ततो भावः तस्य भावो वा त्व वा तलोपः याथार्थ्ये स्वरूपे, परमात्मनि, ब्रह्मणि । तदिति सर्वनाम सर्वं च ब्रह्म तस्य नाम सर्वनाम, तस्य भावः । ब्रह्मत्वे । सांख्योक्तेषु पंचविंशतौ पदार्थेषु । शब्दस्तोम महानिधि) । अतः यह विस्तृत संसार जिसके विस्तार से ढँका हुआ है, उसके यथार्थ रूप को 'तत्त्व' कहते हैं । इस तत्त्व के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दर्शनों ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की हैं । सांख्य-दर्शन में तत्त्वों की मीमांसा बड़े सुन्दर ढङ्ग से की गई है और यही तत्त्वमीमांसा इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है । अन्य दर्शनों के तत्त्व सम्बन्धी विचार भी अवलोकनार्थ संक्षेप में यहाँ दिये गये हैं ।

जैसे——मीमांसाकार जैमिनी के अनुसार बाह्यविश्व सत्य है, अर्थात् वह जैसा दिखाई देता है वैसा ही है । आत्मा अनेक हैं । स्वर्ग को भी वह मानता है, किन्तु उसके भोगों को विश्व के भोगों से इस बात में समानता मानता है कि दोनों ही भौतिक हैं । जैमिनी वेद की स्वतः प्रमाणता सिद्ध कर यज्ञ, कर्मकाण्ड प्रभृति का रास्ता साफ कर देता है । जैन-दर्शन में तत्त्वों के दो, पाँच, सात और नौ भेद बतलाये गये हैं, जो बौद्धों के स्कन्ध, आयतन और धातु की भाँति एक ही विश्व के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विभाजन हैं । जैसे दो तत्त्व——जीव और अजीव । पाँच तत्त्व——जीव, अजीव, आकाश, धर्म और पुद्गल ।

सात तत्त्व—जीव, अजीव, आश्रय, बन्ध, शम्बर, निर्जर और मोक्ष। नौ तत्त्व—उक्त सात के अतिरिक्त पुण्य और अपुण्य। दो और पाँच तत्त्ववाले विभाजन में दार्शनिक पदार्थों को ही रखा गया है, परन्तु पिछले दो में धर्म और आचार की बातों का सम्मिश्रण किया गया है।

यूरोपीय दर्शन में बर्गसे के अनुसार असली तत्त्व न भौतिक है, न मन (विज्ञान); बल्कि इन दोनों से भिन्न अन्य उभय तत्त्व, जिससे भौतिक तत्त्व तथा मन दोनों उत्पन्न होते हैं। यह मूल तत्त्व सदा परिवर्तनशील, घटना प्रवाह, लहराता जीवन, सदा नये-नये की ओर बढ़ रहा जीवन है। लौ के अनुसार मानसिक तथा भौतिक तत्त्व के दो प्रकार हैं, इसे प्रत्यक्ष सिद्ध तथा अप्रत्यक्ष सिद्ध भी कहा गया है। इनके अतिरिक्त एक तीसरा आत्मतत्त्व—ईश्वर है। इस्लाम-दर्शन में भी तत्त्व का विचार किया गया है। किन्दी जगत् को ईश्वर की कृति मानता है। किन्दी कार्य-कारण नियम या हेतुवाद का समर्थक है। वह ईश्वर को ही मूल कारण या असली तत्त्व मानता है।

पंचविंशति तत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्च ये वसेत्।
जटीमुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः॥

—सं० सि० सं० ९।११

सांख्य के अनुसार पचीस तत्त्व होते हैं, जिसको जानने से किसी भी आश्रम का पुरुष—चाहे वह ब्रह्मचारी हो, संन्यासी हो, गृहस्थ हो—दुःखों से अवश्यमेव मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इन पचीस तत्त्वों का वर्गीकरण निम्नलिखित चार प्रकार से किया जाता है—(१) कोई तत्त्व ऐसा है, जो सब का कारण तो होता है, पर स्वयं किसी का कार्य नहीं होता, अर्थात् उसका कोई कारण नहीं होता, जैसे—'प्रकृति'। (२) कुछ तत्त्व कार्य ही होते हैं, अर्थात् किसी से उत्पन्न होते हैं, पर स्वयं किसी को उत्पन्न नहीं करते, जैसे—'विकृति'। (३) कुछ तत्त्व कार्य तथा कारण दोनों होते हैं, अर्थात् किन्हीं तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं और किन्हीं तत्त्वों से उत्पन्न होते हैं। जैसे—'प्रकृति', 'विकृति'। (४) कोई तत्त्व कार्य तथा कारण उभयविध सम्बन्ध से शून्य होता है, अर्थात् न वह किसी का कारण होता और न कार्य ही होता है, जैसे—'न प्रकृति, न विकृति'। इसी को सांख्यकारिका में निम्न पदों में कहा गया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृति विकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

—सां० का० ३

सांख्य संमत तत्त्वों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

स्वरूप	संख्या	नाम
१—प्रकृति	१	प्रधान, अव्यक्त, प्रकृति
२—विकृति	१६	पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ मन और पंचमहाभूत
३—प्रकृति विकृति	७	महत्तत्त्व, अहंकार, पंचतन्मात्राएँ
४—न प्रकृति न विकृति	१	पुरुष

आयुर्वेद में ग्रहण किये हुए सांख्यानुमत चतुर्विंशति तत्त्व

"सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः-संभवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवोदकानां भावानाम्। तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव। तल्लिङ्गाच्च महतस्त-ल्लिङ्ग एवाहङ्कार उत्पद्यते। स च त्रिविधो वैकारिकस्तैजसोभूतादिरिति। तत्र वैकारिकादहङ्कारात् तैजससहायाच्च तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यते। तद्यथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसि इति। तत्र पूर्वाणि पंच ज्ञानेन्द्रियाणि इतराणि पंच कर्मेन्द्रियाणि उभयात्मकं मनः। भूता-देरपि तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव पंचतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति। तेषां विशेषाः शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धास्तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः। एवमेषा तत्त्व चतुर्विंशतिर्व्याख्याताः।" —सु० शा० १

भावार्थ—सब भूतों का कारण (स्वयं) अकारण सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण लक्षण वाला, अष्ट रूप (अव्यक्त, महान्, अहंकार और पंचतन्मात्रा रूप) वाला जगत् के उत्पत्ति का हेतु (कारण) वह अव्यक्त नामक तत्त्व है। वह एक (अव्यक्त) अनेक क्षेत्रज्ञों का, उदक भावों (जल जन्तुओं के तथा छोटी-छोटी नदियों) के अधिष्ठान के समान अधिष्ठित है। उस अव्यक्त से उसके अन्दर रहनेवाले लक्षणों (सत्त्व, रज और तम) वाला महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व) उत्पन्न होता है और उक्त लक्षणों से युक्त उस महत्तत्त्व से उन लक्षणोंवाला (सत्त्व-रज-तम लक्षणोंवाला) ही अहंकार तत्त्व की उत्पत्ति होती है। यह अहंकार तीन प्रकार का होता है—वैकारिक, तैजस और भूतादि। पुनः वैकारिक अहंकार से और तैजस अहंकार की सहायता से उन लक्षणोंवाली (सत्त्व-रज-तम) एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, हस्त, उपस्थ,

पायु, पाद और मन। इनमें प्रथम पाँच ज्ञानेन्द्रिय या बुद्धीन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं। मन उभयात्मक (दोनों में) है। इसी प्रकार भूतादि अहंकार से और तैजस् की सहायता से भी उन लक्षणोंवाले (सत्त्व-रज-तम) पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं, जैसे—शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा। इनका ही विशेष शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध होता है। इन तन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है, जैसे—आकाश, पवन, दहन, तोय और पृथिवी। इस प्रकार ये चौबीस तत्त्व कहे गये हैं।

वक्तव्य—सर्वभूतानाम्—स्थावरजङ्गमात्मक अखिलभूत यानि सृष्टपदार्थानि (भू-सत्तायाम् भुवादि परस्मैपद अक० सेट्। भू—क्त—शब्दस्तोम।) इस प्रकार भूत शब्द सभी सृष्टसत्ताधारी पदार्थों को कहते हैं। कारणम्—मूलकारण-उत्पत्ति में हेतु। अकारणम्—न कारणं विद्यते यस्य तदकारणम्, अर्थात् जिसका कोई उत्पादक हेतु न हो। "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" (सांख्य सू० १।६७) तथा "मूलप्रकृतिरविकृतिः" (सां० का०), अर्थात् (मूले) मूल कारण में (मूलाभावात्) कारण का अभाव होने से (मूलं) मूल कारण (अमूलं) कारणों से रहित होता है। कारण का कारण न होने से कारण को अमूल—कारण-रहित कहा गया है। महत्तत्त्व से लेकर सब कार्यों का मूलकारण—उपादान-कारण अव्यक्त (प्रकृति) है। उस (प्रकृति) का कोई कारण नहीं। यदि उसका भी कारण मानें, तो अनवस्था दोष आ जायगा। इससे प्रकृति को अमूल अर्थात् कारण-रहित कहा गया है।

यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि लोक में कारण का कारण देखा जाता है, जैसे घट का कारण मिट्टी और मिट्टी का कारण परमाणु, अतः प्रकृति का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए।

इसका समाधान सांख्यकार ने निम्न सूत्र के द्वारा किया है—"पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम्" (सांख्य सू० १।६८)। अर्थात् परम्परा के मानने पर भी अन्त में एक पर ठहरने से नाममात्र का भेद है। तात्पर्य यह है कि यदि प्रकृति का कारण माना जाय, तो उस कारण का भी कोई अन्य कारण मानना पड़ेगा और फिर उसका भी। इस प्रकार की परम्परा से अनवस्था दोष बने रहने के कारण इष्ट-सिद्धि नहीं होगी और इष्ट-सिद्धि न होने से किसी कारण में अन्तःस्थिति माननी ही पड़ेगी। जहाँ आप अन्तःस्थिति मानेंगे वहीं हमारे मत से प्रकृति है।

"सत्त्वरजस्तमोलक्षणं"—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के लक्षणोंवाला अर्थात् सत्त्व, रजस्-तमोमय। इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये गुण सदा मिले रहते हैं, कभी पृथक् नहीं होते। इसीलिये प्रकृति को भी गुणों की

साम्यावस्था कही गई है। देवीभागवत में भी इसके समर्थन में वाक्य मिलते हैं। "अन्योन्याभिभवाच्चैते विरुध्यन्ति परस्परम्। तथा—अन्योन्याश्रयाः सर्वे न तिष्ठन्ति निराश्रयाः॥ सत्त्वं न केवलं क्वापि न रजो न तमस्तथा। मिलिताश्च सदा सर्वे तेनान्योन्याश्रयाः स्मृताः। अन्योन्यमिथुनाच्चैव।" इसीसे सत्त्व-रज-तमो लक्षण कहा गया है, अर्थात् समस्त सृष्ट-पदार्थ में इनका सम्मिश्रण रहता है। इन गुणों की न्यूनाधिकता के कारण सृष्ट-पदार्थों में (स्थावर तथा जंगम) नानात्व उत्पन्न होता है, जिन्हें सात्त्विक-तामस्-राजस् कहकर निर्देश करते हैं। इनमें तीनों गुणों के रहने पर भी "व्यपदेशस्तु भूयसा" के अनुसार उक्त नाम देते हैं। इसीलिए भगवद्गीता में भी कहा है—

—भगवद्गीता १४।१०

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥

अव्यक्त का त्रिगुणात्मकत्व

सृष्ट सब पदार्थों का कारण जो अव्यक्त है, उसमें भी ये गुण (सत्त्व-रज-तम) वर्तमान रहते हैं; क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार जो गुण कारण में नहीं होते, वे कार्य में भी स्वतन्त्र रूप से नहीं आ सकते; भेद इतना ही होता है कि सृष्ट पदार्थों में ये गुण विषमावस्था में और कार्यकर स्थिति में होते हैं, परन्तु अव्यक्त में ये गुण साम्यावस्था में और अकार्यकर स्थिति में होते हैं। इसीसे कहा है—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।" —सांख्य सू० १।६१

"साम्यावस्था न्यूनाधिकभावेनासंहननम्, अकार्यावस्थत्वमित्यर्थः। एवं च कार्यभिन्नं गुणत्रयं प्रकृतिरिति पर्यवसितोऽर्थः।" —अनिरुद्ध टीका

अष्टरूपम्—अष्टौ रूपाणि यस्य तदष्टरूपम्। अर्थात् महान्, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ ये प्रकृति के सात रूप हैं। प्रकृति या अव्यक्त और उक्त सात मिलकर आठ होते हैं। सांख्यशास्त्र शिलापुत्रक-न्याय से अव्यक्त को रूपित्व और रूपत्व दोनों ही मानते हैं, परन्तु सांख्य ने इन्हें दो भागों में विभक्त किया है—(१) **"मूलप्रकृतिरविकृतिः"** और (२) **"प्रकृतिविकृतयः सप्त।"** वेदान्त ने भी प्रकृति का यही आठ रूप माना है, परन्तु उसमें प्रकृति के परब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण उसमें रूपित्व और रूपत्व दोनों के आरोप की आवश्यकता नहीं होती। जो शास्त्रकार पुत्रों की गणना में पिता को भी समाविष्ट करना नहीं चाहते वे प्रकृति के अष्टरूप (अष्टविधत्व) को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये प्रकृति के स्थान में मन का समावेश कर देते हैं, जैसे—"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो

बुद्धिरेव च । अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।" (भगवद्गीता ७।४) । "बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानम्"—अनेक क्षेत्रज्ञों का (प्रकृति) अधिष्ठान है । क्षेत्रज्ञ नाम है आत्मा का और क्षेत्र शरीर को कहते हैं। इसका ज्ञाता आत्मा है, अतः क्षेत्रज्ञ का अर्थ आत्मा है। "आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः"—(महाभारत) । अधिष्ठान का अर्थ है आश्रय—शरीरोत्पादन का विषय । "औदकानां भावानां—उदके भवःऔदकः—मत्स्यपद्मादयोजलजन्तुविशेषाः ।" अव्यक्त एक अचेतन और अधिष्ठान होता है और क्षेत्रज्ञ अनेक चेतन और आश्रयी होता है। इस दृष्टि से "उदके भवा—औदकाः" नदी-नद-सरस्तड़ागादि का ग्रहण होता है। जिस प्रकार समुद्र अनेक जल-जन्तुओं तथा नदी-नद का अधिष्ठान है, उसी प्रकार प्रकृति भी अनेक आत्माओं का अधिष्ठान है ।

क्षेत्रज्ञ—क्षेत्र का वास्तविक अर्थ खेत है । दर्शनशास्त्र में चतुर्विंशति तत्त्व समुदाय को अर्थात् शरीर को क्षेत्र कहते हैं। यथा—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

—म० गी० १३।१

और भी—

खादीनि बुद्धिरव्यक्त—महंकारस्तथाष्टमः ।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडशः ।।
बुद्धीन्द्रियाणि पंचैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च ।
समनस्काश्च पंचार्था विकारा इति संज्ञिता ।।
इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्त वर्जितम् ।

—च० शा० १

अर्थात्—इस शरीर का जो ज्ञाता है, उसे क्षेत्रज्ञ या साक्षी कहते हैं । क्षेत्रज्ञ के लिये ज्ञ, आत्मा, पुरुष इत्यादि शब्द प्रयुक्त होते हैं।

महत्तत्त्व—अव्यक्त या त्रिगुण साम्यावस्था या प्रकृति का पुरुष से सम्पर्क होते ही प्रकृति अव्यक्तावस्था तथा त्रिगुण-साम्यावस्था को छोड़कर व्यक्त तथा त्रिगुणवैषम्ययुक्त अनेक तत्त्वों को उत्पन्न करने लगती है । इस तत्त्व-परम्परा का प्रारम्भ तभी होता है, जब प्रकृति-पुरुष समधिष्ठित होते हैं। इस परम्परा में प्रथम तत्त्व महत् है । इसी को बुद्धितत्त्व भी कहते हैं। "यदेतद् विसृतं बीजं प्रधान पुरुषात्मकम् । महत्तत्त्वमिति प्रोक्तं बुद्धितत्त्वमिहोच्यते ।।"

अहंकार—अहं भावना को अहंकार कहते हैं । इससे अभिमान या पृथक्त्व का भान होता है। यथा—

"अभिमानोऽहङ्कारः ।" —सांख्य का० २४

"अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताऽहमितिमन्यते ।"

—भगवद्गीता ३।४०

"यत् खल्वालोचितं मतं च तत्राहमधिकृतः शक्तः खल्वहमत्र, मदर्था एवाऽमी विषयाः, मत्तो नान्योऽत्राधिकृतः कश्चिदस्ति, अतोऽहमस्मि इति योऽभिमानः सोऽसाधारणव्यापारत्वादहंकारः । तदुपजीव्य हि बुद्धिरध्यवस्यति कर्तव्यमेतन्मया ॥"

—वाचस्पतिमिश्र

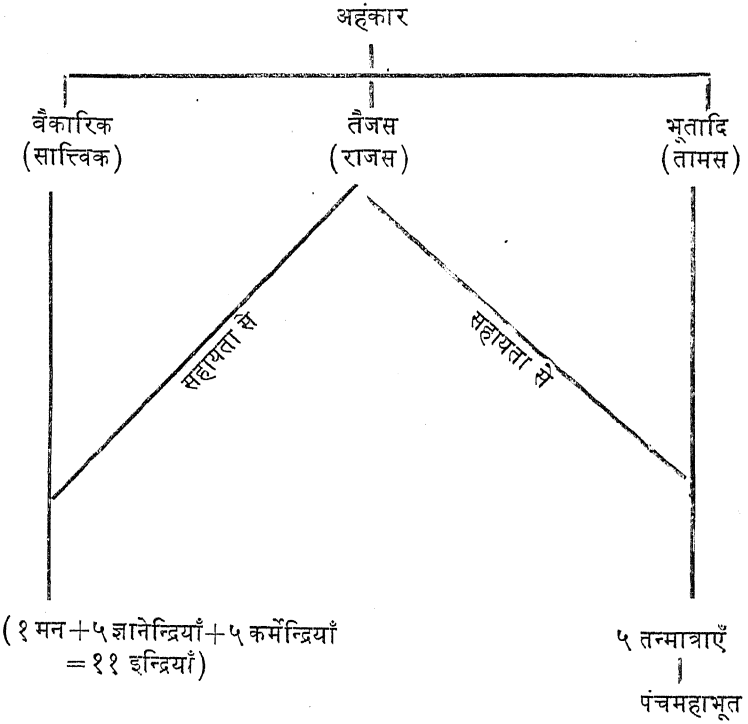

इस प्रकार उपर्युक्त आठ प्रकृतियाँ और षोडश विकार मिलकर २४ तत्त्व कहे गये हैं ।

चरक के मत से सर्ग, सृष्टि और प्रलय का निरूपण

जायते बुद्धिरव्याक्ताद् बुद्ध्याहमिति मन्यते ।
परं खादीन्यहंकार उपादत्ते यथाक्रमम् ॥
ततः सम्पूर्ण सर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ।
पुरुषः प्रलये चैष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते ॥

अव्यक्ताद्व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः ।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते ।।

—च० शा० १।६५-६७

उपस्कार—सम्प्रति सर्गक्रममाह—जायते-इति । अव्यक्तात् मूलप्रकृतेः पुरुषसंसृष्टायाः प्रकृतिपुरुषसंयोगस्य सर्गहेतुत्त्वात् । तदुक्तं—पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्यतत्कृतः सर्गः । इति (सांख्यकारिका २१) । बुद्धिः महत्तत्त्वं जायते । बुद्धया अहमिति मन्यते अभिमन्यते । बुद्धेरभिमानलक्षण अहङ्कार जायते । ततः परं यथाक्रमं क्रमेण अहङ्कारः खादीनि उपादत्ते । खादीनि पञ्चसूक्ष्मभूतानि तन्मात्राख्यानि अहङ्काराद्उत्पद्यन्ते । तदुक्तं—प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्मात् गणश्च षोडशस्कः । इति (सां० का० २२) । षोडशस्को गणः पञ्चतन्मात्राणि एकादश इन्द्रियाणि च । आयुर्वेदे—इन्द्रियाणि भौतिकानीति वर्ण्यन्ते तेन इन्द्रियाणां अहङ्काराद्उत्पत्तिर्नोक्ता । ततस्तेभ्यः पञ्चभ्यो-भूतेभ्यः संपूर्णानि सर्वाणि अङ्गानि यस्य तथाभूतः अभ्युदितः अभिव्यक्तः अव्यक्तावस्थायाः व्यक्ततां गतः । न तु अभूत्वा भूतः । जात इत्युच्यते स च पुरुषः प्रलये शरीरारम्भकभूतानां कारणे, लये तदा इष्टैर्भावैर्बुद्धयादिभिर्वियुज्यते । तच्च मरणम् । अव्यक्तात् कारणाद्अभिव्यक्तिः जन्म । व्यक्तस्य कारण-लयात् पुनरव्यक्ति भावो मरणम् । अयं जन्म-मरण प्रवाहः पुरुषस्य बन्धं यावत् वर्तते इत्याह अव्यक्तादिति । पुरुषः रजस्तमोभ्यां बंधहेतुभ्यां आविष्टः सन् अव्यक्तात् कारणात् व्यक्ततां याति कार्यरूपेण । इदं जन्म । व्यक्तात्—व्यक्तावस्थायाः पुनः अव्यक्ततां याति—कारणे लयात् । एतच्च मरणम् । पुनः व्यक्ततां याति पुनरव्यक्तताम् एवं चक्रवत् परिवर्तते—घूर्णते आ-अपवर्गात् ।

अर्थ—अब सर्ग या सृष्टि-क्रम का वर्णन करते हैं। अव्यक्त अर्थात् सगुण पुरुष या पुरुष-संसृष्ट मूलप्रकृति से बुद्धि या महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। बुद्धि या महत्तत्त्व से अहंकार (अभिमान लक्षणवाला-अहम्) की उत्पत्ति होती है। इसके बाद यथाक्रम से खादि अर्थात्—आकाशादि पञ्चसूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति अहंकार से होती है। (आयुर्वेद इन्द्रियों को भौतिक मानता है, अतः इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से नहीं मानता।) इसके बाद उन पञ्चमहाभूतों से सर्वाङ्ग पूर्ण पुरुष अभिव्यक्त होता है, ऐसा कहते हैं। अर्थात् अव्यक्तावस्था व्यक्तावस्था में परिणत हो जाती है। इस प्रकार वह पुरुष (सगुण) पुनः प्रलयकाल में शरीरारम्भक भूतों के कारण में लय होने पर अपने बुद्धयादि इष्ट भावों से वियुक्त होता है। यही मरण कहलाता है और अव्यक्त अर्थात् कारण से अभिव्यक्त का नाम जन्म है। इस प्रकार कार्य से कारण में लय होना मरण और कारण से कार्य की ओर अभिव्यक्त होना जन्म कहलाता है। यह जन्म-मरण

या व्यक्ताव्यक्त-प्रवाह पुरुष के बन्धकाल तक चक्रवत् चलता रहता है, जब तक उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता।

वक्तव्य—आयुर्वेद (चरक) का सर्ग-सृष्टि और प्रलय का वर्णन अन्य दर्शन (सांख्य) से भिन्न है। सांख्य पुरुष संसृष्ट मूलप्रकृति (अव्यक्त) से महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से अहंकार एवं अहंकार से इन्द्रियों तथा पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति का वर्णन करता है, परन्तु आयुर्वेद इन्द्रियों को भौतिक मानता है। अतः इन्द्रियों की उत्पत्ति पञ्चमहाभूतों से मानता है, न कि अहंकार से। इस प्रकार आयुर्वेद का सर्ग या सृष्टि उस अव्यक्त अर्थात् सगुण आत्मा से प्रारम्भ होता है। तात्पर्य यह है कि सगुण आत्मा से बुद्धि की उत्पत्ति होती है और बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है तथा अहंकार से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। यह सृष्टि अहंकार बुद्धिवाला आत्मा ही करता है। इसमें प्रमाण यह है कि आगे चलकर चरक शारीर ४ अध्याय में स्पष्ट रूप से कहा गया है—"स (आत्मा) गुणोपादानकाले अन्तरिक्षं पूर्वतरं अन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते। तथा प्रलयात्यये सिसृक्षुः भूतान्यक्षरभूतः सत्त्वोपादानमाकाशं सृजति ततः क्रमेण व्यक्ततर गुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुर इति।" अर्थात् आत्मा आदिकाल में सर्वप्रथम अपने गुणों में से सत्त्वगुण विशिष्ट अन्तरिक्ष (आकाश) को अभिव्यक्त (उत्पन्न) करता है। जिस प्रकार प्रलय के समाप्त हो जाने पर सर्ग या सृष्टि की इच्छा करनेवाला अर्थात् भूतों को उत्पन्न करने की इच्छा करता हुआ वह आत्मा (सगुण) सत्त्वोपादान आकाश का सृजन करता है, उसी प्रकार बाद में क्रम से व्यक्ततर गुणवाले धातु, वायु आदि को उत्पन्न करता है। इसका समर्थन तैत्तिरीयोपनिषद् में भी मिलता है। जैसे—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः" इति।

और भी याज्ञवल्क्य स्मृति में इसका समर्थन मिलता है, जैसे—

"सर्गादौ स यथाकाशं वायुंज्योतिर्जलंमहीम्।
सृजत्येकोत्तरगुणां स्तथाधत्ते भवन्नपि॥"

और भी—

यथात्मानं सृजत्यात्मा तथा वः कथितो मया।
विपाकात् त्रिप्रकाराणां कर्मणामीश्वरोऽपिसन्॥
सत्त्वंरजस्तमश्चैव गुणांस्तस्यैव कीर्तिताः।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् भ्राम्यते ह्यसौ॥
अव्यक्तात्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते।
बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात् ततोऽहंकारसंभवः॥

तन्मात्रादीन्यहंकारात् एकोत्तर गुणानि च ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसोगन्धश्च तद्गुणाः ।।

—याज्ञवल्क्यस्मृति ३-४

इस प्रकार उन पंचमहाभूतों से सर्वाङ्गपूर्ण विषयेन्द्रियादि समन्वित पुरुष का आविर्भाव हुआ। याज्ञवल्क्य ने भी कहा है—"निमित्तमक्षरः कर्ता बोद्धाब्रह्मगुणी वशी। अजः शरीरग्रहणात् स जात इति कीर्त्यते ।। (३-४-६६)। यहाँ पर ध्यान रखना चाहिये कि "एकैकाधिकयुक्तानि", चरक के इस वचन से तथा "भौतिकानि चेन्द्रियाणि आयुर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः" सुश्रुत के इस वचन से इन्द्रियाँ तथा उनके विषय भौतिक हैं, यह स्पष्ट है। सांख्य (ईश्वर-कृष्ण) के अनुसार अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति आयुर्वेद-सम्मत नहीं है। इसीलिये भेलसंहिता में भी स्पष्ट रूप से कहा है—

घ्राणं गन्धश्च भौमं हि रूपं चक्षुश्च तैजसम् ।
संस्पर्शः स्पर्शनं वायोः श्रोत्रं शब्दः खजं तथा ।।
रसनं च रसाः ह्याप्यं तस्मादेतैरिहेन्द्रियैः ।
यथास्वं तुल्ययोनित्वात् विषयग्रहणं स्मृतम् ।।

—शा० २

इन प्रमाणों के रहते हुए भी टीकाकार ईश्वर-कृष्ण ने सांख्य के सृष्टि-क्रम से मिलाने के लिये अनेक प्रकार की खींचातानी अनावश्यक की है।

सृष्टिक्रम अर्थात् पुरुषोत्पत्ति-क्रम को कहने के बाद ध्वंसक्रम अर्थात् प्रलय का वर्णन किया गया है। प्रलयकाल अर्थात् मृत्यु-काल (अपने कारणों में लय होने के काल) में अपने इष्टभावों से अर्थात् स्थूल देहादिक पदार्थों से वह सगुण आत्मा वियुक्त हो जाता है। इस प्रकार वह पूर्वोक्त रीति से रजोगुण तथा तमोगुण से आविष्ट होकर अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था को अर्थात् इन्द्रियग्राह्यता आदि को प्राप्त होता है। यह उसका आविर्भाव या जन्म है और पुनः प्रलय काल में व्यक्तावस्था से अर्थात् स्थूल देह से अव्यक्तावस्था अर्थात् सूक्ष्मरूप—अतीन्द्रियता को प्राप्त होता है, यह उसका मरण या लय है। इस प्रकार मोक्ष-पर्यन्त वह चाक के समान भ्रमण करता रहता है, अर्थात् अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में, कारण से कार्य में तथा व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था में कार्य से कारण में सदा परिवर्तित होता रहता है। इसीलिये निम्न श्लोक में स्पष्ट कर दिया है—

येषां द्वन्द्वे परासक्तिरहंकारपराश्च ये ।
उदयप्रलयौ तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा ।।

—च० शा० १।६८

अर्थात्—जिनकी द्वन्द्व में अर्थात्—रजस्तमोरूप मिथुन वृत्ति में परासक्ति है जो अहंकार आदि में लिप्त रहते हैं, उन्हीं के लिए ये उदय और प्रलय हैं। ः लिये नहीं, जो इन द्वन्द्वों से परे हो जाते हैं, अर्थात् जो रजोगुण तथा गुण से मुक्त एवं अहंकार-रहित हैं, उनके लिये ये उदय और प्रलय नहीं हैं।

सृष्टि तथा संहार-विधि

"इहेदानीं चतुर्णांमहाभूतानां सृष्टि-संहारविधिरुच्यते।"

—प्र० पा० भाष्य

इस वाक्य के साथ वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद-भाष्य में सृष्टि और संहार का वर्णन किया गया है, जिसका आशय यह है कि पृथिवी आदि के असंख्य परमाणु प्रलय-काल में द्वयणुकादि कार्य को आरम्भ नहीं कर सकते, क्योंकि उस समय ईश्वर की संहार करने की इच्छा प्रतिबन्धक होती है। जब सृष्टि के आदि काल में सृष्टि उत्पन्न करने के लिये परमात्मा की इच्छा से परमाणुओं में क्रिया होने के कारण दो-दो परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है, अर्थात्—सजातीय दो परमाणुओं के संयोग से 'द्वयणुक' बनता है और वह द्वयणुक भी असंख्य दो-दो परमाणुओं से जन्म होने के कारण असंख्य होते हैं। इस प्रकार उन 'द्वयणुकों' में पुनः क्रिया होने से तीन द्वयणुकों के संयोग द्वारा 'त्र्यणुक' और चार-चार त्र्यणुकों के संयोग से 'चतुरणुक' तथा पाँच चतुरणुकों के संयोग से 'पंचाणुक' रूप कार्यद्रव्य द्वयणुकादि की अपेक्षा स्थूल से स्थूलतर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पंचाणुकों से उत्तरोत्तर स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम आदि तारतम्य से 'महाकाश', 'महावायु', 'महातेज', 'महाजल' तथा 'महापृथिवी' आदि कार्यद्रव्य उत्पन्न होते हैं और जब परमात्मा में सृष्टि-संहार करने की इच्छा होती है, तब पृथिवी आदि द्रव्यों के परमाणुओं में क्रिया द्वारा दो-दो परमाणुओं का परस्पर विभाग हो जाता है। इस विभाग से दो परमाणुओं के संयोग का नाश, संयोग-नाश से द्वयणुक रूप कार्य-द्रव्य का नाश, इसी तरह द्वयणुक नाश से उत्तरोत्तर त्र्यणुक आदि के विनाश से महापृथिवी आदि सब पदार्थों का विनाश हो जाता है, अर्थात्—सबका अपने प्रकृतिरूप मूलकारण में लय हो जाता है। इसी को सांख्य में "नाशः कारण—लयः" (सां० १।१२१) सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया गया है। कारण में कार्य का लय होना ही नाश कहलाता है, अर्थात् निमित्त-कारण द्वारा अतीतावस्था को प्राप्त हुए सब कार्यद्रव्य अपने कारण में अभेद सम्बन्ध से लीन हो जाते हैं—इसी का नाम नाश है। सर्वथा स्वरूप से नष्ट हो जाने का नाम नाश नहीं। इस प्रकार सृष्टि तथा संहार दोनों अवस्थाओं में मूलकारण प्रकृति के साथ नित्य सम्बन्ध होने से पृथिवी आदि कार्यद्रव्य उस (प्रकृति) की सिद्धि में लिङ्ग हैं।

चरक ने अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, आत्मा और व्यक्त, अष्टप्रकृति और षोडश विकार का निरूपण निम्न प्रकार से किया है--

तदेव भावादग्राह्यं नित्यत्वान्न कुतश्चन ।
भावाज्ज्ञेयं तदव्यक्तमचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा ॥
अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः ।
तस्माद् यदन्यत् तद्व्यक्तं वक्ष्यतेचापरद्वयम् ॥
व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद् यदिन्द्रियैः ।
अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥
खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः ।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पंचैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च ।
समनस्काश्च पंचार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥
इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्त वर्जितम् ।
अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञं ऋषयो विदुः ॥

--च० शा० १।५८।६४

उपस्कार--नित्यानित्ययोरव्यक्तव्यक्तसंज्ञकमाह-तदेव--इति । तत् नित्यं । भावः उत्पत्तिः कारणादभिव्यक्तिः । तस्मात् अग्राह्यं उत्पत्तिधमण न ग्राह्यं अकारणत्वात् । तस्मान्नित्यम् । भावा इति छेदः । यत् पुनः हेतुजं तस्य नित्यत्वं न कुतश्चन न कथमपि स्यात् । कुतः ? भावादुत्पत्तेः । कारणवत्वात् तदनित्यं तस्मात् तन्नित्यं अव्यक्तं ज्ञेयं कारणादनभिव्यक्तेः । व्यक्त्या अग्रहणात् अव्यक्तम् । अचिन्त्यमिति अव्यक्तस्य विशेषणम् । अन्यथा अन्यत् यत् हेतुजं तत् व्यक्त्या ग्रहणात् व्यक्तं ज्ञेयम् । किं तत् अव्यक्तमिति ? अत आह--अव्यक्तमिति । अव्यक्तं अव्यक्तशब्दवाच्यः आत्मा । क्षेत्रज्ञादि आत्मनो विशेषणम् । व्यक्तमाह--तस्मादिति । तस्मादात्मनः अन्यत् यत्-यत् आत्म-व्यतिरिक्तं सर्वं व्यक्तम् । कारणादभिव्यक्ताभ्यां व्यक्ताव्यक्ते अभिधाय इन्द्रियग्रहणाभ्यां पुनराह--वक्ष्यते इति । अपरं अन्यविधं द्वयं व्यक्तमव्यक्तं च वक्ष्यते । यदिन्द्रियैः गृह्यते--उपलभ्यते तदैन्द्रियकम्, तच्च व्यक्तम् । अतोऽन्यत् यत् इन्द्रियैः न गृह्यते तत् अतीन्द्रियम्, इन्द्रिय मतिक्रान्तम्, तच्चाव्यक्तम् । लिङ्गग्राह्यं लिङ्गैरनुमेयम् । अप्रत्यक्षमपि तत् अनुमानेन उपलभ्यते ।

प्रकृतिःका ? विकाराःके ? इत्यस्योत्तरमाह--खादीनि । खादीनि पंच-सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राख्यानि । बुद्धिर्व्यवसायलक्षणा महत्तत्त्वं चैतत् ।

अव्यक्तं मूलप्रकृतिः । इति सप्त । अष्टमः अष्टौ । विकाराः षोडश । के ते विकारा इति ? अत आह—बुद्धीन्द्रियाणीति। पंच बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, पंचकर्मेन्द्रियाणि हस्तपादादीनि । मनसा सह वर्तमाना समनस्काः पंच अर्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । पंच बुद्धीन्द्रियाणि पंच कर्मेन्द्रियाणि पंच अर्था मनश्चेति षोडश विकारा इति संज्ञिताः ।×××

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ भेदेन विभजते—इति क्षेत्रमिति । अव्यक्त वर्जितं—अव्यक्तं वर्जयित्वा । अव्यक्तमिह मिलितौ प्रकृतिपुरुषौ—उभयोः अव्यक्तशब्द वाच्यत्वात् । अन्योन्यसंसृष्टयोस्तयोरग्नयः पिण्डवत् एकीभावात् तत् एकं तत्त्वं । शरीराधिकारे स हि क्षेत्रज्ञः तदादाय चतुर्विंशतिकोराशिरिह पुरुष उच्यते । अव्यक्तवर्जितं अन्यत् सर्वं त्रयोविंशतिस्तत्त्वानि क्षेत्रं समुद्दिष्टं क्षेत्रमुच्यते । क्षेत्रं—शरीरं ।

अर्थ—वह उत्पत्ति-धर्म से अग्राह्य होने के कारण अथवा अकारण—कारण रहित अर्थात् उसको उत्पन्न करनेवाला न होने के कारण नित्य है और जो हेतुज अर्थात् कारणवाला है, उसका नित्यत्व कभी नहीं होता अर्थात् वह अनित्य है । उस नित्य को अव्यक्त कहते हैं और वह अचिन्त्य है। इसके विपरीत अर्थात् जो हेतुज है, वह व्यक्त है। अव्यक्त, आत्मा, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु और अव्यय, ये सब उस आत्मा के विशेषण हैं। उस आत्मा से अन्य अर्थात् जो आत्मवर्जित है सब व्यक्त है। अन्य प्रकार से इन (व्यक्त और अव्यक्त) दोनों को इस प्रकार कहेंगे कि जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है अर्थात् जो ऐन्द्रियक है, वह व्यक्त है और जो अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है, वह अव्यक्त है। यह अतीन्द्रिय अव्यक्त लिङ्गों द्वारा अर्थात् लक्षणों द्वारा अनुमेय है। पञ्चतन्मात्राएँ, बुद्धितत्त्व, अहंकार तथा आठवाँ अव्यक्त ये आठ भूतप्रकृति कहे गये हैं। ये आठ प्रकृतियाँ हैं। षोडश विकार ये हैं—पाँच बुद्धीन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन और पाँच अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)। इन चतुर्विंशति तत्त्वों में अव्यक्त को छोड़कर तेईस को क्षेत्र (शरीर) कहते हैं और इस क्षेत्र के ज्ञाता अव्यक्त (पुरुषाधिष्ठित प्रकृति या सगुण आत्मा) को ऋषियों ने क्षेत्रज्ञ कहा है ।

वक्तव्य—अव्यक्त—प्रकृति या प्रधान। व्यक्त और अव्यक्त के भेद निम्न प्रकार से सांख्यकारिका में वर्णन किये गये हैं—"हेतुमदनित्यमव्यापी सक्रियमनेकाश्रितं लिङ्गं। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम् ।।" अर्थात्—अव्यक्त—अहेतुमत्, नित्य, व्यापी, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, अनवयव और स्वतन्त्र होता है। सांख्यदर्शन के चौबीस तत्त्वों में केवल एक प्रकृति, गुण विशिष्ट होने के कारण वह अव्यक्त कहलाती है। चरकसंहिता में अव्यक्त

उसे कहा गया है, जो उत्पत्ति-धर्म से रहित तथा नित्य हो और अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य न हो, जिसका अनुभव लिङ्गों से किया जाता हो। इस प्रकार चरक का अव्यक्त पुरुषाधिष्ठित मूलप्रकृति या सगुण आत्मा है (इसके विशेष विवेचन के लिये सृष्टि-प्रकरण के वक्तव्य देखें)। इसके विपरीत अर्थात् सांख्य-शास्त्र के अनुसार हेतुमत्, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेकाश्रित, लिङ्ग-वाला, सावयव और परतन्त्र जो है वह व्यक्त है। चरक के अनुसार जो उत्पत्ति-धर्मवाला और कारणवान् है, वह अनित्य है और वह अनित्य तथा इन्द्रियग्राह्य होने से व्यक्त है। अर्थात् अव्यक्त प्रकृति या सगुण आत्मा को छोड़कर शेष तेईस तत्त्व व्यक्त हैं। इसी व्यक्त तत्त्व को क्षेत्र कहते हैं और इस क्षेत्र का जो ज्ञाता होता है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है।

अष्टप्रकृति—महान्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ ये प्रकृति के सात रूप हैं। प्रकृति या अव्यक्त और उक्त सात उसके रूप मिलकर आठ होते हैं। "अष्टौ रूपाणि यस्य तदष्टरूपम्।" (इस सम्बन्ध में पहले भी लिखा जा चुका है।)

षोड़श विकार—पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश), और पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण) तथा पञ्चकर्मेन्द्रियाँ (हस्त, पाद, पायु, उपस्थ और मुख) एवं मन ये षोड़श विकार हैं।

प्रकृति—"प्रकरोतीति प्रकृतिः।" "तत्त्वान्तरोपादानत्वं प्रकृतित्वम्।" "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।" "मूलप्रकृतिरविकृतिः।" अर्थात् जो किसी वस्तु को उत्पन्न करनेवाला हो किन्तु उसका कोई उत्पादक न हो, उसे 'प्रकृति' या 'मूलप्रकृति' कहते हैं। जो अन्य तत्त्वों का उपादान कारण है अर्थात् जो तत्त्वान्तरों को उत्पन्न करता है, उसे 'प्रकृति' कहते हैं; जैसे—मूलप्रकृति। जो तत्त्वान्तर को उत्पन्न करते हैं और स्वयं भी उत्पन्न हैं, वे प्रकृति-विकृति हैं; जैसे—महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ।

विकार—"तत्वान्तरजनकत्वेसति जन्यत्वं विकारत्वम्।" अर्थात्—किसी तत्त्व को उत्पन्न न कर जो स्वयं उत्पन्न हो उसे 'विकार' कहते हैं। जैसे—उक्त षोड़शविकार।

चरकानुमत चतुर्विंशति तत्त्व

पुनश्च धातुभेदेने चतुर्विंशतिकः स्मृतः।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्ट धातुकी॥

—च० शा० १-१६

उपस्कार—चिकित्साधिकृतपुरुषं दर्शयति—पुनश्चेति। धातुभेदेन प्रकृति-विकृतिभेदेन चतुर्विंशतिकः चतुर्विंशतिपदार्थसमवायःपुरुषःस्मृतः अस्माभिरिति

शेषः। (दीपिका)। वक्ष्यमाण चतुर्विंशतिकः राशिपुरुषः स्मृतः। चतुर्विंशतिकं विभजते---मन इति। दश इन्द्रियाणि---पंच ज्ञानेन्द्रियाणि पंच कर्मेन्द्रियाणि च। अर्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पंच। एते षोड़शविकाराः। अष्टधातुको प्रकृतिः। अव्यक्तं महत्-अहंकार-पंचमहाभूतानीति---इत्यष्टौप्रकृतयः ×××। अष्टौ प्रकृतयः षोडशविकाराः मिलित्वा चतुर्विंशतिः। प्रकृतिवर्गे परिपठितत्वात् खादीनि पंचमहाभूतानि इह सूक्ष्माणि भूतानि तन्मात्राख्यानि। (उपस्कार)। एतच्च "खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः। इत्यनेनानुपदेनैव स्वयं विवरिष्यति। अत्राव्यक्तपदेन आत्मैव परिगृहीता तेन पुरुषस्य चतुर्विंशतिकत्वम्। अव्यक्तशब्दश्च प्रकृत्यर्थकत्वे तु पंचविंशतिकत्वं आपद्येत। अयमायुर्वेद संमतः पदार्थविवेक ईश्वरकृष्णादि संमतात् सांख्यनयात् भिद्यत इति ज्ञेयम्। (दीपिका)। अव्यक्तशब्देन इह उभयमुच्यते। तथा च अव्यक्तं मूलप्रकृतिः। विकारग्रहणात् सा इह पुरुषोपहिता बोद्धव्या। पुरुषसंसृष्टाया एव तस्याः सर्गप्रवृत्तेः। तदुक्तं "पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।" (सां० का० २१) एवं च शरीरसर्गे चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि भवन्ति।

भावार्थ---धातुभेद से अर्थात् प्रकृति-विकृति भेद से यह (चिकित्साधिकृत पुरुष या कर्मपुरुष) पुरुष चौबीस तत्त्वों का समुदायरूप है। आगे चौबीस तत्त्वों वाला "राशिपुरुष" कहा गया है। ये चौबीस तत्त्व इस प्रकार हैं---मन, दस इन्द्रियाँ, पाँच अर्थ, ये षोडश विकार और अष्ट धातु की प्रकृति अर्थात् अव्यक्त, महान्; अहंकार और पञ्चमहाभूत; इस प्रकार षोड़शविकार और आठ प्रकृतियाँ मिलकर चौबीस होते हैं। यहाँ पंचमहाभूतों का प्रकृतिवर्ग में पाठ होने से सूक्ष्म महाभूतों का अर्थात् पंचतन्मात्राओं का ग्रहण होता है। यहाँ अव्यक्त पद से आत्मा का ही ग्रहण किया गया है। इसी से पुरुष का चतुर्विंशतिकत्व सिद्ध होता है। यदि अव्यक्त का अर्थ प्रकृति किया जाय तो पुरुष में पंचविंशतिकत्व आ जायगा। यह आयुर्वेद-सम्मत पदार्थ-विवेक ईश्वरकृष्ण के सांख्य-मत से भिन्न है, अव्यक्त पद यहाँ दोनों के लिये आया हुआ है। अव्यक्त पद मूल-प्रकृति के लिये आता है। इसके साथ विकार का भी ग्रहण किया गया है, अतः यहाँ पुरुषोपहित प्रकृति समझना चाहिये; क्योंकि पुरुषाधिष्ठित प्रकृति से ही सर्ग की उत्पत्ति होती है। सांख्य में कहा है कि 'पंगु और अन्धे के न्याय से दोनों (प्रकृति-पुरुष) का संयोग होकर सर्ग की उत्पत्ति होती है।'

वक्तव्य---सांख्य-दर्शन में पचीस तत्त्वों का वर्णन मिलता है, जो इस पुस्तक में पहले लिखा जा चुका है। इनमें प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों को अचेतन कहा है और पचीसवाँ तत्त्व पुरुष को चेतन कहा है, यही पुरुष भोक्ता होता है। यदि इस पुरुष का ग्रहण न करें तो रोग-अरोग की प्रवृत्ति ही न हो। आयुर्वेद-शास्त्र का

का मुख्य उद्देश्य आरोग्य-संरक्षण और रोगापनयन है। यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है, जब रोगारोग्य का कोई भोक्ता हो, अतः पुरुष का ग्रहण करना ही होगा। चरक-संहिता में इस (चिकित्साधिकृत) पुरुष को चतुर्विंशतिक चौबीस तत्त्वों का समुदाय रूप) कहा गया है। अतः सांख्य के पुरुष से (जो पचीसवाँ है) आयुर्वेद का पुरुष भिन्न है। आयुर्वेद के इस चतुर्विंशतिक पुरुष का समर्थन अन्य शास्त्रों में भी पाया जाता है, जैसे—

श्रूयतामवनिपाल यदेतदनुपृच्छसि ।
योगानां परमं ज्ञानं सांख्यानां च विशेषतः ।।

× × × ×

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोड़शः ।
आसां तु सप्त व्यक्तानि प्राहुराध्यात्मचिन्तकाः ।।
अव्यक्तं च महांश्चैव तथाहंकार एव च ।
पृथिवी वायुराकाशं आपोज्योतिश्च पंचमम् ।।
शब्दः स्पर्शश्च रूपंच रसो गन्धस्तथैव च ।
वाक् च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्रं तथैव च ।।
एते विशेषा राजेन्द्र महाभूतेषु पंचषु ।
बुद्धीन्द्रियाणि अथैतानि सविशेषाणि मैथिल ।।
मनः षोडशकं प्राहुराध्यात्मगतिचिन्तकाः ।।

शान्तिपर्व १५ अ०

बुद्धचरिते च

अत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद ।
पंचभूतान्यहंकार बुद्धिमव्यक्तमेव च ।।
विकार इति बुध्यस्व विषयानीन्द्रियाणि च ।
अस्य क्षेत्रस्य विज्ञानात् क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते ।।
क्षेत्रज्ञ इति चात्मानं कथयन्त्यात्मचिन्तकाः ।
जायते जीर्यते चैव वाध्यते म्रियते च यत् ।।
तद्व्यक्तमिति विज्ञेयं-अव्यक्तं च विपर्ययात् ।

—सर्ग १२

इन वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि चतुर्विंशतिवादियों का भी कोई समुदाय मध्यकाल में हुआ है। ऐसी दशा में चौबीस तत्त्वों की गणना में अव्यक्त शब्द से आत्मा तथा आत्माधिष्ठित प्रकृति का ग्रहण ही उपयुक्त होगा।

व्यक्त तथा अव्यक्त के लक्षण और भेद

हेतुमदनित्यमव्यापी सक्रियमनेकाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥

—सां० का० १०-११

अर्थ—हेतुवाले, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेकों में आश्रित, लिङ्गवाला, अवयवोंवाले और परतन्त्र पदार्थ को 'व्यक्त' कहते हैं। इससे ठीक विपरीत जो अहेतु, नित्य, व्यापी, निष्क्रिय, एक, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतन्त्र है, वह 'अव्यक्त' कहलाता है। इनमें व्यक्त तथा प्रधान (अव्यक्त), त्रिगुण (सत्त्व-रज-तमो गुणवाला), अविवेकि, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसव-धर्मी है। पुरुष इससे विपरीत अर्थात् निर्गुण, विवेकी, विषय रहित, असामान्य, चेतन और मध्यस्थधर्मी है।

वक्तव्य—सांख्य-दर्शन में प्रतिपादित पचीस तत्त्वों के व्यक्त तथा अव्यक्त भेद के द्वारा वैधर्म्य को दिखलाते हैं। 'व्यक्त' शब्द 'वि-विशेष या व्यक्तौ' धातु में 'अनज्' (स्पष्ट करना) प्रत्यय लगाने से बनता है। (व्यक्त-त्रि०, वि–अनज्–क्तः। स्फुटे, प्रकाशिते, दृश्ये, स्थूले। शब्दस्तोम) अंग्रेजी में व्यक्त के लिये उपयुक्त प्रतिशब्द श्री कोलेब्रुक ने 'Discrete' दिया है। 'डिस्क्रीट' शब्द अंग्रेजी में उसके लिये व्यवहृत होता है, जो कारणों से निकला हो और जिसकी पृथक् एवं विशिष्ट सत्ता हो। (Detached from its cause and having a separate & distinct existence)

ऊपर की कारिका में व्यक्त का प्रथम लक्षण 'हेतुमत्' अर्थात् जो कारणों-वाला या जो कारणों से उत्पन्न हो (कार्य या विकृति हो), वह 'व्यक्त' कहलाता है; जैसे—सांख्य के पचीस तत्त्वों में महत्तत्त्व से लेकर भूतों तक तेईस तत्त्व कारण वाले हैं अर्थात् विकृत है, अतः ये व्यक्त हैं। व्यक्त के अन्य लक्षण निम्न हैं—अनित्य अर्थात् अस्थायी (Temporary), उत्पत्ति विनाशशाली, सादि और सान्त, अव्यापी अर्थात् जो सर्वत्र व्याप्त न हो (Unpervading), सक्रिय—क्रियावाला (Mutable or Movable), अनेकाश्रित—अनेक व्यक्ति तथा विषयों में पाये जानेवाला (Multitudinious), लिङ्ग—लिङ्ग अर्थात् चिह्नों वाला (Supporting), सावयव—अवयवोंवाला और परतन्त्र—दूसरे के अधीन (Governed)। उक्त महत्तत्त्व से लेकर भूतों तक तेईस तत्त्व अनित्य हैं, क्योंकि ये उत्पन्न (कारण से कार्य में अभिव्यक्त होने वाले) तथा

विनाशशील (कारण में लय होनेवाले) हैं। अतः सादि और सान्त भी हैं। ये अव्यापी हैं अर्थात् जिस प्रकार प्रधान और पुरुष सर्वगत एवं सर्वव्यापी है, वैसे ही उक्त तेईस तत्त्व सर्वव्यापी नहीं हैं। ये तेईस तत्त्व सक्रिय भी हैं; क्योंकि ये संसार के साथ सदा परिवर्त्तित होते रहते हैं। ये अनेक हैं जैसे—बुद्धि, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्रा और पञ्च महाभूत, ये लिङ्ग वाले हैं और लिङ्ग लययुक्त होता है। ये लय काल में अपने-अपने कारणों में लय हो जाते हैं, अतः ये लययुक्त होने से लिङ्गवाले कहलाते हैं। ये सावयव—अवयवों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) के साथ हैं। ये परतन्त्र भी हैं अर्थात् स्वयंभू नहीं हैं, दूसरे के अधीन रहते हैं। ठीक इनसे विपरीत लक्षणवाला 'अव्यक्त' (प्रधान या प्रकृति) होता है। अव्यक्त (प्रकृति) का कोई कारण अर्थात् उत्पन्न करने-वाला नहीं होता, किन्तु यह सबका कारण होता है। यह उत्पत्ति तथा विनाश से रहित अनादि और अनन्त होता है, अतः नित्य है। सर्वगत तथा विभु होने से व्यापी है।

पचीस तत्त्वों का निम्न प्रकार विभाग किया गया है—

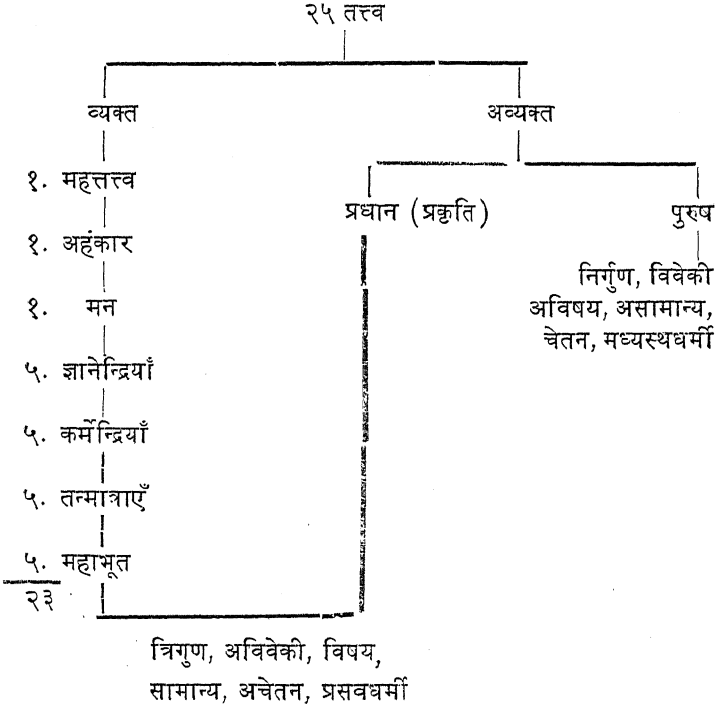

यह निष्क्रिय, एक तथा लिङ्ग रहित एवं निरवयव और स्वतन्त्र है। परन्तु व्यक्त (उक्त तेईस तत्त्व) तथा प्रधान (अव्यक्त या प्रकृति) दानों ही त्रिगुण, (सत्त्व-रज-तम) तीन गुणवाला है। पुरुष का उपभोज्य होने से ये दोनों (व्यक्त तथा अव्यक्त) विषय हैं। सर्वसाधारण का सामान्य अधिकार होने से ये सामान्य कहे गये हैं। ये दोनों अचेतन (जड़) और प्रसवधर्मी (बुद्धि-अहंकार आदि को उत्पन्न करने के कारण) हैं। पुरुष ठीक इसके विपरीत अर्थात् निर्गुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन तथा मध्यस्थधर्मी हैं।

प्रकृति-पुरुष का साधर्म्य-वैधर्म्य

"अत ऊर्ध्वं प्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यवैधर्म्ये व्याख्यास्यामः। तद्यथा—उभावप्यनादी उभावप्यनन्तौ उभावप्यलिङ्गौ उभावपिनित्यौ उभावप्यपरौ उभौ च सर्वगतौ इति। एका तु प्रकृतिचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिणी अमध्यस्थधर्मिणी चेति। बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणाः अबीजधर्माणोऽप्रसव धर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति।" —सु० शा० १

अथ इत्यादि। प्रकृतिरव्यक्तं, पुरुषः आत्मा, साधर्म्यं समानो धर्मः, वैधर्म्यं विसदृशो धर्मः, ते व्याख्यास्यामः-कथयिष्यामः। उभावप्यलिङ्गौ इति—न विद्यते लिङ्गं ययोस्तावलिङ्गौ, नित्याविति—उभावपि लयं क्वचिदपि न गच्छत इत्यर्थः। न विद्यते परो याभ्यां तौ अपरौ, यतस्तावेव प्रकृतिपुरुषौ महदादिभ्यः परौ। सर्वगतौ सर्वं व्याप्य स्थितौ। साधर्म्यमुक्त्वा वैधर्म्यमाह एकेत्यादि। तयोर्मध्ये एका प्रकृतिरव्यक्तापर पर्याया, सा च त्रिगुणा सत्त्वरजस्तमोगुणाः। तेषां गुणानां साम्यावस्थायां स्थिता सर्वेषां महदादि विकाराणां बीजभावेनावस्थिता बीजधर्मिणीत्युच्यते। गयी तु—संहारे भूतेन्द्रिय तन्मात्राहंकार महदादिनामाधारभूतेति बीजधर्मिणी। सैव सिसृक्षुणां विभूनां पुरुषेण सार्धं क्षोभमागम्य साम्यावस्थातः प्रच्युता महदहंकारादिक्रमेण चराचरस्य जगतः प्रसवित्रीत्वात् प्रसवधर्मिणीत्युच्यते। अमध्यस्थधर्मिणीति सत्त्वादिगुणराशितया सुखादिरूपत्वात्। सुखी हि सुखमभिलिप्सन् दुखी दुःखं विद्विषन् अमध्यस्थो भवति। प्रकृतिश्च सत्त्वादिरूपा ततो न मध्यस्था। बहव इति युगपन्मरणासंभवादनेक पुरुषाः; पुरुषशब्देन महदादिकृतं सूक्ष्मं लिङ्गशरीरमुच्यते, तच्च योगीनामेव दृश्यं, तत्र पुरौ शेरते इति पुरुषाः। अगुणा इति अविद्यमान सत्त्वादि गुणाः। अबीजधर्माणो इति महदादीनां महाप्रलये प्रकृताविव तेषु अनवस्थानात्। मध्यस्थ धर्माण इति प्रत्यप्रीतिविषादायोगेनेच्छा द्वेषशून्यत्वात्। तदुक्तं सांख्ये—

तस्मात्तु विपर्ययासात् सिद्धं साक्षित्वमस्यपुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥

—डल्हन

भावार्थ––प्रकृति-पुरुष का साधर्म्य-वैधर्म्य कहते हैं। समान धर्म को साधर्म्य और विसदृश (असमान) धर्म को वैधर्म्य कहते हैं। जैसे दोनों ही (प्रकृति-पुरुष) अनादि (आदिरहित) और अनन्त (अन्तरहित) हैं। दोनों ही अलिङ्ग (लिङ्गरहित) और नित्य (लय को कभी नहीं प्राप्त होनेवाले) हैं। दोनों ही अपर (इन दोनों के परे कोई पदार्थ नहीं है।) हैं। दोनों ही सर्वगत (सर्वव्यापी या विभु) हैं। प्रकृति एक और अचेतन है। यह त्रिगुणा (सत्त्व-रज और तम गुणवाली), बीजधर्मिणी (महदादि विकारों को बीज रूप में धारण करनेवाली) और प्रसवधर्मिणी (महदादि विकारों को उत्पन्न करनेवाली) है। यह अमध्यस्थ धर्मा (सत्त्वादि गुणों के प्रभाव में आनेवाली) है। पुरुष अनेक, चेतन तथा गुणों से रहित, अबीजधर्मी और मध्यस्थधर्मी है।

वक्तव्य––"उभावप्यनादी"––नास्ति आदिकारणं पूर्वकालो वा यस्य स अनादिस्तयोः––अर्थात् जिसकी आदि (कारण या पूर्वकाल) न हो, उसे अनादि कहते हैं। आदि शब्द का अर्थ यहाँ कारण है। प्रकृति तथा पुरुष दोनों अकारण अर्थात् कारणरहित हैं। इनका कोई उत्पादक नहीं है, इसीसे इन्हें सर्वत्र अकारण तथा अविकृति विशेषण दिया गया है। जैसे "मूलप्रकृतिरविकृतिः", "न विकृतिः पुरुषः" (सांख्यकारिका)। इस प्रकार इनका कोई कारण न होने से ये अनादि कहे गये हैं। यह अनादित्व प्रकृति तथा पुरुष में समानरूप से है, अतः यह इनका साधर्म्य कहा गया है। चरक में प्रकृति और पुरुष के अनादित्व के सम्बन्ध में लिखा है कि आत्मा अनादि है, इसमें कोई सन्देह नहीं है और क्षेत्र परम्परा भी अनादि है। अतः दोनों ही अनादि होने के कारण इनके अनादित्व में तरतम भेद नहीं किया जा सकता। "आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम्। अतस्तयोरनादित्वात् किं पूर्वमिति नोच्यते।" (च० शा० १) इसी प्रकार ये दोनों अनन्त भी हैं। अनन्तौ––अन्तो नास्ति यस्य सोऽनन्तस्तौ। अर्थात् जिसका अन्त न हो।

भाष्यकार ने इसकी व्याख्या निम्न प्रकार की है––"अन्तः परिच्छेदः देशतः कालतः वस्तुतश्च यस्य नास्ति सोऽनन्तः" अर्थात् देश काल तथा वस्तु से जिसका परिच्छेद न हो, उसे अनन्त कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो असीम हो उसे अनन्त कहते हैं। अन्त शब्द सीमा तथा नाश दोनों अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ दोनों ही अर्थ उपयुक्त हैं, क्योंकि इन (प्रकृति और पुरुष) की न कोई सीमा है और न नाश ही इनका होता है। इस प्रकार यह अनन्त तीन प्रकार का कहा गया है। जैसे––"न व्यापित्वात् देशतोऽतो नित्यत्वान्नापि कालतः। न वस्तुतोऽपि सर्वात्म्यादानन्त्यंत्रह्मणित्रिधा॥" "अलिङ्गौ––न विद्यते लिङ्गं यस्य तदलिङ्गम्। लिङ्गयतेऽनेनेति लिङ्गम् आकाशे लक्षणं वा।" लिङ्गग्राहिता

व्यक्त का लक्षण है, इसलिये अलिङ्ग से अव्यक्त का बोध होता है। अथवा—"लिङ्गं लययुक्तं-लयकाले पंचमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते तानि एकादशेन्द्रियैः सह अहंकारे, स च बुद्धौ, सा च प्रधाने लयं यातीति। नैवं प्रधानं तस्मादलिङ्गं प्रधानम्।" (गौड़पादाचार्य)। अर्थात् जिनका लय नहीं होता उस प्रकार का किंवा "कारणानुमापकत्वात् लयगमनाद्वा लिङ्गं कार्यं जातम्" (सां० प्र० भाष्य), इससे जो कार्य जात नहीं होता वह अलिङ्ग है। तीनों दृष्टि से लिङ्ग के वास्तविक अर्थ में अन्तर नहीं होता। "अपरौ—न विद्यते परः श्रेष्ठः सूक्ष्मो वा यस्मात् तौ।" अर्थात् जिससे कोई श्रेष्ठ या सूक्ष्म न हो किंवा "न हि प्रधानात् किंचिदस्ति परं यस्य प्रधानकार्यं स्यात्" (गौड़पादाचार्य)। "सर्वगतौ—सर्वव्यापी, सर्वमूर्त संयोगी या विभु।" इसके बाद प्रकृति और पुरुष का वैधर्म्य कहते हैं। "एका तु प्रकृतिः"—प्रकृति एक है। "सर्वपुरुषसाधारणा" अर्थात् पुरुष के असंख्य भेद होने पर भी प्रकृति एक ही भिन्न रूप से रहती है। "त्रिगुणा—सत्त्वरजस्तमात्मका" ये तीनों गुण साम्यावस्था में तथा अकार्यावस्था में प्रकृति में सदा उपस्थित रहते हैं। "सत्त्वंरजस्तम इति प्राकृतं तु गुणत्रयम्। एतन्मयी च प्रकृति अकार्यावस्थो गुणसामान्यं प्रकृतिरित्यर्थः। (सां० प्र० भाष्य)

बीजधर्मिणी—'बीजस्य धर्मो बीजधर्मः, सोऽस्यास्तीति बीजधर्मिणी' अर्थात् बीज में जैसे वृक्षोत्पत्ति का धर्म होता है, वैसे ही सर्गोत्पत्ति का धर्म जिसमें उपस्थित हो, ऐसी। दृश्य सृष्टि को कई बार फल-फूल से लदे हुए वृक्ष की उपमा दी जाती है और इस सृष्टि का रूप ब्रह्मवृक्ष का वर्णन सांख्य तत्त्वों के अनुसार करते हैं। तब प्रकृति को बीज ही कहते हैं। जैसे—

अव्यक्तबीज प्रभवो बुद्धिस्कन्धमयोमहान्।
महाहंकार विटपः इन्द्रियान्तर कोटरः॥
महाभूत विशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान्।
सदा पर्णः सदापुष्पः शुभाशुभ फलोदयः॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्ष सनातनः।

—महाभारत

प्रसवधर्मिणी—'प्रसवोऽन्याविर्भावहेतुत्त्वं परिणामो वा तद् रूपोधर्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मिणी', अर्थात् महदादितत्त्वों की तथा समस्त चराचर सृष्टि को जन्म देने का धर्म जिसमें उपस्थित हो, ऐसी। अमध्यस्थ-धर्मिणी—'अमध्यस्थ धर्मो यः सोऽस्यास्तीति अमध्यस्थधर्मिणी', अर्थात् सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से विचलित होने का धर्म जिसमें हो, ऐसी। अर्थात् सुख-दुःख भोगनेवाली, ये असमान धर्म अर्थात् पुरुष से विरुद्ध धर्म (वैधर्म्य) प्रकृति में होते हैं।

अब पुरुष के उन धर्मों का वर्णन करते हैं, जो प्रकृति में नहीं है अथवा उसके विपरीत है। बहवः—सांख्य-शास्त्रानुसार पुरुष अनेक होते हैं और उनके बहुत्व में निम्न प्रमाण दिये गये हैं। जैसे—(१) यदि पुरुष एक होता तो सबका जन्म एक समय में होना चाहिये, और सबकी मृत्यु भी एक समय में होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः प्रत्येक शरीर में पुरुष पृथक्-पृथक् होना चाहिये। (२) एक धर्म में, एक अधर्म में, एक ज्ञान में, एक अज्ञान में, एक वैराग्य में और एक विषय में प्रवृत्त होता है। इस तरह प्रत्येक में स्वतन्त्र प्रवृत्ति होती है। इसलिये प्रत्येक शरीर में स्वतन्त्र पुरुष है। (३) कुछ सात्त्विक, कुछ राजस और कुछ तामस होते हैं तथा कुछ देवयोनि में, कुछ मनुष्ययोनि में और कुछ तिर्यग्योनि में जन्म लेते हैं। अतः प्रत्येक शरीर में पुरुष स्वतंत्र है। सांख्य-कारिका १८ में ये तीनों प्रमाण दिये गये हैं। 'अबीजधर्माणः अप्रसवधर्माणः'—समस्त संसार प्रकृति के पर्याय से त्रिगुणों का खेल है। पुरुष त्रिगुणातीत या निर्गुण होते हैं, अतः न वे प्रसवधर्मी और न बीजधर्मी हो सकते हैं। 'मध्यस्थ-धर्माणः'—सुखदुःखादि द्वन्द्वों से मध्यस्थ के समान विचलित न होनेवाला, इस प्रकार का धर्म जिसमें है, उसे मध्यस्थ धर्मवाला कहते हैं। इस पर कोई विकार नहीं होता, इसीलिये इसे निर्विकार भी कहते हैं। बन्ध, मोक्ष, सुख, दुःख आदि विकार प्रकृति के हैं, पुरुष इनसे अलिप्त रहता है। इसी से कहा है—"तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः"। चरक ने भी इसका समर्थन "निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः। चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः" (शा० १) इस पद के द्वारा किया है। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—"द्रष्टा-साक्षी, तेन यतिर्यथा परमशान्तः साक्षी सन् जगतः क्रियाः सर्वाः पश्यन् न रागद्वेषादिना युज्यते, तथा आत्माऽपि सुखदुःखाद्युपलभ्यमानोऽपि न रागादिना युज्यते; दृश्यमान रागादिविकारस्तु मनसि प्राकृतबुद्धौ वा सांख्य-दर्शनपरिग्रहाद् भवतीति भावः।" इस तरह पुरुष अकर्ता होने पर भी व्यवहार में वही कर्ता-भोक्ता कहलाता है। इसका समाधान यह है कि जैसे रक्तपुष्प की सन्निधि से श्वेत आदर्श में रक्तिमा आ जाती है, चुम्बक की सन्निधि से लोहे में चुम्बकत्व आ जाता है, वैसे ही कर्तृ प्रकृति की सान्निध्य से पुरुष में भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व आरोपित होता है।

"यथा हि महाराजः स्वयमव्याप्रियमानेऽपि सैन्येन करणेन योद्धा भवति आज्ञामात्रेण प्रेरकत्वात्, तथा कूटस्थोऽपि पुरुषश्चक्षुराद्यखिलकरणैर्द्रष्टा वक्ता संकल्पयिताचेत्येवमादिर्भवति। संयोगाख्य-सान्निध्यमात्रेणैव तेषां प्रेरकत्वात् अयस्कान्त मणिवत् इति। अतः आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वञ्च संस्थितम्।

निरिच्छत्वादतोऽसौ कर्ता सान्निधिमात्रतः यथाह केवलो रक्तःस्फटिकः लक्ष्यते जनैः। रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत् परं पुरुषः॥" ——सां० प्र० भाष्य

तन्मात्राओं का निरूपण

"स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य।" ——सां० द० १।६२

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पंचपंचभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ताः घोराश्च मूढाश्च॥

——सा० का० ३८

शब्दादि तन्मात्राणि सूक्ष्माणि, न चैषां शान्तत्वादिरस्त्युपभोगयोग्यो विशेष इति मात्र शब्दार्थः। तन्मात्राणित्वस्मदादिभिः परस्परव्यावृतानि नानुभूयन्ते इति "अविशेषाः", इति 'सूक्ष्माः' इति चोच्यन्ते। अविशेषान् उक्त्वा विशेषान् वक्तुमुत्पत्तिमेषामाह——तेभ्यः——तन्मात्रेभ्यो यथासंख्यं एकद्वित्रिचतुः पंचभ्यो भूतानि——आकाशानिलानलसलिलावनि रूपाणि पंच। पंचभ्यः——तन्मात्रेभ्योऽस्त्वेषांभूतानामुत्पत्तिः, विशेषत्वे किमायतम्? इत्यत आह——"एते स्मृताः विशेषाः" इति कुतः? "शान्ता : घोराश्च मूढाश्च।" चकार एको हेतौ; द्वितीयः समुच्चये। यस्मादाकाशादिषु स्थूलेषु सत्त्वप्रधानतया केचिच्छान्ताः——सुखाः-प्रसन्नाः-लघवः, केचिद्रजः प्रधानतया घोराः-दुखाः-अनवस्थिताः केचित्तमः प्रधानतया मूढाः-विपन्नाः-गुरवः। तेऽमी परस्परव्यावृताः अनुभूयमानाः 'विशेषाः' इति 'स्थूलाः' इति चोच्यन्ते। ——वाचस्पति मिश्र

स्थूल (पंचमहाभूतों) से पंचतन्मात्रा (सूक्ष्मभूतों) का अनुमान होता है। तात्पर्य यह कि जिन पदार्थों के गुण का बाह्येन्द्रिय द्वारा ज्ञान होता है, वह स्थूल होता है। जैसे——पंचमहाभूतों के (शब्दादि) गुणों का बाह्य-इन्द्रियों से ज्ञान होने के कारण उन्हें स्थूल कहते हैं। "सूक्ष्मभूतानां द्रव्याणां स्थूलभूतैरनुमानं भवति" किसी स्थूल (कार्य) द्रव्य को देखकर हम उसके सूक्ष्म (कारण) द्रव्य का अनुमान करते हैं, यह नियम है। इसी प्रकार स्थूल पञ्च-महाभूतों को देखकर उसके कारण——सूक्ष्मभूतों का अर्थात् पञ्चतन्मात्राओं का अनुमान करते हैं। ये तन्मात्राएँ भूतादि (तामसिक) अहंकार से तैजस् की सहायता से उत्पन्न होती हैं। शब्दादि का अमिश्रित——पृथक्-पृथक् सूक्ष्म मूलरूप या बीजरूप तन्मात्रा कहलाती है। आपस में इनके पार्थक्य (जैसे——शब्दतन्मात्रा से रूपतन्मात्रा) का बाह्य इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जा सकता। ये तन्मात्राएँ अविशेष कहे जाते हैं। (देखिये ऊपर की कारिका)। इस कारिका की टीका में, जो ऊपर उद्धृत किया गया है, वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि ये शब्दादि-न्मात्राएँ सूक्ष्म हैं, क्योंकि इनमें शान्तत्वादि उपभोग्य विशेष नहीं है। इसलिये

ये अविशेष तन्मात्र शब्द से कहे गये हैं। ये तन्मात्राएँ अलग-अलग (व्यावृत) अनुभव नहीं किये जा सकते, इसी से इन्हें अविशेष या सूक्ष्म कहते हैं। गौड़पाद ने इसे और स्पष्ट किया है।

"यानि पञ्चतन्मात्राणि—अहंकारादुत्पद्यन्ते ते शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं एतानि अविशेषा उच्यन्ते। देवानामेते सुख लक्षण विषयाः दुःखमोहरहितास्तेभ्यः पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसंज्ञानि यान्युत्पद्यन्ते। एते स्मृताः विशेषाः एते विषयाः मनुष्याणां विषयाः। शान्ताः सुखलक्षणाः घोराः दुःखलक्षणाः मूढ़ाः मोहजनकाः, यथा आकाशं कस्यचिदनवकाशादन्तर्गृहादेर्निर्गतस्य सुखात्मकं शान्तं भवति तदेव शीतोष्णवातवर्षाभिभूतस्य दुःखात्मकं घोरं भवति। तदेव पन्थानं गच्छतो वनमार्गाद् भ्रष्टस्य दिङ्मोहान्मूढ़ं भवतीत्यादि।"

"नाऽवस्तुनोवस्तु सिद्धिः" इत्यादि।

अर्थात्—पञ्चतन्मात्राएँ, जो अहंकार से उत्पन्न होती हैं, ये हैं—शब्द-तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा। इन्हें अविशेष कहा गया है। ये देवताओं के लिये सुख देनेवाले विषय हैं। इस प्रकार दुःख और मोह से रहित उन पञ्चतन्मात्राओं से पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है, जिन्हें विशेष कहते हैं। ये मनुष्यों के उपभोग के विषय हैं और ये सुख, दुःख तथा मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं। जैसे—आकाश किसी ऐसे मनुष्य के लिये, जो खुला मैदान न मिलने के कारण घर में बन्द हो, सुख देनेवाला होता है और वही आकाश शीत, वात, वर्षा तथा आतप से पीड़ितों के लिये दुखद होता है। इसी प्रकार जङ्गल में जाते हुए मनुष्य के लिये दिग्भ्रम-मोह को उत्पन्न कर देता है इत्यादि।

सांख्यानुमत तन्मात्रा और वैशेषिकानुमत परमाणुओं का अभेद

सांख्य तथा वैशेषिक दोनों के अनुसार यह जगत् भौतिक है अर्थात्—पञ्च-महाभूतों से बना हुआ है। संसार के निर्माण में ये पञ्चमहाभूत अपने सूक्ष्म-रूप से ही परस्पर सम्मिलित होते हैं और उन सूक्ष्मभूतों के तरतमांश से ही नाना प्रकार के द्रव्यों से भरा यह संसार निर्मित होता है। यदि हम संसार के विविध द्रव्यों की बनावट पर ध्यान दें और इनके रहस्य का पता लगावें तो अन्त में एक ही तथ्य मालूम होगा कि इन द्रव्यों के उत्पादक कोई परम सूक्ष्म द्रव्य हैं। सांख्य के अनुसार इस भौतिक-जगत् का कारण पञ्चमहाभूत है जो पञ्चतन्मात्राओं से उत्पन्न होता है। पञ्चतन्मात्राएँ पञ्चमहाभूतों के ही सूक्ष्मरूप हैं जो दृष्टिगोचर नहीं हो सकतीं अर्थात् अतीन्द्रिय हैं। किसी कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति

में उक्त पञ्चमहाभूत अपने सूक्ष्मरूप (तन्मात्रा) के तरतमांश से ही मिलते हैं, जैसे—पार्थिव-द्रव्य की उत्पत्ति में पृथ्वी के सूक्ष्मभूत—गन्धतन्मात्रा, अन्य सूक्ष्म-भूतों की अपेक्षा अधिक होती है। इसी प्रकार आप्य द्रव्यों में अप् के सूक्ष्मभूत—रसतन्मात्रा और तैजस-द्रव्य में तेज के सूक्ष्मभूत—रूपतन्मात्रा, वायवीय-द्रव्य में वायु के सूक्ष्मभूत—स्पर्शतन्मात्रा और तामस-द्रव्य में आकाश के सूक्ष्मभूत—शब्द-तन्मात्रा—अन्यभूतों की अपेक्षा अधिक होती है। वैशेषिक—सृष्टि की उत्पत्ति में नौ नित्य कारण-द्रव्यों का उल्लेख करते हैं; जिनमें इन भौतिक जड़-जगत् की उत्पत्ति पंचमहाभूतों से मानते हैं। इन पंचमहाभूतों में पृथ्वी, अप्, तेज और वायु अपने सूक्ष्मरूप अर्थात् परमाणु रूप से संसार की उत्पत्ति में कारण होते हैं। ये परमाणु भी परमसूक्ष्म—अतीन्द्रिय और निरवयवद्रव्य हैं, जो पहले परमाणु-विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी प्रकार सांख्यानुमत जगत् का कारण-द्रव्य परमसूक्ष्म–अतीन्द्रिय तन्मात्रा तथा वैशेषिकानुमत जगत् का कारण-द्रव्य परमसूक्ष्म–अतीन्द्रिय, परमाणु ये दोनों एक ही पदार्थ हैं, इनमें कोई भेद नहीं है। (विशेष विवेचन जानने के लिये परमाणुवाद और प्रकृति का वर्णन देखें)।

सत्कार्यवाद

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥
—सां० का० ९

भावार्थ—"असदकरणात्"—अविद्यमानवस्तु कथमपि उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि कारण में कार्य की सत्ता नहीं होती तो कर्ता के कितने ही प्रयत्न करने पर वह कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। वाचस्पति मिश्र का यह कथन कि नीलवस्तु सहस्रों शिल्पियों के प्रयत्न करने पर भी किसी प्रकार पीतरंग की नहीं हो सकती; नितान्त युक्तियुक्त है। "उपादानग्रहणात्"—किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिये केवल विशिष्ट साधनों का उपयोग किया जाता है। दही चाहनेवाला दूध को ही ग्रहण करता है। तन्तुओं से ही कपड़ा बुना जाता है। इन व्यावहारिक दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि कार्य-कारण का सम्बन्ध नियत है। यदि ऐसा न होता तो कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न होता दिखाई देता, पर ऐसा नहीं होता है। "सर्वसम्भवाभावात्"—सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति कभी नहीं देखी गई यह भी कार्य-कारण के पूर्वस्थिति-सम्बन्ध का नियामक है। "शक्तस्य शक्यकरणात्"—शक्त अर्थात् शक्तिमान् शक्ति-सम्पन्न कारण से शक्यवस्तु की उत्पत्ति होते देख यही कहा जा सकता है कि कारण में कार्य की सत्ता अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है।

"कारणभावात्"—कार्य तथा कारण की एकता वास्तविक है। वस्तुतः कार्य और कारण एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। व्यक्त दशा का नाम कार्य और अव्यक्त दशा का नाम कारण है।

वक्तव्य—सांख्य का सिद्धान्त इस विषय में विलक्षण है। उसका कहना है कि उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य, कारण में अवश्यमेव अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। इस प्रकार कार्य तथा कारण में वस्तुतः अभिन्नता है। कार्य की अव्यक्तावस्था का ही नाम कारण है और कारण की अव्यक्तावस्था की ही संज्ञा कार्य है। इस प्रकार कार्य-कारण का भेद व्यावहारिक है, किन्तु अभेद तात्त्विक है। इस सिद्धांत को 'सत्कार्यवाद' या 'परिणामवाद' कहते हैं। इसी को 'कार्य-कारणवाद' भी कहते हैं। इसकी पुष्टि में सांख्यदर्शन में निम्न युक्तियाँ दी गई हैं। जैसे—नासदुत्पादो नृश्रृङ्गवत् (सां० द० ११४)। अर्थात्—असत् की उत्पत्ति उसी प्रकार नहीं होती है, जैसे—मनुष्यों के सिर में सींग नहीं होते। "उपादाननियमात्" (सां० द० ११५)—उपादान-कारण के नियम से असत् कार्य की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् सत् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति का नाम उपादान-नियम है। जैसे—भावरूप तन्तुओं से भावरूप पट की उत्पत्ति, मिट्टी से घट की उत्पत्ति इत्यादि।

"सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्" (सां० द० १।११६) अर्थात् सब काल में प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति होना असम्भव है। इसलिये कार्य को असत् कहना ठीक नहीं। 'शक्तस्य शक्य करणात्' तथा 'कारण भावाच्च'। इसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। संसार के प्रतिदिन का अनुभव इसी सिद्धांत को पुष्ट करता है। इन सब प्रमाणों के आधार पर हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि कारण-व्यापार के पहले भी कारण में कार्य की सत्ता रहती है। इसी कारण सांख्य के मत से न तो किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है और न विनाश। कर्तृ व्यापार से वस्तु का आविर्भाव मात्र होता है। अव्यक्त वस्तु व्यक्तरूप को धारण करती है। व्यापार के विराम होने पर वस्तु अव्यक्तावस्था को प्राप्त होकर स्थूल से सूक्ष्म में परिणत होती है। तात्पर्य यह कि सत्कार्यवाद के सिद्धान्तानुसार (सांख्यमतानुसार) इस संसार में सर्वथा नवीन द्रव्य न कोई उत्पन्न होता है न उसका सर्वथा विनाश ही होता है। द्रव्य की उत्पत्ति का अर्थ यह है कि जो द्रव्य पहले अव्यक्तावस्था में या अनुद्भूत था, वह व्यक्तावस्था में या उद्भूत हो गया है। विनाश का अर्थ आविर्भूत द्रव्य का तिरोभाव होता है। इसलिये भगवद्गीता में भी कहा है—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

उपनिषद् में भी कहा है—**"नाऽवस्तुनोवस्तु सिद्धिः।"**

ऋग्वेद में भी इसका समर्थन मिलता है—

"नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं, नासीद्रजो नो व्योमा परा यत् किमादीवः कुहकस्य शर्म्मन्नंभः किमासीद् वहवं गम्भीरम् ।" —१०।१०।१२९

छान्दोग्योपनिषद् में कहा है—

"स देव सौम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।"

निष्कर्ष यह निकला कि किसी भी वस्तु की वस्तुतः में उत्पत्ति तथा विनाश नहीं होता; उनके रूप के परिवर्तन (व्यक्त रूप होने) को ही उत्पत्ति और (अव्यक्त रूप होने को ही) विनाश शब्द से लोक में प्रसिद्धि होती है; जैसे कि गीता में कहा है—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राव्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके ।।

—भ० गी० ८।१८

सत्कार्यवाद के समर्थन में उक्त सांख्यकारिका की व्याख्या करते हुए श्री वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

"स्वात्मनि क्रिया निरोध बुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाव्यवस्थाभेदाश्च नैकान्तिकं भेदं साधयितुमर्हन्ति, एकस्मिन्नपि तत्तद्विशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामेतेषाम-विरोधात् । यथा हि कूर्मस्यांगानि कूर्मशरीरे निवेशमानानि तिरो भवन्ति, निस्सरन्ति चाविर्भवन्ति, नतु कूर्मस्तदंगान्युत्पद्यन्ते प्रध्वंसन्ते वा, एवमेकस्या मृदः सुवर्णस्य वा घटमुकुटादयो विशेषा निस्सरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते, निवेशमानाश्च तिरोभवन्तो विनश्यतीत्युच्यन्ते, न पुनरसतामुत्पादः सतां वा निरोधः, यथाह—भगवान् कृष्णद्वैपायनः—'नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः' इति । यथा कूर्मः स्वावयेभ्यः संकोचविकाशिभ्यो न भिन्न एवं घटमुकुटादयोऽपि मृत्सुवर्णादिभ्यो न भिन्नाः ।"

अर्थात्—एक वस्तु में उत्पत्ति तथा विनाश-क्रिया की बुद्धि के व्यपदेश का समर्थन होने से, जैसे यह तन्तु है, यह पट है, इस प्रकार तन्तु में पट-बुद्धि के व्यपदेश का सामर्थ्य होने से, ऐकान्तिक भेद की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि एक द्रव्य में उनकी विशेष अवस्था में आविर्भाव तथा तिरोभाव होने से उनमें वास्तविक अभेद है । जैसे कछुए का अङ्ग कछुए के शरीर में निवेश होने से छिप (तिरोभाव हो) जाता है और पुनः निकलने से वह (आविर्भाव) दिखने लगता है; न कि कछुआ उन अङ्गों को उत्पन्न तथा विध्वंस करता है, उसी प्रकार मिट्टी का घड़ा तथा सुवर्ण के मुकुट आदि का आविर्भाव उसकी उत्पत्ति का बोधक होता है और उसका निवेश अर्थात् घड़े का पुनः मिट्टी के रूप में हो जाना तथा मुकुट का पुनः स्वर्ण के रूप में हो जाना उनका

विनाश कहलाता है । इस व्यवस्था से असत् की उत्पत्ति तथा सत् का विनाश नहीं सिद्ध होता; क्योंकि जिस प्रकार कछुए का अङ्ग कछुए से भिन्न नहीं, उसी प्रकार घट तथा मुकुट मिट्टी तथा सुवर्ण से भिन्न नहीं है ।

बौद्धों का 'प्रतीत्य समुत्पाद' तथा 'शून्यवाद' भी इस विचार का समर्थन करता है। नागार्जुन ने कहा है कि "यः प्रतीत्य समुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।" इसीको सापेक्ष्यवाद भी कहा है। चन्द्रकीर्ति ने प्रतीत्य-समुत्पाद का अर्थ 'हेतु प्रत्यय सापेक्षो भावानामुत्पादः' (माध्यमिक कारिका) किया है।

जैनदर्शन 'अनेकान्तवादी' तथा 'स्याद्वादी' है। उनका कहना है कि यद्यपि जगत् में मूलभूत तत्त्व दो ही हैं—(१) जीव-चेतनात्मक और (२) अजीव-अचेतनात्मक, तथापि दोनों ही अपने-अपने स्वभाव में, गुणों में और पर्यायों में अनन्तता से सम्पन्न हैं। यही जैनदर्शन का 'अनेकान्तवाद' है। अनेकान्त सिद्धान्त ही 'स्याद्वाद' है। 'स्याद्वाद' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है—'स्याद' और 'वाद'। स्याद् एक अव्यय है जिसका अर्थ है 'कथंचित्'। स्याद्वाद में जो कुछ है वह निश्चित है। स्याद् का यहाँ अर्थ संशय नहीं। स्याद्वाद सापेक्ष्य कथन है।

सांख्यानुमत गुणनिरूपण (सत्त्व-रज-तम-निरूपण)

"प्रीत्यप्रीति विषादात्मकाः प्रकाश प्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभावाश्रय जनन मिथुन वृत्तयश्च गुणाः ॥
सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥

—सांख्य का० १२।१३

अर्थ—गुण अर्थात् सत्त्व, रज और तम, ये तीनों गुण क्रमशः प्रीत्यात्मक, सुखात्मक, अप्रीत्यात्मक, दुःखात्मक, विषादात्मक और मोहात्मक हैं। ये क्रमशः प्रकाश, प्रकृति और नियम के लिये हैं। ये अन्योन्याभिभव अर्थात् परस्पर एक दूसरे के धर्म से अभिभूत होते रहते हैं, अन्योन्याश्रय अर्थात् एक दूसरे पर आश्रित हैं, अन्योन्यजनन अर्थात् एक दूसरे को उत्पन्न करनेवाले हैं, अन्योन्य मिथुन अर्थात् एक दूसरे से मिलकर रहनेवाले हैं और अन्योन्य वृत्ति अर्थात् एक दूसरे में रहनेवाले हैं। 'सत्त्व' लघु अर्थात् (अङ्गों में) लघुत्व को उत्पन्न करनेवाला प्रकाशक अर्थात् बुद्धि को प्रकाशित करनेवाला है। 'रज' उपष्टंभक अर्थात् संघर्ष या उत्तेजना पैदा करनेवाला और चल अर्थात् गतिशील या गति को उत्पन्न करनेवाला है। 'तम' गुरु अर्थात् गुरुत्व उत्पन्न करनेवाला और वरणक अर्थात् आवरण करनेवाला है। प्रदीप के समान मिलकर ये अपने गुण को प्रकट करते हैं।

भाष्य—'प्रीत्यात्मकं'—सत्त्वं प्रीत्यात्मकं, प्रीतिः सुखं तदात्मकमिति। अप्रीत्यात्मकं रजः। विषादात्मकं तमः। विषादो मोहः। प्रकाशार्थं सत्त्वं-प्रकाशसमर्थमित्यर्थः। प्रत्यर्थः। प्रवृत्यर्थं रजो, नियमार्थं तमः स्थितौसमर्थमित्यर्थः। प्रकाश-क्रिया-स्थितिशीला गुणा इति। —गौड़पाद

सत्त्वगुण सुखात्मक, रजोगुण दुःखात्मक तथा तमोगुण मोहात्मक होता है। 'सत्त्व' में प्रकाश का, 'रज' में प्रवृत्ति का और 'तम' में नियम का सामर्थ्य है। ये गुण क्रमशः प्रकाश, क्रिया और स्थितिशील हैं।

अन्योन्याभिभव इति। अन्योन्यं परस्परमभिभवतीति प्रीत्यप्रीत्यादिभि-धर्मैरभिभवति। यथा—यदा सत्त्वमुत्कटं भवति तदा रजस्तमसी अभिभूय स्वगुणैः प्रीतिप्रकाशात्मकेन अवतिष्ठते, यदा रजस्तदा सत्त्वतमसी अप्रीतिप्रवृत्ति-धर्मेण, यदा तमस्तदा सत्त्वरजसी विषादस्थित्यात्मकेन इति। तथा अन्योन्या-श्रयाश्च द्व्यणुकवद्गुणाः अन्योन्यजननाः यथा—मृत्पिण्डो घटं जनयति। अन्योन्य-मिथुनाश्च यथा-स्त्रीपुंसौ अन्योन्यमिथुनौ तथा गुणः। उक्तञ्च—

रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः।
उभयोः सत्त्वरजसोः मिथुनं तम उच्यते॥

परस्परसहाया इत्यर्थः। अन्योन्यवृत्तयश्च परस्परं वर्तन्ते गुणाः गुणिषु वर्तन्त इति वचनात्।

अर्थात्—ये तीनों गुण परस्पर एक दूसरे के धर्म से पराजित होते रहते हैं, जैसे—जब सत्त्व उत्कृष्ट होता है, तब रज और तम, सत्त्व के प्रीति और प्रकाश-धर्म से दब जाते हैं। इसी प्रकार जब रज उत्कट होता है, तब सत्त्व और तम, रज के अप्रीति और प्रवृत्ति-धर्म से तथा जब तम उत्कट होता है तब सत्त्व और रज, तम के विषाद और स्थित्यात्मक धर्म से दब जाते हैं। ये एक दूसरे पर द्व्यणुक आदि की तरह आश्रित रहते हैं। ये एक दूसरे के मृत्पिण्ड से घट के समान उत्पादक हैं। ये परस्पर स्त्री-पुरुष के समान मिले रहते हैं अर्थात् एक दूसरे के सहायक होते हैं। ये एक दूसरे में रहनेवाले हैं क्योंकि गुण गुणी में रहता है, ऐसा वचन है। सत्त्व जब उत्कट होता है तब अङ्गों में लघुता उत्पन्न करता और बुद्धि को प्रकाशित करता है और रज जब उत्कट होता है तो संघर्ष-प्रवृत्ति उत्पन्न करता है, जैसे वृषभ को देखकर वृषभ उत्तेजित होता है। रज चल अर्थात् गति को उत्पन्न करनेवाला है। तम गुरुत्व तथा रुकावट उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—जगत् के समस्त पदार्थ सुख, दुःख और मोहात्मक हैं। सुन्दर रमणी पति के हृदय में आनन्दोल्लास प्रकट करती है, उसकी अप्राप्ति से व्यथित कामीजनों के हृदय को कभी दुःख की आग में जलाती है और कभी मोह के अन्धकार में निमग्न कर देती है। आशय यह है कि एक ही वस्तु इन परस्पर विरुद्ध

त्रिविध विशेषताओं को भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न किया करती है। इन तीनों को 'गुण' कहते हैं। नाम सामान्य होने पर भी सांख्याभिमत गुण (सत्त्व, रज, तम) वैशेषिक कल्पना के अनुसार गुण नहीं हैं, प्रत्युत संयोग-विभाग शाली और लघुत्वादि धर्मयुक्त होने से द्रव्यरूप है। वाचस्पति मिश्र के मत से इन्हें गुण कहने का अभिप्राय यही है कि ये तीनों प्रकृति के स्वरूप विधायक अङ्गरूप हैं और पुरुष के अर्थ को सिद्ध करनेवाले हैं (परार्थाः गुणाः, सां० त० कौ० १२) गुण का अर्थ रस्सी भी है अतः विज्ञानभिक्षु के अनुसार पुरुष को बन्धन में डालने-वाले त्रिगुणात्मक महत्तत्वादि के निर्माता होने से इन्हें गुण कहते हैं (सां० प्र० भाष्य)। गुण तीन प्रकार के होते हैं—सत्त्व, रज और तम। सत्त्वगुण प्रीतिरूप लघु और प्रकाशक होता है। रज दुःखात्मक, चंचल और कार्य में प्रवर्तक होता है। तमोगुण मोहरूप, भारी और रोकनेवाला होता है। इस प्रकार परस्पर भिन्न स्वभाव होने पर भी पुरुष के लिये इनकी वृत्ति प्रदीप के समान अनुकूल (एकाकार) होती है। गुणों का स्वभाव चलनात्मक हैं, अतः व्यक्तावस्था या अव्यक्तावस्था उभय दशा में ये परिणामशील हैं। प्रकृति अवस्था में इनमें पारस्परिक संयोग नहीं रहता, क्योंकि उस समय में वे अपने विशुद्ध रूप में अवस्थान करते हैं। इस दशा में भी परिणाम होता है, जिसे 'सदृश परिणाम' कहते हैं। (सत्त्वं सत्त्वंतया परिणमति, रजः रजस्तया, तमश्च तमस्तया)। सृष्टि दशा में गुणपरिणाम को नहीं प्रत्युत् विकार को उत्पन्न करते हैं। विकार परिणाम हो सकता है पर परिणाम विकार नहीं हो सकता। समान भाव से परिवर्तन परिणाम है परन्तु वैषम्यरूपेण परिवर्तन विकार है। गुण इन्द्रियातीत हैं, उनका रूप कभी अनुभव का विषय नहीं हो सकता। क्षित्यादि तद्विकार ही दृष्टिगोचर होते हैं जो वेदान्तानुसार मायिक और तुच्छ हैं।

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥

—षष्ठितन्त्र

इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम 'प्रकृति' है। बौद्धों के समान सांख्य-सिद्धान्त भी परिणाम-नित्यता को स्वीकार करता है। प्रकृति नित्य परिणामशालिनी है। जगत् के समस्त पदार्थ प्रतिक्षण में परिवर्तित होते रहते हैं। परन्तु यह परिणाम ऐकान्तिक नहीं है, क्योंकि अवस्था परिवर्तित होने पर भी ये गुण अनुस्यूत रूप से विद्यमान रहते हैं। प्रकृति जब गुण साम्य के कारण अव्यक्त रूप में रहती है, तब प्रलय होता है। गुण-विषमता के कारण सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रलयावस्था में भी प्रकृति परिणामशालिनी होती है। अंतर इतना ही होता है कि उस समय का परिणाम भिन्न वस्तुओं को पैदा न कर अपने

को ही प्रकट किया करता है। इसी को सजातीय या 'स्वरूप परिणाम' कहते हैं। इस प्रकार भौतिक-जगत् के विषय में सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है कि 'चिति-शक्ति' को छोड़कर समस्त पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। "प्रतिक्षण परिणामितो हि सर्वं एव भावाः ऋते चितिशक्तेः" (सां० त० कौ०)। भगवान् कृष्ण-द्वैपायन ने भी भगवद्गीता में उक्त तीनों गुणों का बहुत सुन्दर वर्णन किया है।

यथा—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुख संगेन बध्नाति ज्ञान संगेन चानघ ॥
रजो रागात्मकंविद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवाम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्म संगेन देहिनाम् ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्व देहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तान्निबध्नाति भारत ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥

—भगवद्गीता १४

सत्त्वादि गुणों में अविवेकित्व आदि की सिद्धि और उनके लिये प्रधान की सिद्धि—

अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्र्यैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात् ।
कारण गुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥

—सां० का० १४

अर्थ—सत्त्वादि गुण अविवेकित्व, विषयत्व और अचेतनत्व धर्मवाले हैं; क्योंकि ये त्रिगुण हैं। जो-जो त्रिगुण वस्तु देखी जाती है, वह सत्य और अविवेकित्वादि धर्मयुक्त होती हैं। जहाँ आत्मा या पुरुष में अविवेकित्वादि धर्म नहीं है, वहाँ ये त्रिगुण भी नहीं हैं। कार्य कारण-गुणात्मक अर्थात् कारण के गुणवाला होता है, अतः अव्यक्त की भी सिद्धि होती है। अर्थात् महदादि सब

कार्य गुणवाले (त्रिगुण) हैं और कार्य में गुण की अनुवृत्ति (आगमन) कारण से ही होती है। जैसे नील वस्त्र में उसके कारण नील तन्तुओं से ही नीलरंग (रूप) की अनुवृत्ति होती है; अतः महदादि कार्यों में गुण (त्रिगुण) की अनुवृत्ति के लिये कोई कारण होना चाहिए। इस प्रकार उनका कारण अव्यक्त या प्रकृति जो उक्त तीनों गुणों की साम्यावस्था है; सिद्ध होता है।

अव्यक्त (मूल-प्रकृति) से जगत् की उत्पत्ति

भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारण - कार्य विभागादविभागाद् वैश्वरूपस्य ।।
कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्त्ततेत्रिगुणतः समुदायाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रय विशेषाद् ।।

—सां० का० २५।२६

अर्थ—महत् से लेकर पृथ्वी पर्यन्त व्यक्ततत्त्वों का (भेदानां) कारण (उत्पन्न करनेवाला) 'अव्यक्त' है (कारणमव्यक्तमस्ति)। इसका कारण यह है कि ये (महदादि) परिमित हैं (परिमाणात्) और इनमें समान जातित्व है (समन्वयात्)। जिसमें जो शक्ति है, वह उसी शक्य-अर्थ में प्रवृत्त होता है (शक्तितः प्रवृत्तेश्च)। कारण (उत्पन्न करनेवाला) और कार्य (उत्पन्न पदार्थ) का विभाग है (कारण कार्य विभागात्) और इनके विश्वरूप में कोई विभाग नहीं है (अविभागद्वैश्वरूपस्य)। उपर्युक्त कारणों से महदादि का कारण अव्यक्त सिद्ध होता है। यह (अव्यक्त) अपने तीनों गुणों से (सत्त्व-रज-तम) उनके समुदाय से तथा जल के समान परिणाम से (अभिव्यक्त से) एवं भिन्न-भिन्न विषयों के लिये भिन्न गुणों से कार्य करता है।

वक्तव्य—प्रकृति की सिद्धि के लिये अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं; जैसे—(१) जगत् के समस्त पदार्थ परिमित (सीमित) तथा परतन्त्र हैं, अतः इनका मूलकारण अवश्य ही अपरिमित तथा स्वतन्त्र होना चाहिये। (२) संसार के पदार्थों में त्रिविधगुणों की सत्ता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक पदार्थ सुख-दुःख तथा मोह उत्पन्न करनेवाला होता है। अतः एक ऐसा मूल-कारण, जिसमें इन गुणों का सद्भाव हो, होना अत्यावश्यक है। (३) कारण-शक्ति से कार्य की प्रवृत्ति अनुभवसिद्ध है और यह सब शक्ति कार्य की अव्यक्ता-वस्था को छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। अतः समस्त कार्यों के जनक किसी अव्यक्ततत्त्व की कल्पना युक्तिरहित नहीं माना जा सकता। (४) आविर्भाव-काल में कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है तथा विनाशकाल में कार्य का उसी कारण में विलय दीख पड़ता है। अतः निश्चित है कि सृष्टिकाल में पदार्थ

जिस मूलकारण से उत्पन्न होते हैं, प्रलयकाल में उसी में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार अपरिमित, स्वतन्त्र, सर्वव्यापक मूलकारण को मानना पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर नितान्त युक्तियुक्त है। (सां० प्र० भाष्य)।

उपर्युक्त कारिका में महत्तत्त्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त सभी व्यक्त तत्त्वों का पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर (परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेः, कारणकार्यविभागात्, अविभागाद्वैश्वरूपस्य) अव्यक्त (प्रकृति या प्रधान) कारण कहा गया है।

यह अव्यक्त अपने अन्दर स्थित तीनों गुणों से कार्य करता है। वाचस्पति मिश्र ने इन तीनों गुणों को परिणाम स्वभाववाला कहा है। "परिणामस्वभावाः त्रिगुणाः नापरिणम्यक्षणमवतिष्ठते", अर्थात् ये तीनों गुण परिणाम स्वभाववाले हैं, एक क्षण भी अपरिणतावस्था में नहीं ठहरते। अतः ये अपने सतत परिणाम स्वभाव के कारण अपने तरतमांश के समुदाय से (समुदायाच्च) परिवर्तित होते हुए (परिणामतः) महदादि को उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार एकरस मेघ का जल पृथ्वी पर गिरता हुआ नाना परिस्थितियों के सम्पर्क में आने के कारण मधुरादि अनेक रूप धारण करता है, जैसे नारियल, बिल्व, ताल आदि फलों में प्राप्त होकर उनके गुणों को धारण कर तदनुकूल रस का रूप धारण कर लेता है; उसी प्रकार यह अव्यक्त (प्रकृति) एक होने पर भी अपने गुणों (सत्त्व-रज-तम) के उत्कर्षापकर्ष से तथा आश्रय विशेष के भेद से विभिन्न महत्तत्त्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त स्थूलभूतों को उत्पन्न करते हैं, जिससे यह जगत् बनता है। जगत् भौतिक है और जगत् का उपादान कारण पञ्चमहाभूत उक्त अव्यक्त से उत्पन्न होता है।

जैन दर्शन में तत्त्व नौ (९) हैं। जैसे--(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आश्रय, (६) संबर, (७) निर्जरा, (८) बंध और (९) मोक्ष।

बौद्ध दर्शन में 'आत्मा' का स्थान नहीं है। वे धर्म (धम्म) को साश्रव (संस्कृत) और अनाश्रव (असंस्कृत) मानते हैं। उनका कहना है कि आत्मा नहीं है, स्कन्ध मात्र है। स्कन्ध पाँच हैं जैसे--(१) रूप स्कन्ध, (२) वेदना स्कन्ध, (३) विज्ञान स्कन्ध, (४) संज्ञा स्कन्ध और (५) संस्कार स्कन्ध (अभिधम्म कोश)।

आत्म-विज्ञान

अध्याय ४

अथ पदार्थ-विज्ञाने आत्मविज्ञानीयंनामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेयादयो महर्षयः

आत्मनिरूपण–(पुरुष की सत्ता में प्रमाण)

सङ्घात् परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥

—सां० का० १७

अर्थ—संगठित अर्थ दूसरे के लिये होने के कारण, त्रिगुणमय प्रकृति से भिन्न होने के कारण, अधिष्ठाता की सत्ता होने के कारण तथा कैवल्य के लिये प्रवृत्त होने के कारण पुरुष की सत्ता माननी पड़ती है ।

वक्तव्य—सांख्य में पुरुष की कल्पना निम्न युक्तियों के दृढ़ आधार पर की गई हैं—(१) जगत् के समस्त पदार्थ संघातमय हैं । घर–ईंट, पत्थर, चूना आदि वस्तुओं का समुदाय है । वस्त्र—अनेक तन्तुओं का समूह है । संगठित वस्तुओं का यह स्वभाव है कि वे किसी अन्य के उपभोग (संघात् परार्थत्वात्) के लिये हुआ करती है । अतः प्रकृति से उद्भूत यह संघातमय जगत् अवश्य ही प्रकृति से अन्य (उपभोग) के लिये ही स्थित है । वह अन्य, इस जगत् से नितान्त विलक्षण 'पुरुष' है । (२) त्रिगुणमय प्रकृति से भिन्न होने के कारण (त्रिगुणादि-विपर्ययाद्) भी किसी एक असंघात् (असंगठित) पदार्थ की कल्पना न्याययुक्त है । (३) 'अधिष्ठानात्'—जड़ पदार्थ में बिना 'चेतन' के अधिष्ठान हुए प्रकृति नहीं दीख पड़ती । रथ एक स्थान से दूसरे स्थान को तभी जा सकता है जब उसका नियन्ता चेतन-सारथि होता है । इसी प्रकार सुख-दुःख और मोहात्मक-जगत् किसी चेतन पदार्थ के द्वारा अधिष्ठित हो कर ही प्रवृत्त होता है । (४) 'भोक्तृभावात्'—संसार के समस्त विषय भोग्य हैं । इसीसे योग-सूत्र में कहा है—"भोगापवर्गार्थं दृश्यम्" (यो० सू० २।१८) । अतः इनका भोक्ता अर्थात् भोग करनेवाला भी अवश्य होना चाहिये । साथ ही जो कोई भी इसका भोक्ता होगा वह गुणों में इनसे नितान्त भिन्न तथा विलक्षण होगा । अतः इन भोग्य विषयों (जगत्) का भोक्ता ही 'पुरुष' है । (५) 'कैवल्यार्थं' प्रवृत्तेः –इस जगत् में कुछ आदमी ऐसे भी हैं जो दुःखों से व्यथित

होकर मुक्ति पाने के लिये वास्तव में प्रयत्नशील हैं। भौतिक-जगत् के किसी भी वस्तु के लिये इस प्रकार की मुक्ति के वास्ते प्रयत्न करना सम्भव नहीं; क्योंकि सम्भवतः त्रिगुणमय होने के कारण उनकी दुःख-निवृत्ति किसी प्रकार हो ही नहीं सकती। मुक्ति के लिये प्रवृत्ति इस बात की साक्षी या सूचक है कि कोई ऐसी वस्तु अवश्य है जो त्रिगुण से विलक्षण होने के कारण क्लेशों से आत्यन्तिक निवृत्ति पाने के लिये प्रयत्नशील है और पा सकती है। वही वस्तु या पदार्थ 'पुरुष' है।

आत्मा या पुरुष अनेक हैं

जनम मरण करणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यं विपर्ययाच्चैव॥

—सां० का० १८

अर्थ—जन्म, मरण, करणों (इन्द्रियों) का नियम दृष्टिगोचर होने के कारण, एक कालिक प्रवृत्ति का अभाव होने के कारण, त्रैगुण्य का विपर्यय या अन्यथा भाव होने के कारण पुरुष का अनेकत्व (बहुत्व) सिद्ध होता है।

वक्तव्य—सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है कि पुरुष अनेक हैं। लोकानुभव इसके सबसे उत्कृष्ट प्रमाण हैं। जन्म, मरण और इन्द्रियों का नियम दृष्टिगोचर होता है। यदि पुरुष एक ही होता, तो एक व्यक्ति के जन्म होते ही सब पुरुषों का जन्म हो जाता और एक व्यक्ति के मरते ही सभी व्यक्ति मर जाते, पर ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार एक व्यक्ति के नेत्र-विहीन होते सभी पुरुष नेत्र-विहीन हो जाते। अतः पुरुष अनेक हैं। एक कालिक प्रवृत्ति का अभाव भी पुरुष के बहुत्व का साधक है। इसी प्रकार त्रैगुण्य का विपर्यय या अन्यथा भाव भी पुरुष के बहुत्व होने में साधक प्रमाण है। कोई सत्त्वबहुल, कोई रजोबहुल और कोई तमोबहुल पुरुष देखे जाते हैं, इसलिये पुरुष का अनेकत्व सिद्ध है।

पुरुष के धर्म

तस्माच्च विपर्ययासात् सिद्धं साक्षित्वमस्यपुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टत्वमकर्तृभावाश्च॥

—सां० का० १९

अर्थ—उपर्युक्त त्रैगुण्य-विपर्यय पुरुष में होने से, पुरुष का साक्षित्व, मध्यस्थता, द्रष्टत्व तथा अकर्तृत्व भाव सिद्ध होते हैं।

वक्तव्य—प्रकृति के अनन्तर दूसरा मुख्य तत्त्व 'पुरुष' है। पुरुष त्रिगुणातीत, विवेकी, अविषयी, चेतन तथा अप्रसवधर्मी है। वह साक्षात् चैतन्याख्य है।

चैतन्य उसका गुण नहीं है। जगत् के पदार्थ त्रिगुणसंज्ञक तथा चेतन होते हैं। इनमें त्रैगुण्य तो प्रकृति का अंश होता है और चैतन्य भाव 'चेतन-पुरुष' का होता है। पुरुष में किसी प्रकार का सदृश या विसदृश परिणाम उत्पन्न नहीं होता। वह अपरिणामी है। अतः वह अविकारी, कूटस्थ, नित्य तथा सर्वव्यापक है। क्रियाशीलता प्रकृति का धर्म है। पुरुष वास्तव में निष्क्रिय और अकर्त्ता है। जगत् का कर्त्तृत्व प्रकृति ही किया करती है। निरीह पुरुष तो केवल साक्षी या द्रष्टा है। त्रिगुण विलक्षण होने से ही वह नित्य मुक्त है। स्वभावतः वह कैवल्य-सम्पन्न है। उसपर उक्त गुणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिये वह 'मध्यस्थ' भी है।

पुरुष के संयोग से प्रकृति में चैतन्य

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनवदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥

—सां० का० २

अर्थ—इसलिए उस (पुरुष) के संयोग से अचेतन (प्रकृति) में भी चैतन्य के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि गुणों में कर्तृत्व है, तथापि उदासीन (पुरुष) उसमें कर्त्ता के समान (प्रयोजक) होता है।

वक्तव्य—इस कारिका में यह स्पष्ट किया गया है कि पुरुष के संयोग से ही प्रकृति, प्रकृति के सभी विकारों (महदादि) में चेतना आती है। जैसे लोक में शीत के संयोग से घट शीतल और उष्ण के संयोग से उष्ण प्रतीत होता है, वैसे ही महदादि के लक्षण भी उक्त पुरुष के संयोग से चेतन के समान प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार यद्यपि गुण में कर्त्तृत्व होता है, तथापि जब तक पुरुष का सम्पर्क नहीं होता, तब तक उसकी (कर्त्तृत्व) अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः अकर्त्ता होने पर भी पुरुष उदासीन रहते हुए गुणों के कर्त्तृत्व को सम्पन्न करने में प्रयोजक होने से कर्त्ता जैसा प्रतीत होता है।

सृष्टि-सर्ग-निरूपण

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥
प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंचभूतानि॥

—सां० का० २१–२२

अर्थ—पुरुष तथा प्रधान दोनों का संयोग लँगड़े और अन्धे के संयोग के समान प्रकृति के दर्शन तथा पुरुष के कैवल्य के लिये होता है और उसी से

सर्ग-सृष्टि की उत्पत्ति होती है। प्रकृति से महान्, महत्तत्त्व से अहंकार और अहंकार से षोडश गण (समुदाय) की उत्पत्ति होती है। इन षोडश समुदायों में से पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही विश्व की सृष्टि होती है। दोनों का संयोग ही सृष्टि का उत्पादक है। प्रकृति के जड़ होने से यह संसार (जड़-चेतनमय) केवल उसी से उत्पन्न नहीं हो सकता, न स्वभावतः निष्क्रिय होने से पुरुष से ही। इसलिये प्रकृति-पुरुष दोनों का संयोग सृष्टि के लिये अपेक्षित है। चेतन (पुरुष) की अध्यक्षता में ही जड़ (प्रकृति) सृष्टि-कार्य का सम्पादन कर सकती है। परन्तु सांख्य में सबसे विषम प्रश्न है कि विरुद्ध स्वभाववाले प्रकृति-पुरुष का संयोग किंनिमित्तक है? इसके उत्तर में सांख्य अन्धे और लँगड़े की रोचक कहानी दृष्टान्त रूप में पेश करता है। अन्धें में चलने की शक्ति है, परन्तु मार्ग का उसे तनिक भी ज्ञान नहीं है। उधर लँगड़ा मार्ग-दर्शक होते हुए भी चल नहीं सकता। परन्तु पारस्परिक संयोग से अर्थात् लँगड़े को अन्धे के कन्धे पर बिठा देने से जिस प्रकार उक्त दोनों कार्य (मार्ग-दर्शन तथा चलने का) सम्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार जड़ात्मिका परन्तु सक्रिय प्रकृति तथा निष्क्रिय परन्तु चेतन पुरुष का संयोग परस्पर कार्य (सृष्टि-कार्य) साधक है। प्रकृति भोग्या है, अतः भोक्ता के अभाव में प्रकृति की स्वरूप-सिद्धि नहीं हो सकती। भोक्ता के द्वारा दृष्ट का अनुभूत होने पर ही प्रकृति का भोग्यत्व निष्पन्न होता है (दर्शनार्थम्)। पुरुष प्रकृति के संयोग का इच्छुक इसलिये बना रहता है कि वह उससे विवेक-ज्ञान-प्राप्त कर मोक्ष की सिद्धि करता है (कैवल्यार्थम्)। प्राचीन सांख्य में प्रकृति-पुरुष के अतिरिक्त काल भी एक तृतीय पदार्थ माना जाता था (श्रीमद्भागवत् ३।६।२)। इसी काल के कारण पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होना बतलाया जाता था। प्राणियों के कर्मादिकों की फलोत्पत्ति का जब काल आता है, तब सृष्टि होती है। प्राचीन सांख्य स्वभाव को पुरुष के अतिरिक्त प्रकृति की प्रवृत्ति में कारण मानता है। प्रथमतः रजोगुण की प्रबलता से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है। गुणों में वैषम्यभाव उत्पन्न होने पर सत्त्व की प्रधानता पहले रहती है। अतः महत्तत्त्व में सत्त्वाधिक्य है। प्रकृति-विकृति में रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रण रहता है। भूत-सृष्टि में तमोगुण की ऐकान्तिक प्रधानता रहती है।

पुरुष के सान्निध्य से जड़ात्मिका प्रकृति में विकार उत्पन्न होता है। प्रथम विकृति का नाम 'महत्तत्त्व' है, जो जगत् की उत्पत्ति में महद् बीज-रूप है। व्यष्टि में इस तत्त्व को बुद्धि (तत्त्व) कहते हैं। बुद्धि का अर्थ अध्यवसाय या कार्या-कार्य के विषय में निश्चय करना है। सात्त्विक बुद्धि के चार गुण होते हैं,

जैसे–धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। तामस बुद्धि के गुण ठीक इससे विपरीत होते हैं। महत्तत्त्व से 'अहंकार' की उत्पत्ति होती है। अहंकार की सत्ता का अनुभव प्राणीमात्र के लिये साधारण बात है। 'सब विषय मेरे लिये हैं' 'मैं ही इस कार्य के करने का अधिकारी या समर्थ हूँ' आदि लोकानुभव में जो अभिमान की भावना दृष्टिगोचर होती है, वह 'अहंकार' का स्वरूप है। गुण-विषमता के कारण अहंकार तीन प्रकार का होता है, जैसे—(१) वैकृत (सात्त्विक), (२) तैजस (राजसिक) और (३) भूतादि (तामसिक)। इनमें तैजस रजोगुणात्मक होने से चालक (प्रेरक) होता है। अतः उसकी सहायता अन्य दोनों प्रकार के विकास के लिये नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार तैजस की सहायता और सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियों (मन+५ ज्ञानेन्द्रियाँ+५ कर्मेन्द्रियाँ) की उत्पत्ति होती है तथा तैजस की सहायता और तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार अहंकार के विकारों का क्रम इससे भिन्न है। इन्द्रियों में मन ही मुख्यतया सात्त्विक है, अतः सात्त्विक अहंकार से मन की, राजस अहंकार से दस इन्द्रियों की और तामस से पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है (सां० प्र० भा० २-१८)।

तन्मात्रा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के अत्यन्त सूक्ष्म रूप हैं। वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनका प्रत्यक्ष योगीजनों को ही होता है। इसीलिये ये अनुमान के विषय कहे गये हैं। शब्दतन्मात्रा से शब्दगुणक आकाश की उत्पत्ति होती है। शब्द सहित स्पर्शतन्मात्रा से शब्द-स्पर्श-गुणवान् वायु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार तेज, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति पूर्वतन्मात्राओं से सहचरित स्वीयतन्मात्रा से होती है।

सांख्यसम्मत विकासक्रम इस प्रकार है

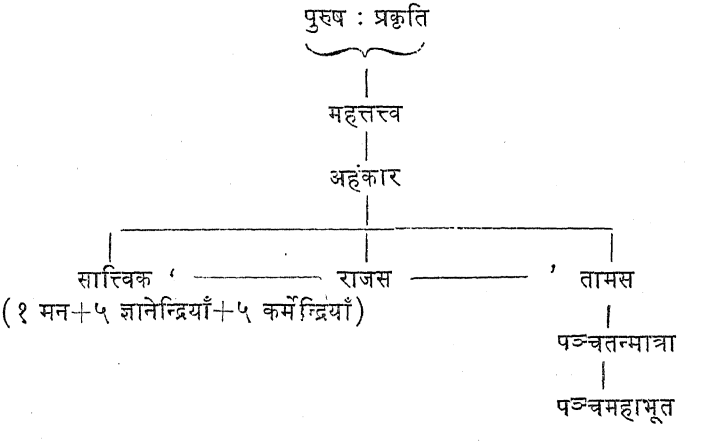

महत्तत्त्व—बुद्धि का लक्षण और कार्य

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मोज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतत् रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ।।

—सां० का० २३

अर्थ—अध्यवसाय को बुद्धि कहते हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार सात्त्विक बुद्धि के रूप हैं। तामसिक बुद्धि ठीक इसके विपरीत होती है।

वक्तव्य—कर्तव्याकर्तव्य के भेद को जानने के लिये सभी व्यवहारों में आलोचना जैसे—यह मेरे करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं है, ऐसा निर्णय करके यह मुझे करना चाहिये, यह निश्चय करना 'अध्यवसाय' कहलाता है। यह सात्त्विक और तामसिक भेद से दो प्रकार का होता है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार सात्त्विक बुद्धि के रूप हैं। ठीक इसके विपरीत तामसिक के अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये चार रूप हैं। धर्म—अभ्युदय और निःश्रेयस का हेतु है, जैसे—यज्ञ, दान, अनुष्ठान आदि से उत्पन्न धर्म अभ्युदय का हेतु और अष्टांगयोग के अनुष्ठान से उत्पन्न धर्म निःश्रेयस का हेतु होता है। इसी से कणाद ने धर्म का लक्षण "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः" ऐसा किया है। "गुणपुरुषान्यता ख्यातिर्ज्ञानम्।" 'विरागः वैराग्ये रागाभावः' ऐश्वर्य—अणिमादि[1] ये आठ हैं, जैसे—अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्यम्, वशीत्वं और इशित्वं। बुद्धि का कार्य—सार, असार, कार्य-कारण सम्बन्ध, कार्याकार्य प्रभृति का निश्चय करना है। इस प्रकार के कार्य को व्यवसाय या अध्यवसाय कहते हैं। इसीलिये बुद्धि को 'व्यवसायात्मिका' कहते हैं। भगवद्गीता में इस बुद्धि का सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद मिलता है। जैसे—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।

१—"अणिमा अणुभावः, यतः शिलामपि प्रविशति; लघिमा=लघुभावः, यतः सूर्यमरीचीनालम्ब्ये सूर्यलोकं याति; गरिमा=गुरुभावः; महिमा=महतो भावः, यतो महान् संभवति; प्राप्ति=अङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम्; प्राकाम्यम्=इच्छानभिघातः, यतो भूमौ उन्मज्जति निमज्जति च, चोदके; वशित्वम्=भूत भौतिकं वशीभवत्यवश्यम्; ईशित्वम्=भूत भौतिकानां प्रभवव्यूह व्यानाभीष्टे, यत्र कायावसायित्वं सत्य-संकल्पता, यथास्य संकल्पो भवति भूतेषु तथैव भूतानि।"

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।

—भगवद्गीता अ० १८, ३०—३२

बुद्धितत्त्व की विशालता तथा व्यापकता को देखकर ही उसकी महत् संज्ञा दी गई है।

अहंकार का लक्षण और कार्य

अभिमानोऽहंकारस्तस्मात् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्चगणस्तन्मात्रपंचकश्चैव ।।

—सां० का० २४

अर्थ—अभिमान को अहंकार कहते हैं। उस अहंकार से निम्न दो प्रकार की सृष्टि (सर्ग) की उत्पत्ति होती है। यथा—(१) ग्यारह इन्द्रियों का समुदाय और (२) पञ्चतन्मात्राएँ।

वक्तव्य—'अहंभाव' को अहंकार कहते हैं। इससे अभिमान या पृथक्त्व का भान होता है। अहंकार उत्पन्न होने के पश्चात् आगे की सृष्टि के दो मुख्य विभाग होते हैं—(१) सेन्द्रिय—चेतन और (२) निरिन्द्रिय—अचेतन।

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकारिकादहंकारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ।।

—सां० का० २५

अर्थ—तैजस की सहायता और वैकृत—सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है और तैजस की सहायता और भूतादि अहंकार से तामस्-पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है।

ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा मन

बुद्धीन्द्रियाणिचक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः ।।
उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषात् नानात्वं बाह्यभेदाश्च ।।

—सां० का० २६-२७

अर्थ—चक्षु (नेत्र), श्रोत्र (कान), घ्राण (नाक), रसना (जिह्वा) और त्वक् (त्वचा) ये पाँच बुद्धिन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) हैं। वाक् (मुख), पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा) और उपस्थ (लिङ्ग) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों हैं। संकल्प

इसका कर्म है और अन्य इन्द्रियों के समान धर्म होने से इन्द्रियों के अन्दर इसकी गणना होती है। गुण के परिणाम-विशेष से उसमें अनेकत्व देखा जाता है। ये उसके बाह्य भेद हैं।

वक्तव्य—तैजस् की सहायता और सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इनमें उत्कृष्ट सत्त्वविशिष्ट अहंकार से मन, मध्यसत्त्वविशिष्ट अहंकार से ज्ञानेन्द्रियाँ तथा अधमसत्त्वविशिष्ट अहंकार से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। रूप ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय को चक्षु, शब्द ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय को श्रोत्र, रस ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय को रसना और गन्ध ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय को घ्राण कहते हैं। त्वचा-स्पर्श-ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय है। वाणी के साधक इन्द्रिय को वाक्, ग्रहण—आदान-कर्म के साधक इन्द्रिय को हस्त, गमनागमन साधक इन्द्रिय को पाद, विसर्ग अर्थात् शरीर के मलविसर्जन करने के कार्य के साधक इन्द्रिय को पायु (गुदा) और आनन्द तथा प्रजननकर्म के साधक इन्द्रिय को उपस्थ (जननेन्द्रिय) कहते हैं। मन की गणना दोनों इन्द्रियों में की गई है क्योंकि इन्द्रियाँ मनोधिष्ठित होकर ही अपने-अपने अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। मन का प्रधान कर्म संकल्प है। इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों के सम्बन्ध में "यह-यह है, यह-यह नहीं है" इत्यादि कल्पना तथा विशेषण-विशेष्य आदि भाव का विवेचन मन का कार्य है।

इन्द्रियों की वृत्तियाँ

रूपादिषु पंचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पंचानाम्॥

—सां० का० २८

अर्थ—रूपादि पाँचों अर्थों को आलोचित करना मात्र ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियाँ हैं। वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द, ये वृत्तियाँ कर्मेन्द्रियों की हैं।

वक्तव्य—पहले पदार्थों का ज्ञानेन्द्रियों के साथ सम्पर्क होता है जिससे ज्ञानेन्द्रियों में उन पदार्थों के विषय में परिचयमात्र (आलोचनमात्र) उत्पन्न होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी वृत्ति (आलोचनवृत्ति) को समाप्त कर उन्हें मन को समर्पण कर देती है। मन उन पदार्थों के विषय में सम्यक् कल्पना (संकल्पकं मनः) करता है कि 'वे ये हैं ये नहीं हैं'। इस सम्यक् कल्पना के कारण ही मन को सांख्य-शास्त्र में संकल्पनात्मक कहा गया है। (सां० का० २७)। मन इन गृहीत अर्थों के विषय में निर्णय कर पुनः आवश्यकतानुसार कर्मेन्द्रियों को वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द आदि वृत्तियों में नियुक्त करता है।

अन्तःकरणों की वृत्तियाँ

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरण-वृत्तिः प्राणाद्यवायवाः पंच ।।

—सां० का० २९

अर्थ—महत्, अहंकार और मन इन तीन अन्तःकरणों के जो अपना-अपना असाधारण लक्षण है वे 'स्वालक्षण्य' कहलाते हैं। जैसे—महत् का अध्यवसाय, अहंकार का अभिमान और मन का संकल्प, ये इनकी अपनी-अपनी असाधारण वृत्तियाँ हैं। सामान्य करण वृत्तियाँ तो प्राण आदि पाँच वायु हैं जो जीवन के लक्षण हैं। जिनके रहने से जीवन रहता है और जिनके न रहने से जीवन का अभाव हो जाता है।

वक्तव्य—उक्त सामान्यवृत्तियों में प्राणवायु—नासा, हृदय, नाभि और पादांगुष्ठ वृत्ति है। अपानवायु—कृकाटिका, पृष्ठ, पाद पायु, उपस्थ और पार्श्व वृत्ति है। उदानवायु—हृत्-कण्ठ, तालु मूर्द्धा और भ्रूमध्य वृत्ति है तथा व्यान-वायु त्वग्-वृत्ति है। (वाचस्पति मिश्र)

बाह्य तथा आभ्यन्तर वृत्तियों का एक साथ तथा क्रम से होना

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ।।

—सां० का० ३०

अर्थ—दृष्ट विषयों में इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार इन चारों की वृत्ति एक साथ तथा क्रमशः कही गई है और इसी प्रकार अदृष्ट विषयों में भी बाह्य इन्द्रियों के बिना तीनों अन्तःकरणों की वृत्तियाँ तत्पूर्विका अर्थात् दर्शनपूर्वक, एकसाथ और क्रमशः होती है।

वक्तव्य—विषय के प्रति ज्ञानेन्द्रियों (श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और त्वचा) तथा अन्तःकरणों (मन-बुद्धि-अहंकार) का व्यापार कभी युगपत् और कभी क्रमशः होता है। जैसे—अँधेरी रात में बिजली की चमक से अपने सामने अकस्मात् व्याघ्र को देखकर जो मनुष्य भाग खड़ा होता है, उसके कार्य में सब करणों का व्यापार नितान्त शीघ्रता से एकसाथ (युगपत्) होता है। चक्षु से व्याघ्र का परिचय, मन के द्वारा संकल्प, अहंकार के द्वारा पृथक्करण, बुद्धि के द्वारा निश्चय कि यह पशु व्याघ्र ही है और उस भयानक पशु से अपने शरीर की रक्षा के लिये भाग जाने की सलाह ये समग्र व्यापार एकसाथ ही होते हैं। परन्तु, अन्यत्र घनघोर रात्रि में पेड़ों के झुरमुट में खड़े होनेवाले व्यक्ति-विशेष को देख, चोर समझकर भाग जाने के निश्चय करने में पूर्वोक्त करणों का व्यापार क्रमशः

अर्थात् एक के बाद दूसरा होता है। मन, बुद्धि और अहंकार इन तीन अन्तः-करणों का व्यापार युगपत् तथा क्रमशः दृष्ट विषयों में ही होता है। अनुमान, आगमन तथा स्मृति आदि व्यापार तो परोक्ष अर्थ में बिना देखे ही होते हैं।

——वाचस्पति मिश्र

इन्द्रियों तथा तीनों अन्तःकरणों की परिचालना

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूत हेतुकांवृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एव हेतुर्नकेनचित्कार्यते कारणम् ।।

——सां० का० ३१

अर्थ——जिस प्रकार अनेक चोर आपस में संकेत करके चोरी के स्थान में परस्पर संकेतवश अपनी-अपनी क्रियाओं को यथाक्रम करते हैं, उसी प्रकार सब इन्द्रियाँ भी अपनी-अपनी वृत्तियों में प्रवृत्त होती हैं। इनकी प्रवृत्तियों में पुरुषार्थ ही कारण है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ किसी चेतन अधिष्ठाता से परिचालित नहीं होतीं।

त्रयोदशविध-करण

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारण प्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ।।
अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरकरणम् ।।

——सां० का० ३२–३३

अर्थ——इन्द्रियाँ (११), बुद्धि और अहंकार ये तेरह करण हैं। उनमें कर्मेन्द्रियों (वाणी आदि) का आहरण (लाना) कर्म है। अन्तःकरणों (बुद्धि, अहंकार और मन) का (प्राण आदि का अपनी प्रवृत्तियों में) धारण करना कर्म है। ज्ञानेन्द्रियों का प्रकाश करना कर्म है। कर्मेन्द्रियों का आहार्य (आहरण करने योग्य) विषय दस प्रकार के हैं। जैसे——(१) दिव्य वचन बोलना, (२) अदिव्य वचन बोलना, (३) दिव्य आदान, (४) अदिव्य आदान, (५) दिव्य विहार, (६) अदिव्य विहार, (७) दिव्य उत्सर्ग, (८) अदिव्य उत्सर्ग, (९) दिव्य आनन्द, (१०) अदिव्य आनन्द। इसी प्रकार तीनों अन्तःकरणों का धार्य विषय भी दिव्य और अदिव्य के भेद से दस प्रकार के हैं। जैसे——दिव्यादिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। अन्तःकरण तीन प्रकार का होता है——बुद्धि, अहंकार और मन। बाह्येन्द्रियाँ दस प्रकार की होती हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय, ये दसों इन्द्रियाँ अन्तःकरण

के ही विषयों को प्रकट करती हैं। अर्थात् जब ये तीनों अन्तःकरण अपने विषय का संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय करना चाहते हैं तब ये दस इन्द्रियाँ द्वार-रूप हो जाती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ आलोचन से और कर्मेन्द्रियाँ अपने व्यापार से द्वारभूत होती हैं। इन दोनों में विशेषता यह है कि बाह्येन्द्रियों का सामर्थ्य केवल वर्तमान विषय में रहता है, परन्तु अन्तःकरणों का सामर्थ्य भूत,भविष्य और वर्तमान तीन काल में होता है।

इन्द्रियों के विषय

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पंच विशेषाविशेष विषयाणि।
वाग्भवात शब्द-विषया शेषाणि तु पंच-विषयाणि॥

——सां० का० ३४

अर्थ——उक्त दश बाह्येन्द्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विशेष (स्थूल शब्द आदि और पृथिवी आदि जो शान्त-घोर तथा मूढ़ स्वभाव के हैं) और अविशेष (तन्मात्र-सूक्ष्म शब्दादि) विषय है। इसमें भी यह विशेष है कि योगियों का श्रोत्र (कान) सूक्ष्म शब्द और स्थूल शब्द दोनों को सुन सकते हैं, किन्तु हमलोगों का कान केवल मोटे (स्थूल) शब्द को ही सुन सकता है। इसी प्रकार उनकी त्वगादि सभी इन्द्रियाँ सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों प्रकार के विषयों का ग्रहण कर सकती हैं। पर कर्मेन्द्रियों में वाक् (वाणी) स्थूल शब्द का ही उच्चारण कर सकती है, सूक्ष्म शब्द का नहीं; चाहे वह हमारी हो या योगियों की हो। कारण——वाक् इन्द्रिय और सूक्ष्म शब्द (शब्द तन्मात्रा) दोनों ही अहंकार से उत्पन्न हुए हैं अर्थात् एक ही कारण से उत्पन्न हुए हैं और नियमानुसार एक साथ होनेवाला बराबरवाले का अनुभव नहीं कर सकता। शेष चार (हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ या योनि) इन्द्रियों के रूप आदि पाँच विषय हैं। क्योंकि हस्त आदि चार-चार इन्द्रियाँ जिन घटादि वस्तुओं से सम्बन्ध करते हैं, वे सब शब्द-आदि तन्मात्र रूप ही हैं या उन्हीं से प्रगट हुए हैं। गौड़पदाचार्य का इस विषय में कहना है कि मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ सुख-दुःख और मोह रूप विषयों से युक्त शब्दादि को प्रकाशित करती हैं और देवताओं की ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द आदि को प्रत्यक्ष करती हैं, किन्तु उनमें सुख, दुःख आदि की प्रतीति नहीं होती। कर्मेन्द्रियों में वाणी दोनों की बराबर ही है और शेष इन्द्रियाँ पाँच विषयों का ग्रहण करती हैं।

करणों में अन्तःकरण का प्राधान्य और बाह्येन्द्रियों का गौणत्व

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि॥

एते प्रदीपकल्पाः परस्पर विलक्षणाः गुण-विशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥
—सां० का० ३५-३६-३७

अर्थ—अन्य दो अन्तःकरणों (मन और अहंकार) सहित बुद्धि अर्थात् तीनों अन्तःकरण (जिससे कि भूत, भविष्य और वर्तमान काल में शब्दादि) सब विषयों को अवगाहन (ग्रहण) करते हैं। इससे उक्त तीनों अन्तःकारण द्वारि (प्रधान) और शेष बाह्येन्द्रियाँ द्वार (अप्रधान-गौण) कहलाते हैं। बुद्धि के अतिरिक्त जितने करण हैं (अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और अहंकार) ये सब दीपक के समान हैं। अर्थात् अपने-अपने विषय को प्रकाश करनेवाले हैं। आपस में सब विलक्षण हैं, भिन्न-भिन्न विषयवाले हैं। ये सब गुण विशेष हैं अर्थात् सत्त्व आदि गुणों से उत्पन्न हुए हैं। पुरुष को जो कुछ विषय अपने में भान हुआ प्रतीत होता है उन सबको ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के अनुसार प्रकाशित करके बुद्धि में स्थापित करती हैं। इसका प्रयोजन यह है कि जो विषय बाहरी इन्द्रियों में भान होता है वही विशेष रूप से मन पर पड़ता है, पुनः वही अहंकार में पहुँचता है जिसका उसे अभिमान होता है, और वही विषय उसके द्वारा बुद्धि में चमकता है जिसका उसे निश्चय होता है। बस, इसके आगे वह विषय और कहीं नहीं जाता। अतः इनमें सर्वप्रधान बुद्धि है क्योंकि पुरुष के सब विषयों के उपभोग की साधिका बुद्धि है और वही फिर प्रधान और पुरुष के सूक्ष्म (दुर्लक्ष्य) अन्तर को प्रकाशित करती है अतः बुद्धि ही प्रधान है।

वक्तव्य—सांख्य के मत में इन्द्रिय आदि समूह का अध्यक्ष बुद्धि तत्त्व ही है, नैयायिकों के समान आत्मा अध्यक्ष नहीं है। अर्थात् नैयायिकों के मत में सब पदार्थ का ज्ञान साक्षात् सम्बन्ध से आत्मा में ही उत्पन्न होता है। इन्द्रियाँ उसके साधन हैं अतः वही अध्यक्ष (प्रधान) है। सांख्य के मत में क्योंकि ज्ञान बुद्धि में ही रहता है, आत्मा या पुरुष में उसकी छाया मात्र पड़ती है और साक्षात् सम्बन्ध का ज्ञान भ्रान्ति रूप है, अतः बुद्धि ही प्रधान है। जिस प्रकार सर्वाध्यक्ष या प्रधान मंत्री, राजा के सभी कार्यों का संपादन करने के कारण प्रधान होते हैं और ग्रामाध्यक्ष आदि उसके प्रति गौण रहते हैं, उसी प्रकार बुद्धि, पुरुष के साक्षात् सम्बन्ध से या ठीक उसी के साथ संयुक्त होने से पुरुष की छाया (छवि) को धारण कर लेती है; जो-जो सुख, दुःख आदि बुद्धि में होते हैं वे ही पुरुष में भी दिखाई देते हैं किन्तु वे सब पुरुष से दूर रहते हैं। जैसे अहंकार

और पुरुष के बीच में बुद्धि पड़ जाती है तथा इन्द्रियों के बीच में अहंकार और बुद्धि पड़ जाती है इसी से उन पर पुरुष की और पुरुष पर उनकी छाया नहीं पड़ती, सुतरां उक्त प्रकार से बुद्धि ही पुरुष के सब भोगों का साक्षात् साधन बन जाती है और इसी से बुद्धि प्रधान है।

विशेष और अविशेषों का निरूपण

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पंचपंचभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ताः घोराश्च मूढाश्च ॥
सूक्ष्माः मातापितृजाःसहप्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता-मातापितृजा विवर्तन्ते ॥

—सां० का० ३८–३९

अर्थ—शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ 'अविशेष' कहलाती हैं और उन शब्दादि पाँच तन्मात्राओं से आकाशादि पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। पाँचों महाभूत विशेष कहलाते हैं क्योंकि ये शान्त, घोर और मूढ़ होते हैं। अर्थात् सूक्ष्म शब्दादि पंचतन्मात्राएँ उपभोग योग्य नहीं होते, इसी से उनके शान्तत्वादि धर्मों का हमें अनुभव नहीं होता; अतः उन्हें 'अविशेष' पद से संज्ञित किया गया है और आकाशादि पंचमहाभूत के स्थूल होने से उनके शान्तत्वादि धर्मों का हमें अनुभव होता है इसी से उन्हें विशेष कहा है। प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले चौबीस तत्त्वों में से भिन्न-भिन्न तत्त्वों के मेल से तीन विशेष वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं; जिनसे पुरुष का उपभोग सिद्ध होता है। जैसे—(१) सूक्ष्म या लिङ्ग-शरीर, जो अठारह तत्त्वों का समुदाय होता है। (२) माता-पिता से उत्पन्न होनेवाला स्थूल-शरीर और (३) विशेष महाभूत। इन्हीं तीन विभागों में बँटे हुये सब प्राकृत पदार्थों का पुरुष उपभोग करता है। इनमें सूक्ष्म-शरीर की स्थिति तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने तक रहती है और माता-पिता से उत्पन्न होनेवाले शरीर नष्ट हो जाते हैं तथा उसके तत्त्व अपने-अपने समान तत्त्व में मरण के पश्चात् मिल जाते हैं। इस प्रकार महाभूत भी प्रलय काल में अपने-अपने अव्यक्त कारण में लीन हो जाते हैं।

लिङ्ग-शरीर का निरूपण

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्म सूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥
चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया ।
तद्वद्विना विशेषै र्नतिष्ठति निराश्रयं लिंगम् ॥

—सां० का० ४०–४१

अर्थ—लिङ्ग-शरीर सृष्टि के आदिकाल में प्रधान (प्रकृति-पुरुष) से अलग-अलग उत्पन्न किया गया है। वह असक्त और नियत है। महत्तत्त्व, अहंकार, मन, दस इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राएँ कुल मिलकर अठारह तत्त्वों का वह समूह रूप है। वह स्थूल-शरीर के बिना अकेला भोग का स्थान नहीं बन सकता, अतः धर्म-अधर्म आदि आठ भावों की वासना से युक्त होने के कारण संसरण करता है। जिस प्रकार आश्रय के बिना चित्र और छाया वृक्षादि के बिना नहीं रह सकती, उसी प्रकार स्थूल-शरीर के बिना लिङ्ग-शरीर नहीं रह सकता।

वक्तव्य—उक्त कारिका में लिङ्ग-शरीर के आविर्भाव तथा 'लिङ्ग-शरीर' किसे कहते हैं, यह दर्शाया गया है। सूक्ष्म-शरीर को ही 'लिङ्ग-शरीर' कहते हैं। यह लिङ्ग-शरीर सृष्टि के आदि में सर्वप्रथम महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्राएँ, इन अठारह तत्त्वों का समुदायरूप प्रति पुरुष अलग-अलग उत्पन्न होता है। कपिल ने सांख्य-सूत्र में इस लिङ्ग-शरीर को "सप्तदशैकं लिङ्गम्" अर्थात् एकादश इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्रा और बुद्धि इन सत्रह तत्त्वों के समुदायवाला माना है। यह लिङ्ग-शरीर सभी योनियों (स्थावर, जंगम) में अव्याहत (शिला आदि में भी) प्रवेश कर सकता है। पर (असक्त) सूक्ष्म होने से बद्ध नहीं होता। यह नियत अर्थात् महाप्रलय तक ठहरनेवाला है। यह लिङ्ग-शरीर अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार निरुपभोग, धर्माधर्म, ज्ञानाज्ञान, वैराग्यावैराग्य, ऐश्वर्यानैश्वर्य इन आठ भावों से युक्त (भावै-रधिवासितं) होता है। इन भावों से युक्त होने के कारण यह सूक्ष्म-शरीर (संसरति) घूमता रहता है। लय प्राप्त होने के कारण इसका नाम 'लिङ्ग-शरीर' है।

गीतारहस्य में लिङ्ग-शरीर के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर विवेचन तिलक महाराज ने किया है; जो इस प्रकार है :—

"यह स्पष्ट है कि जो मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है, उसकी आत्मा प्रकृति के चक्र से सदा के लिये छूट नहीं सकती। क्योंकि यदि ऐसा हो तो ज्ञान अथवा पाप-पुण्य का कुछ भी महत्त्व नहीं रह जायगा; फिर चार्वाक के मतानुसार यह कहना पड़ेगा कि मृत्यु के बाद हर एक मनुष्य प्रकृति के फंदे से छूट जाता है, अर्थात् वह मोक्ष पा जाता है। अच्छा, यदि यह कहें कि मृत्यु के बाद केवल 'आत्मा' अर्थात् 'पुरुष' बच जाता है और वही स्वयं नये-नये जन्म लिया करता है, तो यह मूलभूत सिद्धान्त कि 'पुरुष अकर्त्ता और उदासीन है और सब कर्तृत्व प्रकृति का ही है, मिथ्या प्रतीत होने लगता है। इसके सिवा जब हम यह मानते हैं कि आत्मा स्वयं ही नये-नये जन्म लिया करता है, तब तो ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है, कि जन्म-मरण के आवागमन से कभी छूट ही

नहीं सकते। इसलिए यह सिद्ध होता है कि यदि बिना ज्ञान प्राप्त किये हुए कोई मनुष्य मर जाय, तो भी आगे जन्म प्राप्त करा देने के लिये उसकी आत्मा से प्रकृति का सम्बन्ध अवश्य रहना ही चाहिये। मृत्यु के बाद स्थूल-देह का नाश हो जाया करता है, इसलिये यह प्रगट है कि अब उक्त सम्बन्ध स्थूल महाभूतात्मक प्रकृति के साथ नहीं रह सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति केवल स्थूल पञ्चमहाभूतों से ही बनी है। प्रकृति से कुल तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं और स्थूल महाभूत उन तेईसों में सबसे अन्तिम पाँच है। इन अन्तिम पाँच तत्त्वों (पञ्च-महाभूतों) को तेईस तत्त्वों में से अलग करने पर १८ तत्त्व शेष रह जाते हैं। अतएव अब यह कहना चाहिये कि, जो पुरुष बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है वह यद्यपि पञ्चमहाभूतात्मक स्थूल-शरीर से अर्थात् अन्तिम पाँच तत्त्वों से छूट जाता है, तथापि इस प्रकार की मृत्यु से प्रकृति के अन्य अठारह तत्त्वों के साथ उसका सम्बन्ध कभी छूट नहीं सकता। ये अठारह तत्त्व इस प्रकार हैं--महान् (बुद्धि), अहङ्कार, मन, दश इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्रायें। ये सब तत्त्व सूक्ष्म हैं। अतएव इन तत्त्वों के साथ पुरुष का संयोग स्थिर होकर जो शरीर बनता है उसे स्थूल-शरीर के विरुद्ध 'सूक्ष्म-शरीर' अथवा 'लिङ्ग-शरीर' कहते हैं। जब कोई मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है तब मृत्यु के समय उसकी आत्मा के साथ ही प्रकृति के उक्त अठारह तत्त्वों से बना हुआ लिङ्ग-शरीर भी स्थूल-शरीर से बाहर हो जाता है, और जब तक उस पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति हो नहीं जाती तब तक उस लिङ्ग-शरीर ही के कारण उसको नये-नये जन्म लेने पड़ते हैं।" --गीतारहस्य, पृष्ठ १८८

लिङ्ग-शरीर के सम्बन्ध में चरक-संहिता (शरीरस्थान) द्वितीयाध्याय में भी सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। यथा--

भूतैश्चतुर्भिः सहितः स सूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।
कर्मात्मकत्वान्न तु यस्य दृश्यं, दिव्यं विना दर्शनमस्तिरूपम्॥
भूतानिचत्वारि तु कर्मजानि, यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम्।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि यानि यानि॥

--च० शा० अ० २

अर्थात्--अग्निवेश के 'देहात् कथं देहमुपैति चान्यमात्मा सदा कैरनुबद्धचते च" (च० शा० २) इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् पुनर्वसु आत्रेय कहते हैं कि (सः) वह आत्मा (कर्मात्मकत्वात्) पूर्वजन्मकृत कर्मों के वश होकर (भूतैश्चतुर्भिः सहितः सूक्ष्मैः) आकाश को छोड़कर सूक्ष्म वायव्यादि भूतों सहित अर्थात् तन्मात्राओं के साथ अर्थात् उपर्युक्त लिङ्ग-शरीर के साथ (मनोजवः)

मन के वेग से क्रियावान् होता हुआ (देहात्) माता-पिता के शरीर से (देहम्) अन्य माता-पिता से उत्पन्न होनेवाले शरीर में प्रविष्ट होता है। आत्मा स्वयं निष्क्रिय होने से मनोवेग से क्रियावान् होकर ही एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। उसके इस क्रिया का ज्ञान हमें (दिव्यं दृश्यं बिना) दिव्य दृष्टि के (बिना) न होने से नहीं होता अर्थात् हम उसे देख नहीं सकते। (यानि कर्मजानि आत्मलीनानि चत्वारि भूतानि) पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के कारण जो आत्मा में लीन हुए चार सूक्ष्म भूत होते हैं वे भी आत्मा के साथ ही (गर्भे विशन्ति) गर्भ में प्रविष्ट होते हैं। और (सः) वह (बीजधर्मा) सूक्ष्मभूत सन्तान बीजधर्मा, बीज से अंकुर उत्पन्न होने की भाँति (आत्मनि) अपने में उन भूतों को साथ लेते हुए (अपरापराणि) भिन्न-भिन्न शरीरों में जाता है, जैसा कि ऊपर की कारिका में ("संसरति निरूपभोगभावैरधिवासितं लिङ्गम्") कहा गया है।

परिशिष्ट

अथातः पदार्थविज्ञाने परिशिष्टाध्याये तन्त्रयुक्तिनामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेयादयो महर्षयः।

अत्रासां तन्त्रयुक्तीनां किं प्रयोजनमित्युच्यते। वाक्ययोजनमर्थयोजनञ्च।

भवन्ति चात्र श्लोकाः

असद्वादिप्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम्।
स्ववाक्यसिद्धिरपि च क्रियते तंत्रयुक्तितः॥
व्यक्ता नोक्ताश्च ये ह्यर्था लीना ये चाप्यनिर्मलाः।
लेशोक्ता ये क्वचित्तन्त्रे तेषांचापि प्रसाधनम्॥
यथाम्बुजबनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा।
प्रबोधस्य प्रकाशार्थं तथा तन्त्रस्य युक्तयः॥

—सु० उ० अ० ६५

भावार्थ—इन (वक्ष्यमाण) तन्त्रयुक्तियों का प्रयोजन क्या है, यह कहते हैं। इसका प्रयोजन वाक्य-योजना तथा अर्थ-योजना है। यहाँ (इस शास्त्र में) कहा भी है—असद्वादियों के प्रयुक्त वाक्यों का प्रतिषेध तथा स्व-प्रयुक्त वाक्यों की सिद्धि तन्त्रयुक्ति द्वारा की जाती है। इनके अतिरिक्त अव्यक्त, लीनार्थोक्त, अनिर्मल तथा लेशोक्त तन्त्रों में क्वचित् प्रयुक्त भावों का स्पष्टीकरण भी तंत्रयुक्ति द्वारा किया जाता है। जिस प्रकार कमल-बन को सूर्य विकसित कर देता और घर को प्रदीप्त प्रकाशयुक्त कर देता है उसी प्रकार ज्ञेय विषयों का प्रकाश तन्त्रयुक्तियाँ कर देती हैं।

वक्तव्य—किसी भी तंत्र (शास्त्र) के अध्ययन के लिये उस शास्त्र के अध्ययन सम्बन्धी युक्तियों का जानना आवश्यक होता है। आयुर्वेद-तंत्र (शास्त्र) एक विशिष्ट तंत्र (शास्त्र) है और इस तंत्र का अध्ययन करने के लिये शास्त्रों में युक्तियाँ भी दी हुई हैं। अतः उन तन्त्र-युक्तियों का ज्ञान होना परमावश्यक है। तन्त्र-युक्ति का प्रयोजन बतलाते हुए आचार्य ने कहा है कि वाक्य-योजन तथा अर्थ-योजन ये दो प्रयोजन तंत्रयुक्ति के हैं। चिकित्सा-शास्त्र के विषय गद्य तथा पद्यों में कहे गये हैं। उनमें प्रयुक्त असम्बद्ध वाक्यों का सम्बन्ध स्थापित कर योजना करना 'वाक्य-योजना' है। इसी प्रकार असंगत अर्थों की संगति बैठाना

तथा लीन अर्थों का प्रकाशन करना 'अर्थ-योजना' है। असद्वादी जैसे जितने रस हैं उतने ही विपाक होते हैं अथवा रस एक ही या दो रस होते हैं, इत्यादि असद् बातों के प्रतिपादन करनेवालों का अपदेश आदि तंत्रयुक्तियों के द्वारा खण्डन करना और अपने सत्पक्ष को निर्णय आदि युक्तियों द्वारा स्थापना करना होता है। इसका उदाहरण विस्तृत रूप से आत्रेयभद्रकाप्यीयाध्याय (च० सू० अ० २६) तथा द्रव्यादि विज्ञानीय अध्याय (सु० सू० अ० ४१-४२) आदि में देखें। इनके अतिरिक्त ऐसे विषय जो स्पष्ट रूप से नहीं प्रतिपादित है (अव्यक्ता तथा व्यक्ता नोक्ताः) उनका स्पष्टीकरण करना तथा लीन अर्थों को अर्थात् गूढ़ एवं असम्यक् प्रदर्शित अर्थों को प्रदर्शित करना और अनिर्मल तथा लेशोक्त (जिनका अर्थ साफ नहीं है अथवा जो सन्देहयुक्त है) तथा अपूर्णरूप में कहा हुआ है, उनका योग प्रभृति तन्त्रयुक्तियों से प्रसाधन करना तन्त्रयुक्ति का प्रयोजन है। ये तन्त्रयुक्तियाँ उन अव्यक्तोक्त तथा लीनार्थादियों को उस प्रकार प्रकाशित करती हैं जिस प्रकार सूर्य कमल को विकसित करता है और प्रदीप गृह के तम को दूर कर प्रकाश कर देता है। तन्त्र अर्थात् शास्त्र की युक्तियों को 'तन्त्र-युक्ति' कहते हैं (तन्त्रस्य युक्तयः=तन्त्रयुक्तयः)। यहाँ तन्त्र शब्द आयुर्वेद-संहिताओं के लिये प्रयुक्त हुआ है जैसे—अग्निवेश-तंत्र, भालुकि-तंत्र, जीवक-तंत्र, आदि।

तन्त्रयुक्तयः

इदमन्यून - शब्दार्थं तन्त्रदोष - विवर्जितम्।
षड्त्रिंशता विचित्राभिर्भूषितं तन्त्रयुक्तिभिः॥

—च० सि० अ० १२-७८

भावार्थ—यह तन्त्र (चरक-संहिता) शब्द और अर्थ की न्यूनता से रहित तथा तन्त्रदोष से वर्जित विचित्र प्रकार के ३६ तन्त्रयुक्तियों से विभूषित हैं।
—चरक

"द्वात्रिंशत्तन्त्रयुक्तयोभवन्ति" —सु० उ० अ० ६५

बत्तीस प्रकार की तन्त्रयुक्तियाँ होती हैं।

वक्तव्य—चरक ने ३६ प्रकार के और सुश्रुत ने ३२ प्रकार के तंत्रयुक्तियों का वर्णन किया है। तन्त्रदोषविवर्जित से अभिप्राय है कि विमानस्थानोक्त शास्त्र दोषों से रहित है। च० वि० अ० ८ में शास्त्र-परीक्षा का वर्णन निम्न प्रकार है।

"बुद्धिमान्आत्मनः कार्यगुरुलाघवे कर्मफलमनुबन्धं देशकालौ च विदित्वा युक्तिदर्शनात् भिषग्बुभूषुः शास्त्रमेवादितः परीक्षेत। विविधानि हि शास्त्राणि

भिषजां प्रचरन्ति लोके। तत्र यन्मन्येत सुमहद्यशस्वीधीरपुरुषासेवितामर्थ बहुलमाप्तजनस्यपूजितं त्रिविधशिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोषमार्ष सुप्रणीत-सूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्, स्वाधारमनवपतितशब्दमकष्टशब्दमपुष्कलाभिधानम् क्रमा-गतार्थमर्थतत्त्वनिश्चयप्रधानम् संगतार्थमसंकुलप्रकरणमाशुप्रबोधकम् लक्षण-वच्चोदाहरणवच्च, तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्। शास्त्रं ह्येवंविधममलइवादित्य-स्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम्॥" ——च० वि० अ० ८

इन शास्त्र-गुणों के विपरीत शास्त्र-दोष होते हैं। उन दोषों से वर्जित चरक संहिता है। अर्थात् चरक-संहिता उपर्युक्त शास्त्र के प्रशस्त गुणों से युक्त है और उनमें छत्तीस प्रकार की विचित्र तन्त्रयुक्तियाँ भी वर्णित हैं।

तत्राधिकरणं योगो हेत्वर्थोऽर्थः पदस्य च।
प्रदेशोद्देशनिर्देश वाक्यशेषाः प्रयोजनम्॥
उपदेशापदेशातिदेशार्थापत्ति - निर्णयाः।
प्रसङ्गैकान्तनेकान्ताः सापवर्गो विपर्ययः॥
पूर्वपक्षविधानानुमत - व्याख्यान - संशयाः।
अतीतानागतावेक्षास्वसंज्ञोह्य समुच्चयाः॥
निदर्शनं निर्वचनं सन्नियोगो विकल्पनम्।
प्रत्युत्सारस्तथोद्धारः संभवस्तन्त्रयुक्तयः॥
तन्त्रे समासव्यासोक्ते भवन्त्येता हि कृत्स्नशः।
एकदेशेन दृश्यन्ते समासाभिहितास्तथा॥

——च० सि० अ० १२

"तद्यथा——अधिकरणं योगः, पदार्थो हेत्वर्थ, उद्देशो निर्देश उपदेशोऽपदेशः प्रदेशोऽतिदेशोऽपवर्गो वाक्यशेषोऽर्थापत्तिविपर्य्ययः। प्रसङ्गः एकान्तोऽनेकान्तः पूर्वपक्षो निर्णयोऽनुमतं विधानमनागतावेक्षणमतिक्रान्तावेक्षणं। संशयो व्याख्यानं स्वसंज्ञा निर्वचनं, निर्देशनं नियोगो विकल्पः समुच्चय ऊह्यमिति।" (सु०उ०अ०६५)

भावार्थ——चरक के अनुसार निम्न ३६ तंत्रयुक्तियाँ हैं——(१) अधिकरण, (२) योग, (३) हेत्वर्थ, (४) पदार्थ, (५) प्रदेश, (६) उद्देश, (७) निर्देश, (८) वाक्यशेष, (९) प्रयोजन, (१०) उपदेश, (११) अपदेश, (१२) अतिदेश, (१३) देश, (१३) अर्थापत्ति, (१४) निर्णय, (१५) प्रसङ्ग, (१६) एकान्त, (१७) अनैकान्त, (१८) अपवर्ग, (१९) विपर्यय, (२०) पूर्वपक्ष, (२१) विधान, (२२) अनुमत, (२३) व्याख्यान, (२४) संशय, (२५) अतीतावेक्षण, (२६) अनागतावेक्षण, (२७) स्वसंज्ञा, (२८)

ऊह्य, (२९) समुच्चय, (३०) निदर्शन, (३१) निर्वचन, (३२) संनियोग, (३३) विकल्पन, (३४) प्रत्युत्सार, (३५) उद्धार और (३६) सम्भव।

ये तन्त्रयुक्तियाँ सम्पूर्ण रूप में विस्तार वा संक्षेप से (आयुर्वेद) तन्त्रों में पाई जाती हैं। परन्तु जो तंत्र संक्षेप में कहे गये हैं उनमें इन ३६ तन्त्रयुक्तियों का एकदेश ही पाया जाता है। उनमें सम्पूर्ण तन्त्रयुक्तियाँ नहीं होतीं। सुश्रुत में (१) प्रयोजन, (२) प्रत्युत्सार, (३) उद्धार और (४) संभव ये चार नहीं हैं। इन उपर्युक्त तंत्रयुक्तियों को समझने के लिये इनका लक्षण जानना आवश्यक है। यथा—

(१) अधिकरण का लक्षण—'तत्र यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणम्। यथा—रसं दोषं वा" (सु० उ० अ० ६५) अथवा अधिकरणं प्रस्तावः, सामान्येनोक्तमप्यर्थजातं यद्बलाद्विशेषेऽवस्थाप्यते।"

भावार्थ—जिस विषय को अधिकार रूप में कहा जाय उसे 'अधिकरण' कहते हैं। जैसे रसाधिकार वा दोषाधिकार। अथवा दीर्घजीवितीयाध्याय (च० सू० १) कतिधा पुरुषीयाध्याय इत्यादि। दीर्घजीवन का साधिकार आयु का वर्णन तथा उसके हिताहित का वर्णन इस अध्याय में होने से उसका नाम दीर्घजीवितीय अध्याय हुआ। अथवा सु० सू० अ० १ में कहा है, 'स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।' यहाँ पुरुष के अधिकार का वर्णन होने से उसे चिकित्सा का अधिकरण कहा गया है। यहाँ पुरुष से 'कर्म पुरुष' अभिप्रेत है। कतिधा पुरुषीयाध्याय में भी पुरुष के प्रकारों का अधिकार का वर्णन है। अथवा सामान्य रूप से कहे गए विषय को जिसके आधार पर विशेष अर्थ में भी व्यवहार किया जाता है वह भी 'अधिकरण' कहलाता है—जैसे सामान्य रूप में कहा है कि सात दिन पर (कोई दस दिन पर) औषध देने का आदेश करते हैं। इसे प्रकरणवश ज्वराधिकार का विषय कहेंगे।

(२) योग का लक्षण—"येन वाक्यं युज्यते स योगः" यथा—तैलं पिबेच्चामृतवल्लिनिम्ब हित्राभयावृक्षकपिप्पलीभिः। "सिद्धं बलाभ्याञ्च सदेवदारु हिताय नित्यङ्गलगण्डरोगे।" सिद्धं पिबेदिति प्रथमं वक्तव्ये तृतीयपादे सिद्धं प्रयुक्तमेव दुरस्थानामपि पदानामेकीकरणं योगः। —सु० उ० अ० ६५

"योगो नाम योजना व्यस्तानां पदानामेकीकरणम्।" चक्रः —चरके

भावार्थ—अर्थ-ज्ञान के लिये समीप वा दूर के पदों को इकट्ठा करना 'योग' कहलाता है। जैसे उपर्युक्त श्लोक में—'तैलं सिद्धं पिबेत्।' यह कहना था, परन्तु 'सिद्धं' पद श्लोक के तृतीय चरण में कहा है। इस दूरस्थित पद को 'तैलं' के साथ इकट्ठा कर कहना 'योग' कहलाता है। इस प्रकार पदों के विपरीत क्रम को अन्वय कर कहना भी 'योग' कहलाता है। इसी प्रकार पद और अर्थ

वा वाक्य और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को भी 'योग' कहते हैं। (सुश्रुत)। चक्रपाणि के अनुसार पृथक्-पृथक् कहे हुए पदों को एक साथ (इकट्ठा) करना 'योग' कहलाता है। जैसे--प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, इन पञ्चावयवों में कहा है--प्रतिज्ञा--मातृजश्चायं गर्भः। हेतु--मातरमन्तरेण गर्भानुपपत्तेः। दृष्टान्त--कूटागारः। उपनय--नाना द्रव्य समुदायात् कूटागारस्तथा गर्भः। निगम--नतस्मान्मातृजश्चायं गर्भः। इसमें गर्भ मातृज भी है इस प्रतिज्ञा के लिये उक्त हेतु आदि वाक्यावयवों का एकीकरण निगमन में किया है। इस प्रक्रिया से स्पष्ट ज्ञान होता है।

(३) हेत्वर्थ का लक्षण--"यदन्यदुक्तमन्यार्थसाधकं भवति स हेत्वर्थः, यथा मृत्पिण्डोऽद्भिः प्रक्लिद्यते तथा माषदुग्धप्रभृतिभिर्व्रणः प्रक्लिद्यत इति।" (सुश्रुत) अथवा--"यदन्यत्राभिहितंमन्यत्रोपपद्यते।"

अर्थात्--एक स्थान पर कहा हुआ जो अन्यत्र भी साधक हो उसे 'हेत्वर्थ' कहते हैं। जैसे च० सू० अ० १२ में कहा है कि--'समान गुणाभ्यासो हि धातूनामभिवृद्धिकारणम्, अर्थात्--समानगुण द्रव्य के अभ्यास से धातुओं की वृद्धि होती है। यद्यपि यह वर्णन वात के अधिकार में कहा गया है तथापि यहाँ पित्त और रस-रक्त आदि में भी लागू है, अतः यह 'हेत्वर्थ' है।

(४) पदार्थ के लक्षण--'योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः।' अथवा "पदस्य पदयोः पदानां वा योऽर्थः स पदार्थः।" अपरिमिताश्च पदार्थाः यथा--स्नेहस्वेदाञ्जनेषु निर्दिष्टेषु द्वयोस्त्रयाणामर्थानमुपपत्तिर्दृश्यते, तत्र योऽर्थः पूर्वापरयोगसिद्धेन भवति स गृहीतव्यः, यथा वेदोत्पत्ति व्याख्यास्याम इत्युक्ते सन्दिह्यते बुद्धिः। कतमस्य वेदस्यायमुत्पत्तिं विवक्षुरिति। ऋग्वेदादयस्तु वेदास्तत्र पूर्वापरयोगमुपलभ्य विद् विचारणे विद् विन्दत्येतयोश्च धात्वोरनेकार्थयोः प्रयोगः पश्चात् प्रतिपत्तिर्भवति। आयुर्वेदोत्पत्तिमयं विवक्षुरित्येवं पदार्थः।" --सु० उ० अ० ६२

भावार्थ--एक पद, दो पद वा अनेक पदों का जो अर्थ है वह 'पदार्थ' कहलाता है। अथवा आयुर्वेद के सूत्र वा पदों में जो अर्थ (विषय) कहा गया है वह सब पदार्थ है। पदार्थ अपरिमित हैं। अतः पूर्वापरयोग द्वारा पदार्थ निर्णय होता है। जैसे स्नेह, स्वेद तथा अञ्जन में कहे गये द्रव्यों के दो वा तीन अर्थों की उपपत्ति होती है तो वहाँ उनके पूर्वापर योगों को देख कर अर्थों का ग्रहण करना होता है। इसी प्रकार 'द्रव्य' कहने से पञ्चमहाभूत, काल, दिक्, आत्मा तथा मन इन ९ द्रव्यों का ग्रहण होता है तथा 'आयुषो वेदः' आयु का वेद कहने से आयु-बोधक तन्त्र आयुर्वेद का ग्रहण होता है।

(५) **प्रदेश का लक्षण**—**'प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधनं प्रदेशः। यथा देवदत्तस्यानेन शल्यमुद्धृतं तस्माद् यज्ञदत्तस्याप्ययमेवोद्धरिष्यतीति।" (सु०उ०अ० ६३)।**

"प्रदेशो नाम यद् बहुत्वार्थस्य कात्स्न्र्येनाभिधातुमशक्यमेकदेशेनाभिधीयते।" यथा "अनुपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयौगिकः। (च० सू० अ० २७)।

भावार्थ—प्रकृत-अर्थ का अतीत-अर्थ से साधन 'प्रदेश' कहलाता है। जैसे देवदत्त का शल्य इस उपाय से निकला है—अतः यज्ञदत्त का भी शल्य इसी उपाय से निकलेगा।

अथवा—अभिधेय के बहुत होने के कारण यदि वह पूरा न कहा जा सके तो उसका थोड़ा-सा भाग कह दिया जाता है, जैसे सूत्र-स्थान (२७ अध्याय) में कहा है—यह अनुपान का एक देश कहा गया है। सब अनुपानों का बताना कठिन है, अतः उसका एक देश वा थोड़ा-सा भाग कहा है, इसे 'प्रदेश' कहते हैं।

(६) **उद्देश का लक्षण**—**'समासवचनमुद्देशः' यथा शल्यमिति तथा "हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्" इत्यादि।**

अर्थात्—संक्षेप में कहे हुए वचन को 'उद्देश' कहते हैं। सम्पूर्ण शल्य तंत्र के विषय को एक ही वाक्य में जैसे 'शल्यमिति' कह दिया जाय तथा सम्पूर्ण आयुर्वेद के अभिधेय को सूत्र-स्थान (अ० सू० १) में 'हेतु लिङ्गौवधज्ञानं' आदि से कह दिया है, यह उद्देश है। तात्पर्य यह कि विषय का शब्द मात्र से कीर्तन या कथन उद्देश कहलाता है।

(७) **निर्देश का लक्षण**—**'विस्तरवचनं निर्देशः' यथा शरीरभागमुपैति।" (सुश्रुत)। अथवा—'निर्देशो नाम यच्छब्दमात्रेण निर्दिष्टानां स्वरूपप्रदर्शनाय पुनः कीर्तनम्।"**

अर्थात्—शब्दमात्र से (संक्षेप में) कहे हुए विषयों को उनके स्वरूप-प्रदर्शन के लिये विस्तार से पुनः कहना 'निर्देश' कहलाता है। जैसे—'अष्टौ ज्वराः' आठ प्रकार के ज्वर होते हैं, इस विषय को वातिक, पैतिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, वात-पैत्तिक, वातश्लैष्मिक, पित्तश्लैष्मिक और आगान्तुज; इस प्रकार विस्तार से पुनः कहना 'निर्देश' कहलाता है।

(८) **वाक्यशेष का लक्षण**—**'येन पदेनानुक्तेन वाक्यं समाप्यते स वाक्यशेषः' (सुश्रुत)। अथवा—'वाक्यशेषो नाम यल्लाघवार्थमाचार्येण वाक्येषु पदमकृतं गम्यमानतया पूर्यते।" अथवा—'वाक्यशेषो नाम यस्मिन्वाक्ये एकदेशः शिष्यते व्याख्या काले त्वनुच्यमानोऽप्यायतति।"**

अर्थात्—जिस वाक्य में जो कोई पद न कहा गया हो उसे 'वाक्य शेष' कहते हैं। यह वाक्यशेष अभिधेय अर्थ का ज्ञापक होने से वहाँ समझ लिया जाता है। जैसे—'शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरोरसामित्युक्ते पुरुषग्रहणमपि गम्यते पुरुष

एवोक्त इति (सुश्रुत)। तथा—च० सू० अ० १६ में 'प्रवृत्ति हेतुर्भावानां' कहा है। इसमें 'अस्ति' (है) वाक्यशेष है। तात्पर्य यह कि वाक्यशेष का पूरण करने से अर्थ 'भावों की उपपत्ति में कारण हैं' होगा। और भी कई स्थलों पर 'जाङ्गल' तथा 'आनूप' रस का विधान मिलता है। वहाँ पर 'मांस' वाक्य-शेष होगा।

(९) प्रयोजन का लक्षण—'प्रयोजनं नाम यदर्थं कामयमानः प्रवर्तते।" अथवा यत्सम्पादयितुं क्रिया ह्यारभ्यते तत्प्रयोजनम्।"

अर्थात्—जिसको सम्पन्न करने के लिये कर्त्ता की क्रिया में प्रवृत्ति होती है वह 'प्रयोजन' कहलाता है। जैसे च० सू० अ० १ में कहा है, 'धातुसाम्यक्रिया प्रोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्।" अर्थात्—आयुर्वेद का प्रयोजन धातुसाम्य का सम्पादन करना है।

(१०) उपदेश का लक्षण—'एवमित्युदेशः' अथवा—'उपदेशोनामाप्तानु-शासनम्'।

अर्थात्—आप्त पुरुषों के अनुशासन को 'उपदेश' कहते हैं। अर्थात् ऐसा करें अथवा ऐसा होता है इत्यादि जो अनुशासन आप्तपुरुष करते हैं, वह उपदेश कहलाता है। जैसे—च० सू० अ० १३ में कहा कि 'स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदनमन्तरम्।"

(११) अपदेश का लक्षण—"अनेक कारणेनेत्यपदेशः' अथवा—'अपदेशो नाम यत्प्रतिज्ञातार्थसाधनाय हेतुवचनम्।' अथवा—'प्रतिज्ञातस्य साधन हेतुरपदेशः।'

अर्थात्—प्रतिज्ञात विषय के साधन के लिये हेतु का कहना 'अपदेश' कहलाता है। जैसे च० वि० अ० ३ में कहा है—

वाताज्जलं जलाद्देशं देशात्कालं स्वभावतः।
विद्याद्दुष्परिहार्यत्वात् गरीयस्तरमर्थवित्॥

अर्थात्—उत्तरोत्तर प्रधानता में दुष्परिहार्यत्व हेतु का कहना 'अपदेश' कहलाता है।

(१२) अतिदेश का लक्षण—प्रकृतस्थानागतेन साधनमतिदेशः। यथा—अनेनास्य वायुरुर्ध्वमुत्तिष्ठते तेनोदावर्त्तःस्यात् (सुश्रुत) अथवा—'अतिदेशो-नाम यत्किञ्चिदेव प्रकाश्यार्थमनुक्तार्थसाधनायैव एवमन्यदपि प्रत्येतव्यमिति परिभाष्यते। अथवा—"प्रकृतत्कर्मणो यस्मात्तत्तत्समानेषु कर्मसु। धर्मोऽतिदिश्यते येन अतिदेशः स उच्यते।"

अर्थात्—प्रकृत विषय से उसके सदृश अनुक्त विषयों का साधन 'अतिदेश' कहा जाता है, जैसे—वह भी वैसा ही है। यथा—च० सू० अ० ८ में कहा

है—'यच्चान्यदपि किञ्चित्स्यादनुक्तमिह पूजितम्। वृत्तं तदपि चात्रेयः सदैवाभ्यनुमन्यते।" इत्यादि। सज्जनानुमोदित अनुक्त वृत्त का यहाँ 'अतिदेश' किया गया है।

(१३) अर्थापत्ति का लक्षण—"यदकीर्तितमर्थादापद्यते सार्थापत्तिः। यथौदनं भक्ष्यमित्युक्तेऽर्थादज्ञं भवति नायं पिपासुर्यवागूमिति। (सुश्रुत) अथवा—यदेकस्मिन्नर्थे उच्यमाने अनुक्तस्याप्यर्थस्य बलादागमनं सार्थापत्तिः।"

अर्थात्—एक अर्थ के कहने से अन्य अनुक्त अर्थ का भी बलात् आगमन अर्थात् सिद्धि हो जाय तो उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे 'न नक्तं दधिभुञ्जीत' इसके कहने से दिन में दही खाना चाहिये, इसका बोध हो जाता है।

(१४) निर्णय का लक्षण—"पूर्वपक्षस्योत्तरं निर्णयः' अथवा—'उद्दिष्टानामर्थानामनुद्दिष्टेन निराकांक्षत्वापादनं निर्णयः।" अथवा—'निर्णयोनाम विचारितस्यार्थस्य व्यवस्थापनम्।"

अर्थात्—पूर्वपक्ष के उत्तर को अथवा विचारपूर्ण विषय की स्थापना को 'निर्णय' कहा जाता है। जैसे—च० सू० अ० १० में चतुष्पाद भेषज के विचार में कहा है—'यदुक्तं षोडशकलं पूर्वाध्याये भेषजं तद्युक्तियुक्तमलमारोग्याय' अर्थात् युक्तिपूर्वक प्रयुक्त चतुष्पाद भेषज आरोग्य के लिये समर्थ है; यह निर्णय है। तथा—'शरीरं प्रपीडच पश्चादधो गत्वा वसामेदोमज्जानुविद्धं मूत्रं प्रसृजति वात एवमसाध्या वातजा इति।' (सुश्रुत)। अर्थात् वातज प्रमेह असाध्य क्यों है यह पूर्वपक्ष है। इसका विचारपूर्वक उत्तर है कि वायु शारीर-धातुओं को प्रपीड़ित कर वसा, मेद और मज्जा को दूषित कर अधोदेश (वस्ति) में प्राप्त हो मूत्र को वसा, मेद और मज्जा से युक्त मूत्र को निकालता है अतः वातज-प्रमेह असाध्य है। अथवा मदात्यय होने से वातज-प्रमेह असाध्य है इत्यादि 'निर्णय' वाक्य है। यहाँ उद्दिष्ट अर्थ—वात-प्रमेह की असाध्यता में आकांक्षा वर्त्तमान थी, उसे अनुद्दिष्ट महान्यायिकता और विरुद्धोपक्रमता से आकांक्षारहित कर दिया, यह 'निर्णय' है।

(१५) प्रसङ्ग का लक्षण—"प्रकरणान्तरेण समानं प्रसङ्गः। प्रकरणान्तरितो योऽर्थेषु सकृदुक्तः समाप्यते स प्रसङ्गः। यथा—पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषस्तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानमिति वेदोत्पत्तावभिधाय भूतविद्यायां पुनरुक्तं ततोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति स खलु एवं कर्मपुरुषचिकित्सायामधिकृतः।" (सुश्रुत)। अथवा—"प्रसङ्गो नाम पूर्वाभिहितस्यार्थस्य प्रकरणागतत्वादिना पुनरभिधानम्।" अथवा—"अप्राकरणिकस्यापि वस्तुतः किञ्चित्सम्बन्धेन यत् कीर्तनम् स हि प्रसङ्गः।"

अर्थात्––पूर्वोक्त अर्थ का प्रकरण में आ जाने से पुनः कहना प्रसङ्ग कहलाता है। जैसे (सु० सू० अ० १) वेदोत्पत्ति अध्याय में कहे हुए 'पञ्चमहाभूत शरीरि-समवायः पुरुषः' इत्यादि को पुनः भूतविद्या के अध्याय (शा० अ० १) में प्रकरणवश उद्धृत करना 'प्रसङ्ग' कहलाता है। तथा च० सिद्धि-स्थान अ० १ में 'न बृंहणीयान् विदधीत वस्तीन् विशोधनीयेषु गदेषु वैद्यः।" इत्यादि कहकर पुनः अध्याय में कहा है कि 'वस्तीन्न बृंहणीयान् हृद्याद्व्याधिषु विशोधनीयेषु।" इत्यादि। अर्थात् बृंहण-वस्ति को विशोधनीय विकारों में प्रयोग न करें।

(१६) एकान्त का लक्षण––"सर्वत्र यदवधारणेनोच्यते स एकान्तः।" अथवा––"यत्पक्षान्तर व्यावर्तकं तदेकान्तः।" यथा–त्रिविद्विरेचयति मदनफलं वामयति इति।" (सुश्रुत)।

अर्थात्––सर्वत्र जो अवधारण (निश्चय––अवश्यम्भावी) रूप से कहा जाय उसे 'एकान्त' कहते हैं। तात्पर्य यह कि जिसके विपक्ष में कोई बात न हो। जैसे त्रिवृत् विरेचन कराती है और मैनफल वमन कराता है।

(१७) अनेकान्त का लक्षण––"क्वचित्तथाक्वचिचिदन्यथेति यः सोऽनेकान्त।" अथवा "अनेकान्तो नाम अन्यतरपक्षानवधारणम्।" अथवा 'यदुच्यमानमपि अवश्यम्भावित्वेनानियतं सोऽनेकान्तः।' यथा केचिदाचार्य्या ब्रुवते द्रव्यं प्रधानं केचिद्रसं केचिद्वीर्यं केचिद्विपाकमिति।" (सुश्रुत)।

अर्थात्––दो पक्षों में से एक का भी निश्चय न होना अनेकान्त कहलाता है। जैसे कोई आचार्य कहते हैं कि द्रव्य प्रधान है। कोई कहते हैं कि रस प्रधान है, कोई वीर्य तथा कोई विपाक को प्रधान कहते हैं। इसी प्रकार काल और अकाल-मृत्यु के विषय में आचार्यों ने कहा है कि कालमृत्यु और अकालमृत्यु दोनों मृत्यु होती है, इत्यादि अनेकान्त वचन हैं।

(१८) अपवर्ग का लक्षण––'अभिव्याप्याकर्षणमपवर्गः।'अथवा 'साकल्येनोद्दिष्टस्यैकदेशापकर्षणमपवर्गः।" अथवा "सामान्योक्त्यनुप्रविष्टस्य विशेषेणाकर्षणं सोऽपवर्गः।" "यथाऽस्वेद्याविषोपसृष्टा अन्यत्र कीटविषादिति।" (सुश्रुत)।

अर्थात्––सामान्य कथन से जिसका ग्रहण हो परन्तु विशेष कथन से इसका निराकरण करना 'अपवर्ग' कहलाता है जैसे––अस्वेद्याः विषोपसृष्टा' सामान्य रूप से कहा पुनः विशेष रूप से 'अन्यत्र कीटविषाद्' कहना 'अपवर्ग' है। इसी प्रकार च० सू० अ० ८ में कहा है कि "न च पर्युसितान्नमाददीतान्यत्र मांस हरितक शुष्क शाक-फल भक्षेभ्यः।" अर्थात् सामान्य रूप से पर्युषित अन्न सेवन का निषेध किया है परन्तु विशेष वचन द्वारा यह कह दिया कि 'मांसादि को छोड़कर' इस प्रकार इस नियम का निराश करना 'अपवर्ग' है।

(१९) विपर्यय का लक्षण—"यद्यत्राभिहितं तस्य प्रातिलोम्यं विपर्ययः।" अथवा "विपर्ययो नाम अपकृष्टात् प्रतीपोदाहरणम्।" अथवा "उक्तस्यान्यथाभावो विपर्ययः।" यथा "कृशाल्पप्राणभीरवो दुश्चिकित्स्या इत्युक्ते विपरीत गृह्यते दृढादयः सुचिकित्सा इति।" (सुश्रुत)।

अर्थात्—जो कहा जाय उससे प्रतिलोम वा विपरीत 'विपर्यय' कहलाता है। जैसे कृश—अल्पप्राण और भीरु दुश्चिकित्स्य है; इसके विपरीत दृढ़ आदि सुचिकित्स्य है, यह विपर्यय है। यथा निदान-स्थान में कहा है कि "निदानोक्तानि अस्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरते"—इत्यादि। अर्थात् निदानोक्त द्रव्य रोगी के लिये सुखकर नहीं होता, किन्तु उसके विपरीत सुखकर होता है।

(२०) पूर्वपक्ष का लक्षण—"आक्षेपपूर्वकः प्रश्नः पूर्वपक्षः।" अथवा—"पूर्वपक्षोनाम प्रतिज्ञानार्थं सन्दूषकं वाक्यम्।" अथवा—"परप्रतिज्ञातानुपपत्तिप्रदर्शनपरो वाक्यसमुदायः पूर्वपक्षः।"

अर्थात्—प्रतिज्ञात अर्थ में दोष बतानेवाले वचन को पूर्वपक्ष कहते हैं। जैसे—'कथं वातनिमित्ताश्चत्वारः प्रमेहा असाध्या भवन्ति।" तथा—'मस्त्यान्न पयसाभ्यवहरेत्' यह प्रतिज्ञा है। इसके बाद इसका दूसरा वचन भद्रकाप्य ने कहा, सर्वानेव पयसाभ्यवहेरदन्यत्रैकस्माञ्चिलचिमात्'। यह 'पूर्वपक्ष' है।

(२१) विधान का लक्षण—'प्रकरणानुपूर्व्याभिहितं विधानम्।" अथवा—"तन्त्रस्य कर्त्रा विशिष्टा या पदादिरचनाकृता तद्विधानम्।" अथवा—"विधानं नाम यत्सूत्रः विधाय वर्णयति।"

अर्थात्—प्रकरण के अनुपूर्वक्रम से कहा गया वचन 'विधान' कहलाता है। जैसे—रस-रक्त मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र, यह अनुपूर्वक्रम (उत्पत्तिक्रम) से कहा गया है। अथवा तन्त्र कर्त्ता जिस विशिष्ट पद–आदि की रचना करते हैं उसे भी 'विधान' कहते हैं। जैसे च० सू० अ० ७ में कहा कि—'मलायतनानि वाध्यन्ते दुष्टैमात्राधिकैर्मलैः।' इस वाक्य में दुष्ट शब्द से आचार्य द्वारा गृहीत वृद्धि और क्षीणता का वर्णन भी स्वयं आचार्य "मलवृद्धि गुरुतया लाघवान्मल संक्षयम्' इत्यादि से करते हैं।

(२२) अनुमत का लक्षण—परमतमप्रतिसिद्धमनुमतम्।" अथवा—"अनुमतं एकीयमतस्यानिवारणेनानुमनम्।" अथवा "परपक्षस्य भिन्नस्याप्यङ्गीकरणमनुमतम्।"

अर्थात्—किसी दूसरे के पक्ष का भिन्न होने पर भी निवारण न करना स्वीकार करना ही है, यह अनुमत है। जैसे—च० शा० अ० ८ में कहा है कि 'गर्भशल्यस्य जरायुप्रपातनं कर्म संशमनमित्येके।" यह किसी दूसरे का मत है जिसका आचार्य ने प्रतिषेध नहीं किया। इसी प्रकार 'यथान्यो ब्रूयात्सप्तरसा इति'। (सुश्रुत)

(२३) व्याख्यान का लक्षण––"तन्त्रेतिशयोपवर्णनं व्याख्यानम् ।" अथवा 'व्याख्यानं नाम यत्सर्वबुद्धयविषयं व्याक्रियते' अथवा 'संक्षेपेणोक्तार्थस्य-विस्तरेणाख्यानं व्याख्यानम् ।'

अर्थात्––किसी विषय का अतिशय रूप से वर्णन व्याख्यान कहलाता है। अर्थात् जो विषय सर्व बुद्धिगम्य न हो उसे समझा कर उपस्थित करना 'व्याख्यान' कहलाता है। अथवा संक्षेप में कहे हुए विषय को विस्तारपूर्वक कहना 'व्याख्यान' है।

(२४) संशय का लक्षण––'उभयहेतुदर्शनं संशयः ।' (सुश्रुत)। अथवा 'विरुद्धानांपक्षानामनिश्चयः संशयः ।' अथवा 'एकधार्मिकविरुद्धाभावाभाव-प्रकारकं ज्ञानं संशयः ।' अथवा 'संशयोनाम विशेषाकांक्षानिर्धारितोभयविषय-ज्ञानं संशयः ।'

अर्थात्––परस्पर विरुद्ध ज्ञान में निश्चय न होना संशय कहलाता है। जैसे––च० सू० अ० ११ में कहा है––"किं न खलु अस्ति पुनर्भवो न वेति।" इत्यादि।

(२५) अतीतावेक्षण वा अतिक्रान्तावेक्षण का लक्षण––'यत्पूर्वमुक्तं तदतिक्रान्तावेक्षणम् ।' अथवा 'अतीतावेक्षणं नाम यदतीतमेवोच्यते ।' अथवा "यत्रातीतंपदमपेक्ष्य सम्बन्धयिता भवति सातीतापेक्षा ।"

अर्थात्––जहाँ पूर्व कहे हुए विषय का दर्शन हो उसे 'अतीतावेक्षण वा अति-क्रान्तावेक्षण' कहते हैं। जैसे च० चि० अ० १ में 'निदान पूर्वमुद्दिष्टा या पृथक्ज्वरा-कृति' इत्यादि द्वारा ज्वर निदान में कहे गये पृथक् दोषों से उत्पन्न ज्वरों के लक्षण की ओर अतीतावेक्षण है। तथा 'यथा चिकित्सितेषु ब्रूयात् श्लोक स्थाने यदि-रितम्' इत्यादि (सुश्रुत्)।

(२६) अनागतावेक्षण का लक्षण––एवं वक्ष्यतीति-अनागतावेक्षणम् । अथवा 'अनागतावेक्षणंनामयदनागतं विधिप्रमाणी कृत्यार्थं साधनम् ।' अथवा–– 'यत्रानागतेनार्थेन सम्बन्धिता भवति सानागतावेक्षा ।"

अर्थात्––भविष्य में आगे कही जानेवाली विधि का दर्शन कराकर अर्थ सिद्ध करना 'अनागतावेक्षण' कहलाता है। जैसे––ऐसा कहा जायगा। अथवा जैसे च० चि० अ० ८ में कहा है 'यच्चोपदेक्ष्यते पथ्यं क्षतक्षीण चिकित्सिते। यक्ष्मिण-स्तत्प्रयोक्तव्यं बलमांस विवर्धये।" यहाँ यक्ष्माधिकार में पथ्य बताने के लिये अनागतावेक्षा की गई है।

(२७) स्वसंज्ञा का लक्षण––"अन्यशास्त्रासामान्या संज्ञा स्वसंज्ञा ।" अथवा 'स्वसंज्ञा नाम या तन्त्रकारैर्व्यवहारार्थं संज्ञा क्रियते ।' अथवा "या स्वतन्त्र एव श्रुयते नान्यस्मिञ्छास्त्रे सा स्वसंज्ञा ।"

अर्थात्—जो अपने ही शास्त्र में संज्ञा की जाय; अन्य शास्त्रों में न हो। अथवा तन्त्रकार व्यवहार के लिये यदि किसी संज्ञा को गढ़ लेता है तो उसे 'स्वसंज्ञा' कहते हैं। जैसे जेन्ताक, होलाक आदि स्वेदाध्याय में स्वेद की संज्ञा है।

(२८) ऊह्य का लक्षण—'यदनिर्दिष्टं बुद्ध्यावगम्यते तदूह्यम्।' अथवा 'ऊह्यं' नाम यदनिबद्धं ग्रन्थे प्रज्ञया तर्क्यत्वेनोपदिश्यते।' अथवा "यत् भिषजा स्वप्रज्ञयाऽनुक्तमपि व्यवस्थाप्यते तदूह्यम्।"

अर्थात्—जो बात कही न गई हो और उसे बुद्धि द्वारा तर्क करनी हो उसे 'ऊह्य' कहते हैं। जैसे च० वि० अ० ८ में कहा है—'परिसंख्यातमपि यद्द्रव्य-मयौगिकं मन्येत तत्तदपकर्षयेत्।" यहाँ अयौगिक द्रव्य ऊह्य है। क्योंकि अयौगिक द्रव्य यहाँ नहीं बतलाये गये हैं। वैद्य को अपनी बुद्धि से उन्हें तर्कणा (खोज) करनी है।

(२९) समुच्चय का लक्षण—'इदंचेदं चेति समुच्चयः' अथवा 'एकस्मिन्विहिते तदविरोधेन तत्रैव द्वितीयस्य विधानं समुच्चयः'।

अर्थात्—वह और यह इस प्रकार कहना समुच्चय कहलाता है। जैसे वमन, विरेचन, स्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन कर्म है। अथवा च० इ० स्थान अ० १ में 'इह खलु वर्णश्च रसश्च स्वरश्च गन्धश्च इत्यादि द्वारा समुच्चय किया गया है।

(३०) निदर्शन का लक्षण—'दृष्टान्तव्यक्तिर्निदर्शनम्।' अथवा 'मूर्ख-विदूषां बुद्धिसाम्यविषयो दृष्टान्तः।' अथवा—'साध्यस्यैकदेशो दृष्टान्तो निदर्शनम्।'

अर्थात्—निदर्शन दृष्टान्त को कहते हैं। दृष्टान्त लोक-प्रसिद्ध होता और वह मूर्ख तथा विद्वान् दोनों के लिये एक-सा बुद्धिगम्य होता है। दृष्टान्त का लक्षण और उदाहरण च० वि० अ० ८ में कहा है कि—

"दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यम्। यो वर्ण्यं वर्ण्यते यथा—अग्निरुष्णो द्रवमुदकं स्थिरा पृथिवी आदित्यः प्रकाशक इति। यथा वा आदित्यः प्रकाशकस्तथा सांख्यवचनं प्रकाशकमिति।" अथवा—"दृष्टान्तेनार्थः प्रसाध्यते यत्र तन्निदर्शनम्। यथाग्निर्वायुना सहितः कोष्ठे वृद्धिं गच्छति तथा वातपित्तकफदुष्टो व्रणं इति।" (सुश्रुत)

अर्थात्—जब किसी अर्थ (विषय) को दृष्टान्तों (उदाहरणों) से सिद्ध किया जाता है तब उसे 'निदर्शन' कहते हैं। जैसे—कहा है कि जिस प्रकार अग्नि वायु के साथ कोष्ठ में वृद्धि को प्राप्त होती है वैसे ही वात, पित्त, कफ से दुष्ट व्रण भी वृद्धि को प्राप्त होते हैं; यह 'निदर्शन' है।

(३१) निर्वचन का लक्षण—"निश्चितं वचनं निर्वचनम् ।" (सुश्रुत) । अथवा 'निर्वचनं निरुक्तिः' अथवा—"संज्ञयोक्तस्य तदर्थेन योजनं निर्वचनम् ।" अथवा—"निर्वचनंनाम पण्डितबुद्धिगम्यो दृष्टान्तः ।"

अर्थात्—निश्चय कथन को 'निर्वचन' कहते हैं। संज्ञा रूप में कहे हुए वचन को उसके अर्थ से योजित करना निर्वचन कहलाता है। इसको निरुक्ति भी कहते हैं। जैसे 'विसर्प' का निर्वचन करते हुए आचार्य ने कहा है "विविधं सर्प यतोति विसर्पस्तेन सः स्मृतः।" इत्यादि। अर्थात्—वह दृष्टान्त जो पण्डित ही समझ सकें निर्वचन कहलाता है।

(३२) सन्नियोग का लक्षण—"इदमेव कर्तव्यमिति नियोगः" अथवा—"नियोगोनाम अवश्यानुष्ठेयतया विधानम् ।" यथा—'पथ्यमेव भोक्तव्यम् ।' (सुश्रुत) ।

अर्थात्—ऐसा ही करना चाहिये इस प्रकार का अनुष्ठेय (कर्तव्य) विधान को 'नियोग' कहते हैं। जैसे—'पथ्य ही भोजन करना चाहिये' यह नियोग है। तथा च० सू० अ० १४ में कहा है—"न त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि पिण्डिकैषा विमोक्तव्या" इत्यादि।

(३३) विकल्प का लक्षण—'इदं वा इदं वेति विकल्पः ।' अथवा—'पाक्षिकाभिधानं विकल्पः' अथवा—'क्रमेण यौगपद्येन वा सम्भविनां पक्षानां कीर्तनम् ।' यथा—"रसौदनः सघृता यवागूर्वा ।" (सुश्रुत) ।

अर्थात्—जिसमें यह अथवा यह इस प्रकार का पाक्षिक उक्ति हो उसे 'विकल्प' कहते हैं। जैसे—रसौदन अथवा घृतसहित यवागू का सेवन करें। इसी प्रकार 'सारोदकं वा कुशोदकं वा इत्यादि।

(३४) प्रत्युत्सार का लक्षण—'प्रत्युत्सारोनाम उपपत्या परमत निवारणम् ।'

अर्थात्—युक्ति से दूसरे के मत का निवारण करना 'प्रत्युत्सार' कहलाता है। जैसे च० सू० अ० २५ में शरलोमा आदि के वचनों का युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है।

(३५) उद्धार का लक्षण—'उद्धारोनाम परपक्षदूषणंकृत्वा स्वपक्षोद्धरणम् ।' अथवा—'उद्धारोनाम यच्छास्त्रे चोक्तस्य समाधानम् ।'

अर्थात्—दूसरे का प्रतिवादी के पक्ष में दोष दिखाकर अपने पक्ष का समाधान करना 'उद्धार' कहलाता है। अथवा शास्त्र में विधेय के समाधान को 'उद्धार' कहते हैं। जैसे—च० सू० अ० २५ में विवाद करते हुए ऋषियों के पक्षों में 'तत्त्वं हि दुष्प्रापं' येषां इत्यादि से दोष दिखाकर 'येषामेव हि भावनानां' इत्यादि द्वारा समाधानात्मक तत्त्व बतलाया गया है।

(३६) संभव का लक्षण––"यद्यस्मिन्नुपपद्यते स तस्य संभवः।" अथवा––"किमप्यन्यत्रादर्शनात् येन नियमेन स्थाप्यते स सम्भवः।"

अर्थात्––जो जिसमें सङ्गत होता है वह उसका संभव कहलाता है। जैसे पिप्लु, व्यङ्ग, निलिका आदि रोग मुख में होते हैं। अथवा गर्भ के जैसे छः धातु (पञ्च महाभूत और चेतन) संभव है। अथवा कोई बात जो अन्यत्र न देखी जाय उसकी जिस नियम द्वारा स्थापना होती है उसे 'संभव' कहते हैं।

उपसंहार

भट्टार हरिचन्द्र ने इन उपर्युक्त छत्तीस तन्त्रयुक्तियों के अतिरिक्त चार युक्तियाँ और मानी हैं। जिनके नाम (१) **परिप्रश्न,** (२) **व्याकरण,** (३) **व्युत्क्रान्ताभिधान** और (४) **हेतु** हैं। परन्तु इनका अन्तर्भाव उक्त तन्त्रयुक्तियों में ही हो जाता है जैसे––परिप्रश्न का उद्देश्य में, व्याकरण का व्याख्यान में, व्युत्क्रान्ताभिधान का निर्देश में और हेतु से जो प्रत्यक्ष आदि प्रभाव कहे हैं उनका हेतु में चक्रपाणि दत्त ने अन्तर्भाव कर दिया है।

अधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्त्या विनाभिषक्।
नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान्भाग्यक्षयं तथा॥

अर्थात्––शास्त्रों का अध्ययन करता हुआ भी वैद्य तन्त्रयुक्तियों के बिना शास्त्र के तत्त्व को नहीं समझ पाता। जैसे––भाग्य के क्षीण होने पर अर्थ (धन वा ऐश्वर्य) की प्राप्ति नहीं होती। अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य उद्यम करता हुआ भी भाग्यहीन होने से अर्थ-प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार तन्त्र-युक्तिहीन वैद्य अर्थात् जिस वैद्य को तन्त्रयुक्ति का ज्ञान नहीं है वह शास्त्र के मर्म को नहीं समझ पाता।

दुर्गृहीतं क्षिणोत्येवं शास्त्रं शस्त्रमिवाबुधम्।
सुगृहीतं तदेवज्ञं शास्त्रं शस्त्रं च रक्षति॥

––च० सि० अ० १२

अर्थात्––ठीक प्रकार से न समझा हुआ शास्त्र, ठीक प्रकार से न पकड़े हुए शस्त्र के समान हानिकारक अथवा घातक होता है और ठीक प्रकार से समझा हुआ (सुगृहीत) शास्त्र अच्छी प्रकार से पकड़े हुए शस्त्र के समान ज्ञानी (शास्त्रज्ञ और शस्त्रज्ञ दोनों) की रक्षा करता है।

वैद्यनाथ आयुर्वेदीय प्रकाशन

यह कारखाना केवल औषधि-निर्माता ही नहीं है, बल्कि शुद्ध अर्थ में यह एक आयुर्वेदीय संस्था है। इसका मुख्य उद्देश्य है भारतीय चिकित्सा-पद्धति—आयुर्वेद का प्रतिसंस्कार और उसके स्वाभाविक मानव-कल्याणकारी गुणों, उसकी विशेषताओं और चिकित्सा-प्रणाली की श्रेष्ठता की जानकारी जनता को करा देना। औषध और ग्रन्थ, दोनों इसके साधन हैं। इसलिये एक ओर जहाँ यह उत्तमोत्तम औषध-निर्माण द्वारा आयुर्वेद की विशेषता को प्रमाणित करने की चेष्टा करता है, वहीं दूसरी ओर इसके उत्तमोत्तम और प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशन का समुचित प्रबन्ध भी करता है। वैद्यनाथ-प्रकाशन के उत्तम ग्रन्थों की प्रशंसा मुक्तकंठ से समस्त देश की विद्वान् मण्डली ने की है। राजकीय शिक्षा-संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों ने इसके अनेक ग्रन्थों को अपने पाठ्यक्रम की पुस्तकों में प्रमुख स्थान दिया है और चूँकि आयुर्वेदीय साहित्य का प्रचार-प्रसार करना वैद्यनाथ आयुर्वेदीय प्रकाशन का मूल सिद्धान्त रहा है, अतः पुस्तकों के मूल्य-निर्धारण में सर्वसाधारण की क्रय-शक्ति का पूरा विचार रखकर इन्हें लागत मात्र कीमत पर बेचने का प्रबन्ध होता है। यही कारण है कि वैद्यनाथ-प्रकाशन से निकली हुई उत्तम आयुर्वेदीय पुस्तकों का आज घर-घर में प्रचार है। हमारे **आरोग्य-प्रकाश** को तो जनता ने इतना पसन्द किया है कि उसके १५ संस्करणों में डेढ़ लाख प्रतियाँ छप कर हाथों-हाथ बिक चुकी हैं। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों के भी कई-कई संस्करण छप चुके हैं।

अष्टांग-संग्रह (सूत्रस्थान)—सर्वाङ्ग - सुन्दर - व्याख्या - सहित **व्याख्याकार—वैद्य पं० लालचन्द्र शास्त्री**। श्रीमद्वाग्भट्टाचार्य विरचित 'अष्टांग-संग्रह' आयुर्वेद के प्राचीन संहिताओं में सर्वोत्कृष्ट और प्रामाणिक ग्रंथ है। इसमें सूत्र-स्थान बहुत महत्वपूर्ण है, इसीलिये सूत्रस्थानेतु वाग्भटः यह सदुक्ति वैद्य-विद्वानों के बीच प्रचलित है। सूत्रस्थान में कुल ४० अध्याय हैं। इन अध्यायों में जो विषय प्रतिपादित हुए हैं, वे काय चिकित्सकों की जानकारी के लिये अत्यावश्यक एवं उपयोगी हैं।

आरोग्य-प्रकाश—(आरोग्य, स्वच्छता और चिकित्सा पर सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ) श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लिमिटेड के संस्थापक, **वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा, वैद्यशास्त्री** ने बड़े परिश्रम से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य, समय पर, हजारों रुपये का काम देता है।

व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, सदाचार, उत्तम विचार आदि पूर्वार्द्ध के विषयों को पढ़कर और तदनुसार चलकर सदा बीमार रहनेवाला व्यक्ति भी बिना दवा के नीरोग (तन्दुरुस्त) हो जाता है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों की उत्पत्ति, कारण, निदान, रोग के लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि इस तरह समझाकर लिखे गये हैं कि इसके द्वारा विद्वान् से लेकर साधारण पढ़े-लिखे, दोनों समान रूप से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे लिखे गये हैं, वे बहुत बार के परीक्षित, कभी विफल न होनेवाले एवं शास्त्रानुमोदित हैं। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है; क्योंकि लेखक इस विषय के स्वयं निर्णयात्मक अधिकारी हैं। अति शीघ्र ही इस पुस्तक का सोलहवाँ संस्करण प्रकाशित होने जा रहा है। संस्करणों की इस सूचना से प्रस्तुत पुस्तक की लोकप्रियता और उपयोगिता स्पष्ट मालूम होती है। इसलिये यदि यह कहा जाय कि हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है, तो अनुचित न होगा।

आरोग्य-प्रकाश—(मराठी संस्करण)—श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के प्रबन्ध निर्देशक वैद्य रामनारायण शर्मा द्वारा लिखित ग्रन्थरत्न का महाराष्ट्र की जनता भी लाभ ले सके इस उद्देश्य से भवन ने इस ग्रन्थ का मराठी संस्करण छपवाकर प्रस्तुत किया है। यह मराठी संस्करण भी हिन्दी संस्करण की भाँति सचित्र है।

आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर—(सचित्र, रायल अठपेजी, विलायती पेपर) लेखक : वैद्य रणजितराय देसाई,-प्रिन्सिपल, आयुर्वेद-महाविद्यालय, सूरत। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लिमिटेड द्वारा प्रकाशित "शरीर-क्रिया-विज्ञान" का देश में सर्वत्र ही समादर हुआ था और हिन्दुस्तान के प्रायः समग्र आयुर्वेदीय कॉलेजों के पाठ्य-क्रम में वह पुस्तक नियत हो गयी थी। उसी ग्रन्थ का यह संशोधित और परिवर्द्धित तृतीय संस्करण है।

आयुर्वेद की इस पुनरुत्थान-वेला में, वैद्य रणजितराय, जो स्तुत्य और ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य कर रहे हैं, उसे आज आयुर्वेद-जगत् में कौन नहीं जानता ? आयुर्वेद के संशोधन को दृष्टि में रख कर उन्होंने जो अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, उन्हीं में से एक ग्रन्थ यह 'आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर' भी है।

प्रस्तुत संस्करण के पाठ्य-विषयों में तो पहले की अपेक्षा अनेक परिवर्तन किये ही गये हैं; इसमें अनेक एकरंगे चित्रों की संख्या में वृद्धि कर, विषय को अधिक सुबोध बनाया गया है एवं पुस्तक की उपयोगिता में और भी अधिक वृद्धि कर दी गयी है।

आयुर्वेद सार-संग्रह—(**तृतीय संस्करण**) राष्ट्रभाषा में ऐसी आयुर्वेदीय पुस्तकों की बहुत कमी थी, जिनमें रोग-विचार के साथ-साथ चिकित्सा, औषध-निर्माण, अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का विवरण समझाकर सरल भाषा में दिया गया हो। इससे सर्वसाधारण पाठकों के सामने बहुत दिक्कतें आती रहती थीं। प्रस्तुत पुस्तक में आयुर्वेदीय साहित्य की इसी कमी को दूर करने का सफल प्रयत्न किया गया है। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० द्वारा बनायी जानेवाली सभी दवाओं की निर्माण-विधि तथा उनके गुण-धर्म और प्रयोग-विधि के साथ सभी वैद्योपयोगी बातों का सविस्तार वर्णन सरल हिन्दी भाषा में किया गया है। रस-रसायन, अर्क आदि बनाने के यन्त्रों के चित्र भी दिये गये हैं, जिनके देखने से औषध-निर्माताओं को काफी सुविधा होगी।

आयुर्वेदीय व्याधि-विज्ञान (**पूर्वार्द्ध**)—**लेखक : आयुर्वेद-मार्त्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई।** किसी रोग की चिकित्सा के पूर्व रोग के निदान का ज्ञान होना परमावश्यक है। रोग के सम्यक् निर्णय के बिना रोगी की चिकित्सा सफल नहीं हो सकती। इसलिये व्याधि-विज्ञान (निदान-रोग-विनिश्चय) आयुर्वेद के प्रधान विषयों में सम्मिलित एक उपयोगी विषय है। इस ग्रन्थ में व्याधि-विज्ञान के साधनों का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। व्याधियों के सम्बन्ध में सभी ज्ञातव्य बातों का इस ग्रन्थ में वर्णन है। यह ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभाजित है, जिन्हें अध्ययन कर लेने के बाद निदान-सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य सिद्धान्त हस्तामलकवत् प्रतिभात हो जाते हैं। आयुर्वेद-प्रेमी विद्वानों, वैद्यों और विद्यार्थियों सभी के लिये यह ग्रन्थ उपयोगी है।

आयुर्वेदीय व्याधि-विज्ञान (**उत्तरार्ध**)—**लेखक : आयुर्वेद-मार्त्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य।** यह ग्रन्थ उपर्युक्त ग्रन्थ का उत्तरार्ध है। इसमें ज्वर, महास्रोतगत रोग, उरोगत दोग, रक्तपित्त रोग, पाण्डु रोग, शोथ व्रण, विसर्प, वृद्धि, मग्ननिदान, गलगण्ड, गण्डमाला, कुष्ठ आदि १५ अध्याय हैं।

आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान—**लेखक : वैद्य रणजितराय देसाई, वाइस-प्रिन्सिपल, आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत। आयुर्वेदीय 'पदार्थ-विज्ञान'** में अन्य दर्शन ग्रन्थों से क्या विशेषता है और क्यों है, इस पर प्रकाश डालते हुए इस ग्रन्थ में आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान के सभी विषय सरल भाषा में समझाये गये हैं।

आधुनिक अन्वेषित मूल तत्त्वों के साथ आयुर्वेदोक्त तत्त्वों का समन्वय करने के लिए किस दृष्टि से प्रयास होना चाहिए, इस पर विद्वान् लेखक ने यथास्थान स्वमत प्रकाशित किया है। आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान अन्य सभी आयुर्वेदीय

विषयों का आधारभूत है। अतः इसका अध्यापन किस शैली से होना चाहिए, इस बात का विशद विवेचन करते हुए विषय को नया ही रूप देने का सफल प्रयास किया गया है।

आयुर्वेदीय हितोपदेश—**लेखक : वैद्य रणजितराय देसाई।** आयुर्वेद के रहस्य-बोधन के लिये संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है। प्रायः आयुर्वेदीय पाठ्य-क्रम की प्रारम्भिक परीक्षाओं में संस्कृत भी एक अनिवार्य विषय रहता है, परन्तु इसका अध्ययन-अध्यापन संस्कृत-साहित्य के पाठ्य-ग्रन्थ-हितोपदेश, पंचतन्त्र प्रभृति आयुर्वेदेतर विषयों के रूप में होता है। किन्तु यह प्रचलित पद्धति आयुर्वेदीय अध्ययन-अध्यापन के लिये पूर्ण समीचीन प्रतीत नहीं होती। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर आयुर्वेदीय अध्ययन-अध्यापन के कार्य में दक्ष वैद्य रणजितराय ने **'आयुर्वेदीय हितोपदेश'** नाम की इस पुस्तक का प्रणयन किया है। वैद्य रणजितराय के 'आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर' तथा 'आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान' नामक दो ग्रन्थों का जिन्होंने अवलोकन किया है, उन्हें लेखक की लेखन-शैली की विशेषताओं का कोई विशेष परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। इस ग्रन्थ में मूल वचनों का हिन्दी-अनुवाद तथा नवीन विचारों का समन्वयात्मक विवेचन भी किया गया है। आयुर्वेद के अध्यापकों और विद्यार्थियों को इस ग्रन्थ की एक-एक प्रति अवश्य अपने पास रखनी चाहिए।

उपचार-पद्धति—**(पंचम संस्करण)** सर्वसाधारण गृहस्थ के सैकड़ों रुपये प्रतिवर्ष बच सकते हैं, यदि उन्हें उपचार और पथ्य का साधारण ज्ञान भी हो जाय। इसी लक्ष्य को सम्मुख रख कर इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है। इसमें रोगियों की परिचर्या का विवेचन दिया गया है।

किशोर-रक्षा और ब्रह्मचर्य—किशोर बालकों और तरुणों को कुटेव-जन्य व्याधियों से बचाने का इस पुस्तक में सफल प्रयास किया गया है।

त्रिदोष-तत्त्व-विमर्श—**लेखक : आयुर्वेद-बृहस्पति वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य।** इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के आधारभूत त्रिदोष-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन विधिवत् किया गया है। मानव-शरीर के अनेकानेक द्रव्यों में वात-पित्त-कफ प्रधान हैं। इसी तथ्य को केन्द्रित कर विद्वान् लेखक ने त्रिदोषतत्त्व के विभिन्न रूपों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इससे ग्रन्थ की शास्त्रीयता निखर गयी है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन के बाद त्रिदोष-तत्त्व और पंच-महाभूत का ज्ञान सरलता से हो जाता है। आयुर्वेद के जिज्ञासुओं के लिए पुस्तक अत्यन्त उपादेय है।

द्रव्यगुण विज्ञानम् पूर्वार्धः—(तीसरा संस्करण)—लेखक : आयुर्वेद-मार्तण्ड, वैद्यवाचस्पति वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में सूत्र-रूप में यत्र-तत्र बिखरे हुए द्रव्यगुण-विषय को आयुर्वेद-तत्त्ववेत्ता पूज्य आचार्यजी ने बड़े परिश्रम से द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव आदि विषयों पर पृथक्-पृथक् पाँच अध्यायों में बहुत उत्तमतापूर्वक संकलित कर सरल संस्कृत तथा हिन्दी-भाषा में विवेचन किया है, जो आयुर्वेद-विज्ञान की प्रगति के लिए बहुत उपयोगी है। स्नातकोत्तर शिक्षण के लिए भी यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है।

निदान-चिकित्सा-हस्तामल—लेखक : वैद्य रणजितराय देसाई। विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए यह पुस्तक परमोपयोगी है।

पदार्थ-विज्ञान—(देशभर की आयुर्वेदीय संस्थाओं एवं परीक्षा-समितियों के पाठ्यक्रम में स्वीकृत) लेखक : आयुर्वेद-बृहस्पति पं० रामरक्ष पाठक, भू० पू० प्रिन्सिपल, अ० शि० आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पदार्थ का तुलनात्मक विवेचन किया गया है और द्वितीय अध्याय में आनेवाले पदार्थों का सुन्दर विवेचन हुआ है। तृतीय अध्याय में आयुर्वेद के मूलभूत त्रिदोष-सिद्धान्त की जननी प्रकृति तथा उससे उद्भूत तत्त्वों की छान-बीन की गयी है। चतुर्थ अध्याय में आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है और यह दर्शाया गया है कि पूर्वजन्मकृत पापों का परिणाम भोगने के लिये किस प्रकार सगुण आत्मा भिन्न-भिन्न योनि में प्रवेश कर अपने कर्मों का फल भोगा करती है।

पारिषद्य शब्दार्थ शारीरम्—सम्पादक—आयुर्वेदाचार्य पं० दामोदर शर्मा, गौड़। भूमिका लेखक : आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी। यह ग्रन्थ आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन के कार्य में लगे लोगों के लिये परम-उपयोगी है।

वनौषधि शतक—लेखक : प्राणाचार्य वैद्य पं० दुर्गाप्रसाद शर्मा। इस ग्रन्थ में ऐसी सौ वनौषधियों का विशद परिचय रंगीन चित्रों के साथ प्रस्तुत किया है, जिनके शुद्ध और उचित उपयोग द्वारा ही औषधि पूर्ण गुणकारी बन सकती है। अतएव, यह पुस्तक आयुर्वेद के विद्वानों, छात्रों, चिकित्सकों एवं आयुर्वेद से प्रेम रखनेवाले साधारण जनों के लिए परमोपयोगी है।

मानस-रोग-विज्ञान—इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक स्वर्गीय डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठक ने बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कॉलेज के अध्यक्ष एवं प्रधानाध्यापक के रूप में काफी कीर्ति प्राप्त की थी और एक

उच्चकोटि के विचारक और उद्भट मनीषी के रूप में आप सम्पूर्ण भारत में सुप्रसिद्ध हो गये थे।

इस ग्रन्थ की रूपरेखा पूज्यपाद यादवजी ने तैयार की थी और इस विषय पर आयुर्वेदीय साहित्य में खटकनेवाली जबर्दस्त कमी को पूरा करने के लिये डॉ० पाठक जैसे अनुभवी विद्वान् वैद्य को यह ग्रन्थ लिखने के लिए उत्साहित किया था।

आज के युग में, जब कि काम-क्रोध आदि तथा मिरगी (अपस्मार), उन्माद, न्यूरेस्थिनिया, मानसिक अस्थिरता, पागलपन, हिस्टीरिया आदि मानसिक रोग मनुष्य जाति को बुरी तरह त्रस्त कर रहे हैं, यह पुस्तक एक नवीन सन्देश देने वाली है। अंग्रेजी भाषा के ज्ञाताओं का कहना है कि मानस-शास्त्र जैसा अंग्रेजी में है, वैसा अन्यत्र नहीं है। किन्तु इस पुस्तक के अवलोकन से उनके भ्रम का निवारण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

मोटापन कम करने का उपाय——लेखक : श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी। ग्रन्थ परम उपयोगी एवं मननीय है।

यूनानी चिकित्सा-सार——लेखक : हकीम डॉ० दलजीतसिंह। इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने रोगों के निदान तथा चिकित्सा को सरल हिन्दी भाषा में लिखकर सर्वसाधारण जनता तथा साधारण पढ़े-लिखे वैद्यों तक के लिए सुलभ बना दिया है।

यह सुविदित है कि यूनानी दवा के नुस्खे बहुत सस्ते तथा आशुफलदायक साबित होते हैं। विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक में ऐसे अनेक योगों का उल्लेख कर पुस्तक की उपयोगिता अत्यधिक बढ़ा दी है।

यूनानी सिद्धयोग-संग्रह——यूनानी चिकित्सा-पद्धति का महत्त्व सभी जानते हैं। यह आयुर्वेद के बहुत समीप है। इसके नुस्खे, आयुर्वेदीय नुस्खों की भाँति ही, लाभदायक और तुरन्त फायदा करनेवाले तथा सस्ते होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उपर्युक्त लेखक द्वारा ही लिखवाकर प्रकशित किया गया है। चिकित्सकों तथा सर्वसाधारण के लिये यह बहुत उपयोगी पुस्तक है।

यौवन विज्ञान पर नया प्रकाश——(लेखक : डॉ० लक्ष्मीनारायण शर्मा, एम. ए. एम. एस., आर. एम. पी., भिषक्रत्न) विद्वान् लेखक ने प्राचीन व आधुनिक लेखकों के पूर्वाग्रहों से हटकर स्वतन्त्र शैली द्वारा वैज्ञानिक एवं सरल ढंग से इस विषय को समझाने का पूर्ण प्रयास किया है। यह ग्रन्थ युवक एवं युवतियों के "यौवन विज्ञान" पर निश्चित ही "नया प्रकाश" डालनेवाला साबित होगा; साथ ही अभिभावकों के लिए भी माननीय होगा।

रस भस्म सेवन विधि—(हिन्दी) भवन द्वारा निर्मित्त रस, भस्म, लौह, मण्डूर, बटी, पर्पटी एवं गुग्गुलु का सेवन करने की विधि इस छोटी सी किन्तु अतीव उपयोगी पुस्तक में बहुत ही सरल भाषा में समझाई गई है। सेवन विधि के अलावा औषधि का गुण-पथ्य आदि भी दिये गये हैं।

शार्ङ्गधर-संहिता—टीकाकार : आचार्य पं० राधाकृष्ण पराशर। शार्ङ्गधर-संहिता की अनेक टीकाओं के बावजूद इस टीका में पाठकों को आयुर्वेद का रहस्य नये ढंग से समझाकर लिखा गया है।

सिद्धयोग-संग्रह—(चतुर्थ संस्करण) आयुर्वेदोद्धारक वैद्यवाचस्पति श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य के करकमलों से लिखा हुआ यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को पढ़ने से प्रत्येक वैद्य को लाभ होगा, इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है।

संक्रामक रोग-विज्ञान—लेखक : कविराज बालकराम शुक्ल, आयुर्वेद-शास्त्राचार्य। आज जब कि देश में मलेरिया, कुष्ठ, यक्ष्मा, हैजा, प्लेग आदि जैसे भयंकर रोगों से हजारों-लाखों मनुष्य आक्रान्त हो रहे हैं तो यह आवश्यक है कि संक्रामक रोगों से बचने का उपाय तथा रोग-परीक्षा, निदान-चिकित्सा आदि से भारतीय जनता को पूर्ण परिचित करा दिया जाय, जिससे प्रथम तो यह भयंकर रोग होने ही न पावे और यदि हो भी जाय, तो उसका उचित प्रतिकार किया जा सके।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं विषयों का सरल हिन्दी भाषा में वर्णन कर इसे साधारणोपयोगी बना दिया गया है।

यादव स्मृति ग्रन्थ

(यादवाभिनन्दन ग्रन्थ सहित)

सम्पादक

वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा आयुर्वेदोपाध्याय

इसके पूर्वार्द्ध में ऋषिकल्प स्व० यादवजी त्रिकमजी आचार्य का जीवनचरित्र, उनके विशेष उपयोगी निबन्ध, भाषण, लेख आदि जो अतीव महत्वपूर्ण ज्ञानवर्धक सामग्री का संकलन किया गया है जो कि विशृंखलित हुई आयुर्वेद की परम्परा को पुनः स्थापित करती है एवं जिसके पढ़ने से आयुर्वेद का उत्कृष्ट स्वरूप सामने आता है। केवल स्तुतिपरक नहीं है। उत्तरार्द्ध में आयुर्वेद, दक्षिण की सिद्ध चिकित्सा, यूनानी चिकित्सा के अनुभवी विशेषज्ञों द्वारा संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में लिखे गये उच्चकोटि के ज्ञानवर्द्धक अतीव महत्वपूर्ण लेखों का संकलन किया गया है जिनके अध्ययन से आयुर्वेद शास्त्र की अति महत्वता ही नहीं बल्कि पूर्ण वैज्ञानिकता भी सिद्ध होती है।

रायल अठपेजी साईज १००० पृष्ठ के सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य केवल ३१.००